सचित्र महाभारत
भाषा-टीका

पंचम अङ्क ।

[वनपर्व अ० ११० से २१५ तक]

जिसका सम्पादन और संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी

व्याकरण-वेदान्ताचार्य साहित्य-मीमांसातीर्थ

प्रधानाध्यापक ओरियण्टल कालेज, लाहौर

ने किया है ।

जिसकी टीका

काशी निवासी विद्वद्वर श्रीराम शास्त्री तैलङ्ग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है ।

प्रकाशक

श्री महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस लाहौर ।

प्रथमवार] सम्वत् १९९२ मूल्य ६)

चन्द्रीराम शर्मा के प्रबन्ध से श्री महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस लाहौर में मुद्रित हुआ ।

वनपर्व।

विषयानुक्रमणिका।



अथ दशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ १ ॥
पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम् ।
अचिन्त्यानद्भुतान्भावान्ददर्श सुबहून्नृपः ॥ २ ॥
वातावद्रा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः ।
नाऽशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः ॥ ३ ॥
वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति ।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते ॥ ४ ॥
सायं प्रातश्च भगवान्दृश्यते हव्यवाहनः ।
मक्षिकाश्चाऽदशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः ॥ ५ ॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः ।
एवं बहुविधान्भावानद्भुतान्वीक्ष्य पाण्डवः ॥
लोमश पुनरेवाऽथ पर्यपृच्छत्तदद्भुतम् ॥ ६ ॥

लोमश उवाच—यथा श्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन ।

एक सौ दस अध्याय ॥ ११० ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! यहा से चलकर महाराज युधिष्ठिर को क्रमश नन्दा और अपरनन्दा नाम की पाप और भय को हटानेवाली नदिया मिलीं। वहा से दिव्य स्थान हेमकूट पर्वत पर जाकर वे अनेक अचिन्तनीय अद्भुत दृश्य देखने लगे। उस स्थान का वायुमण्डल मेघों को सदा घेरे रहता है। दुबले प्राणी उस पर्वत पर चढ़ नहीं सकते। वहा पर पत्थरों का फर्श सा बना हुआ है। सर्वदा जल बरसता रहता है। लगातार वेदपाठ का शब्द कानों में गूँजता रहता है। शीतल वायु सदा चला करता है। वेदपाठ का शब्द सुन पड़ते रहने पर भी कोई कहीं नहीं देख पड़ता। नित्य प्रात और साय को वहाँ पर भगवान् अग्नि के दर्शन होते हैं। वहाँ पर जानेवालों को पहले तप में विघ्न करनेवाली मक्खियाँ काट-काट खाती हैं। लोग उनके दु ख से खीझ उठते हैं और उन्हें अपने घरवालों की याद आ जाती है। पाण्डु के पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने उस स्थान पर इन अद्भुत बातों को देखकर महात्मा लोमश से उनका कारण पूछा ॥१।६॥

लोमशजी ने कहा—हे शत्रुदमन ! मैंने पहले इसके सम्बन्ध में जो कुछ सुन रक्खा है सो

तदेकाग्रमना राजन्निबोध गदतो मम ॥ ७ ॥
अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ॥ ८ ॥
स वै संभाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद्गिरिमुवाच ह ।
य इह व्याहरेत्कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा ॥ ९ ॥
वातं चाऽऽहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते ॥ १० ॥
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ।
कृतानि कानिचित्क्रोधात्प्रतिषिद्धानि कानिचित् ११ ॥
नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः ।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ॥ १२ ॥
ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम् ॥ १३ ॥
तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ।
नाऽशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाऽधिरोहितुम् ॥ १४ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः ।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग्भव ॥ १५ ॥

मैं कहता हूँ, चित्त को एकाग्र करके सुनो । हे महाराज ! इस पर्वत पर हजारों वर्ष की परमायुवाले एक महायोगी तपस्वी थे । वे बड़े क्रोधी थे । एक समय कुछ मनुष्य उनके पास पहुँचकर उनसे वार्तालाप करने लगे । तब उन योगी ने कुपित होकर पर्वत से कहा— 'कोई मनुष्य यदि आकर वार्तालाप करे तो तुम उस पर पत्थर बरसाया करो ।" फिर वायु को बुलाकर कहा—"तुम यहाँ किसी प्रकार का शब्द मत किया करो ।" हे धर्मराज ! तब से यहाँ पर यदि कोई बोलता है तो मेघों का गरजना उसे मना करता है ॥७।१०॥

इसी प्रकार उन महर्षि ने कुपित होकर यहाँ किसी-किसी काम की मनाही कर दी और कोई-कोई काम करने की स्वाधीनता दे दी है । महाराज ! मैंने यह भी सुना है कि पहले एक समय देवता नन्दा नदी में स्नान करने आये थे । कुछ लोग देवदर्शन की इच्छा से उनके पास गये । तब इन्द्र आदि देवताओं ने उन्हें देखने की इच्छा न करके इस स्थान को पर्वत से घेरकर अत्यन्त दुर्गम बना दिया । तब से इस पर्वत पर चढ़ना तो दूर रहा, कोई इसे देख भी नहीं सकता । राजन् ! तपस्या किये बिना न कोई इसे देख सकता है और न इस

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान् ।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ १६ ॥
कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम् ।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ॥ १७ ॥
देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत ।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥ १८ ॥
इहाऽऽप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माऽभिहन्यते ।
कुरुश्रेष्ठाऽभिषेकं वै तस्मात्कुरु सहानुजः ॥ १९ ॥
ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि ।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः ।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् २१ ॥
लोमश उवाच—एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चाऽत्र प्रकाशते ॥ २२ ॥
आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः ।
ऋश्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥ २३ ॥

पर कोई यह ही सकता है । अब आप मौन हो जाएं ॥११।१५॥

हे युधिष्ठिर ! उस समय देवताओं ने जो प्रधान प्रधान यज्ञ किये हैं उनके चिन्ह अभी तक यहाँ विद्यमान हैं । देखिए, यहाँ की दूब आदि घास का आकार कुशों के समान देख पड़ता है । यह स्थान यज्ञ की वेदी के समान ज्ञान पड़ता है । इस स्थान के वृक्षों का आकार यज्ञ के यूपों के समान है । देवता और ऋषि अभी तक यहाँ रहते हैं । सायंकाल और प्रातःकाल को उन्हीं के अग्निहोत्र का अग्नि यहाँ पर देख पड़ता है । यहाँ पर स्नान करने से सब पाप छूट जाते हैं । हे कुरुश्रेष्ठ ! आप भाइयों के साथ, यहाँ पर बहती हुई नन्दा नदी में स्नान कीजिए, फिर कौशिकी नदी को जाइएगा । यहाँ विश्वमित्रजी ने स्नान करके घोर तप किया है ॥१६।२०॥

तब राजा युधिष्ठिर भाइयों के साथ नन्दा में स्नान करके पवित्र कौशिकी नदी को गये । लोमश जी ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! यही पवित्र जलवाली देवनदी कौशिकी है । इसमें थोड़ी ही दूर पर महर्षि विश्वमित्र का आश्रम देख पड़ता है । यहीं पर महात्मा काश्यप का पुण्याश्रम है । जितेन्द्रिय, तपोनिष्ठ महर्षि ऋष्यशृङ्ग इनके पुत्र थे । महात्मा ऋष्यशृङ्ग की तपस्या का प्रभाव इस प्र

तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम् ।
अनावृष्ट्यां भयाद्यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥ २४ ॥
मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः ।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराऽद्भुतं महत् ॥ २५ ॥
निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः ।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—ऋश्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः ।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥ २७ ॥
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः ।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥ २८ ॥
कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता ।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥ २९ ॥
लोमपादश्च राजर्षिर्यदाऽश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नाऽवर्षत्पाकशासनः ॥ ३० ॥
एतन्मे भगवन्सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋश्यशृंगस्य चेष्टितम् ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच—विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः ।

था कि अनावृष्टि के समय इन्द्र ने उनसे डरकर जल बरसाया था । वे महातेजस्वी ऋष्यशृङ्ग काश्यप मुनि के वीर्य और मृगी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । ऋष्यशृङ्ग ने लोमपाद राजा के राज्य में अत्यन्त अद्भुत कर्म किये थे । उनके प्रभाव से राज्य में अन्न उत्पन्न हुआ । सूर्य ने जिस तरह सावित्री को दान किया था उसी तरह लोमपाद ने ऋष्यशृङ्ग को शान्ता नाम की अपनी पुत्री विवाह दी ॥२१।२६॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन् ! काश्यप के पुत्र महर्षि ऋष्यशृङ्ग मृगी के गर्भ से किस तरह उत्पन्न हुए ? प्रकृति-विरुद्ध योनि से जन्म लेकर भी वे तपस्या के अधिकारी कैसे हुए ? वृत्रासुर के मारनेवाले इन्द्र ने कैसे बुद्धिमान् बालक ऋष्यशृङ्ग से डरकर जल बरसा दिया ? व्रतधारिणी होकर मृग के आकारवाले ऋष्यशृङ्ग के मन को हरनेवाली शान्ता का रूप कैसा था ? धार्मिकश्रेष्ठ लोमपाद के राज्य में इन्द्र ने जल बरसाना क्यों बन्द कर दिया था ? ॥२७।३०॥

यह सब वृत्तान्त सुनने की मेरी बड़ी अभिलाषा है । आप कृपा करके वर्णन कीजिए । लोमश जी ने कहा—प्रतापी ब्रह्मा के समान तेजस्वी,

अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥ ३२ ॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋश्यशृङ्गः प्रतापवान् ।
महार्हस्य महातेजा बालः स्थविरसंमतः ॥ ३३ ॥
महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः ।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ॥ ३४ ॥
तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम् ।
अप्सूपस्पृशतो राजन्मृगी तच्चाऽपिबत्तदा ॥ ३५ ॥
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाऽभवत्ततः ।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ॥ ३६ ॥
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे ।
अमोघत्वाद्विधेश्चैव भावित्वाद्दैवनिर्मितात् ॥ ३७ ॥
तस्यां मृग्यां समभवत्तस्य पुत्रो महानृषिः ।
ऋश्यशृंगस्तपोनित्यो वन एवाऽभ्यवर्तत ॥ ३८ ॥
तस्यर्षेः शृंगं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ।
तेनर्श्यशृंग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥ ३९ ॥
न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात्तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥ ४० ॥

बड़े सामर्थ्यवान्, निर्मलचित्तवाले ब्रह्मर्षि विभाण्डक के पुत्र प्रतापी ऋष्यशृङ्ग का जन्म जिस तरह हुआ सो मैं कहता हूं, सुनो। महातेजस्वी देव-तुल्य कश्यप के पुत्र विभाण्डक ऋषि बचपन में महाकुण्ड के भीतर रहकर कठोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार बहुत समय बीतने पर एक समय उन्हें उर्वशी देख पड़ी। उर्वशी को देखते ही उनका वीर्य गिर पड़ा। उसी समय उन्होंने जल में गोता लगा लिया। उस समय वहीं पर एक प्यासी मृगी जल पीने को आई थी। पानी के साथ उस वीर्य को भी वह मृगी पी गई। इससे उसके गर्भ रह गया। वह मृगी पहले देवकन्या थी। भगवान् ब्रह्मा ने किसी कारण शाप देकर उससे कहा कि तुम मृगी होकर एक महात्मा ऋषि को उत्पन्न करने के पश्चात् मृगी की योनि से छूट जाओगी। ब्रह्मा का कहा असत्य नहीं हो सकता और होन-हार होने को थी। इसी कारण महात्मा विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृङ्ग मृगी के गर्भ से उत्पन्न हुए। उनके मस्तक पर एक सींग था, इसी कारण वे ऋष्यशृङ्ग कहलाये। महातपस्वी ऋष्यशृङ्ग तपस्या

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यंगानामीश्वरोऽभवत् ॥ ४१ ॥
तेन कामात्कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ॥ ४२ ॥
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥ ४३ ॥
स ब्राह्मणान्पर्यपृच्छत्तपोयुक्तान्मनीषिणः ।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान्पृथिवीपते ॥ ४४ ॥
कथं प्रवर्षेत्पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम् ।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ॥ ४५ ॥
तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह ।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥ ४६ ॥
ऋष्यश्रृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव ।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ॥ ४७ ॥
स चेदवतरेद्राजन्विषयं ते महातपाः ।
सद्यः प्रवर्षेत्पर्जन्य इति मे नाऽत्र संशयः ॥ ४८ ॥

करते हुए वन में ही रहते थे। पिता के सिवा और किसी मनुष्य को कभी उन्होंने देखा नहीं, इसी कारण वे जन्म से ही ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे ॥३९।४०॥

उसी समय महाराज दशरथ के सखा लोमपाद नामक राजा अंग देश के नरेश थे। उन्होंने जान बूझकर ब्राह्मण से असत्य कहा और पुरोहित पर अत्याचार किया। इस कारण ब्राह्मणों ने उनको त्याग दिया। इसी से उनके राज्य में जल बरसाना बन्द करके इन्द्र प्रजा को पीड़ा पहुँचाने लगे। राजन्! जिस उपाय से इन्द्र जल बरसावें उस उपाय के करने में समर्थ ब्राह्मणों को बुलाकर लोमपाद ने कहा—ऐसा उपाय सोचिए जिससे इन्द्र जल बरसावें। राजा की बात सुनकर सब पण्डित अपना-अपना मत प्रकट करने लगे ॥४१।४५॥

उनमें से एक प्रधान मुनि ने कहा—हे राजेन्द्र! आप पर ब्राह्मण लोग कुपित हैं। इस कारण पहले ब्राह्मणों के कोप से छुटकारा पाने का यत्न कीजिए। सरल स्वभाववाले, स्त्री जाति से अपरिचित, सदा वन में रहनेवाले, महातपस्वी ऋष्यशृंग यदि आपके राज्य में आवें तो निस्सन्देह तत्काल इन्द्रदेव जल बरसावेंगे ॥४६।४८॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन्कृत्वा निष्कृतिमात्मनः।
स गत्वा पुनरागच्छत्प्रसन्नेषु द्विजातिषु ॥ ४९ ॥
राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः ।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान्मंत्रकोविदान् ॥ ५० ॥
ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मंत्रनिश्चये ।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाऽच्युतः॥ ५१ ॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः ।
ततश्चाऽऽनाययामास वारमुख्या महीपतिः ॥ ५२ ॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ।
ऋष्यशृंगमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ॥ ५३ ॥
लोभयित्वाऽभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः।
ता राजभय भीताश्च शापभीताश्च योषितः ॥ ५४ ॥
अशक्य मूचुस्तत्कार्यं विवर्णा गतचेतसः ।
तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥
प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५६ ॥

राजन्! पण्डितों के ये वचन सुनकर राजा लोमपाद अपने अपराध को क्षमा कराने के लिए ब्राह्मणों के पास गये। उन्होंने ब्राह्मणों को प्रसन्न कर लिया। फिर वहाँ से वे अपनी नगरी को लौट आये। उनके लौट आने की सूचना पाकर सब प्रजा अत्यन्त आनन्दित हुई। अब अपने घर में पहुँचकर राजा ने पुराने सलाहकार मन्त्रियों को एकान्त में बुलाया। वे उनसे महर्षि ऋष्यशृंग को लाने के बारे में सम्मति करने लगे। सब विषयों को जानने वाले, नीति-निपुण, शास्त्रज्ञ मन्त्रियों के साथ उपाय निश्चित करके राजा ने चतुर वेश्याओं को बुलवाया और कहा—हे वेश्याओ! तुम किसी उपाय से अपने ऊपर विश्वास दिलाकर ऋष्यशृंग ऋषि को मेरे राज्य में ले आओ ॥४९।५३॥

वेश्याओं ने सोचा, राजा की आज्ञा न मानेंगी तो राजदण्ड भोगना पड़ेगा और जो मानेंगी तो ऋषि के शाप का भय है। यों सोचकर वे बहुत ही उदास और अचेत सी हो गईं। [फिर उन्होंने राजा से जाकर यह निवेदन किया कि यह कार्य उनसे न हो सकेगा।] उनमें से एक अधेड़ वेश्या ने राजा से कहा—महाराज! मैं जो-जो वस्तुएँ माँगूँ वह यदि आप मुझे दिला दें तो मैं ऋषिकुमार

ततः शक्ष्याम्यानयितुमृश्यशृङ्गमृषेः सुतम् ।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात्स पार्थिवः ॥ ५७ ॥
धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ।
ततो रूपेण संपन्ना वयसा च महीपते ॥
स्त्रिय आदाय काश्चित्सा जगाम वनमंजसा ॥ ५८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृश्यशृंगोपाख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११०॥

ऋष्यशृंग को यहाँ ले आ सकती हूँ। राजा ने उसकी चाही हुई सब वस्तुएँ उसे देने की आज्ञा की। उसे धन और बहुत से रत्न भी दिये गये। तब वह अधेड़ वेश्या उसी समय कुछ रूपवती नौजवान स्त्रियों को साथ लेकर वन को गई ॥५४।५८॥

वनपर्व का एक सौ दस अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

अथ एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

लोमश उवाच—सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥
नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥
अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

लोमशजी कहते हैं–राजन्! उस वेश्या ने राजा की आज्ञा से उन्हीं के काम के लिए, अपनी बुद्धि के बल से, नाव के ऊपर एक छोटा सा आश्रम बनाया। वेश्या ने उस नाव पर बने अद्भुत आश्रम के आस-पास तरह-तरह के फूलों और फलों के नकली पेड़ और लताएँ लगा दीं जिससे वह सुहावना लगे। विभाण्डक ऋषि के आश्रम से थोड़ी ही दूर पर उसने वह नाव जाकर बाँध दी। अब वह अपने मनुष्यों के द्वारा यह पता लगाने लगी कि विभाण्डक ऋषि किस समय आश्रम से बाहर जाते हैं। जो कुछ करना था सो तो वह सोच ही चुकी थी। जिस समय विभाण्डक ऋषि आश्रम से बाहर गये उसी समय उसने बहुत ही चतुर अपनी कन्या को ऋष्यशृंग ऋषि के पास भेजा ॥ १।५॥

अत्यन्त चतुर वह वेश्या की बेटी आश्रम में गई। उसने ऋषिकुमार के पास जाकर पूछा—मुनिवर! तपस्वी लोग अच्छी तरह से तो हैं? फल-मूल तो अधिकता के साथ तपोवन में पाये जाते

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाऽऽश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥
ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वाऽन्तरंकाश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसंमताम्॥ ५ ॥
सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य सन्निधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

वेश्योवाच—कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद्भवान्रमते चाऽऽश्रमेऽस्मिंस्त्वां वै द्रष्टुं सांप्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥
कच्चित्तपो वर्द्धते तापसानां पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित्त्वया प्रीयते चैव विप्र कच्चित्स्वाध्यायः क्रियते चर्श्यशृङ्ग ॥ ८ ॥

ऋष्यशृंग उवाच-ऋद्धयाभवाज्ज्योतिरिव प्रकाशतेमन्येचाहं त्वामभिवादनीयम्
पाद्यं वै ते संप्रदास्यामि कामाद्यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥
कौश्यां बृस्यामास्व यथोपजोषं कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क्व चाऽऽश्रमस्तव किं नाम चेदं व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत्त्वम् ॥ १० ॥

वेश्योवाच-ममाऽऽश्रमः काश्यपपुत्र रम्यस्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।
तत्र स्वधर्मो नाऽभिवादनं मे न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥ ११ ॥
भवता नाऽभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान्मया ।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन्परिष्वज्यो भवान्मया ॥ १२ ॥

हैं ? इस आश्रम में आप आनन्द में है न ? तपस्वियों के तप की वृद्धि तो हो रही है ? आपके पिता का तेज वैसा ही बना हुआ है न ? आप वेदपाठ करते हुए परम प्रसन्न रहते हैं न ? मैं इस समय आपके दर्शन पाने की इच्छा से यहाँ आया हूँ ॥६।८॥

ऋष्यशृंग ने कहा—हे महाशय ! आप अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे हैं । मैं आपको वन्दनीय समझता हूँ । अतएव अपने धर्म के अनुसार मैं आपको पाद्य, अर्घ्य और फल मूल देता हूँ । आप इस कुशासन पर बिछी हुई मृगछाला पर विराजिए । ब्रह्मन् ! आपका आश्रम कहाँ है ? आप देवता के समान जो व्रत धारण किये हुए हैं उसका नाम क्या है ? ॥९।१०॥

वेश्या की बेटी ने कहा—ब्रह्मन् ! इस तीन योजन चौड़े पर्वत के उस ओर मेरा सुन्दर आश्रम है । प्रणाम लेना या पाद्य-अर्घ्य स्वीकार करना मेरा धर्म नहीं है । मैं आपका वन्दनीय भी नहीं

ऋष्यशृंग उवाच–फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं भल्लातकान्यामलकानि चैव ।
करूषकानींगुदधन्वनानि पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥ १३ ॥
लोमश उवाच–सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य ।
तान्यृश्यशृंगस्य महारसानि भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १४ ॥
ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति ।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १५ ॥
सा कन्दुकेनाऽरमताऽस्य मूले विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिषच्चाऽसकृदृश्यशृङ्गम् ॥ १६ ॥
सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्सुपुष्पितानवनाम्याऽवभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १७ ॥
अथर्श्यशृंगं विकृतं समीक्ष्य पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य ।
अवेक्षमाणा शनकैर्जगाम कृत्वाऽग्निहोत्रस्य तदाऽपदेशम् ॥ १८ ॥
तस्यां गतायां मदनेन मत्तो विचेतनश्चाऽभवदृश्यशृंग.
तामेव भावेन गतेन शून्ये विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १९ ॥

हूँ; आप ही मेरे वन्दनीय हैं । मैं आप ऐसे पुरुषों को गले लगाता हूँ, यही मेरा व्रत है । ऋष्यशृङ्ग ने कहा—आमलक, करूषक, इगुदी. बहेड़े आदि पके हुए ये रक्खे है, इन्हें अपनी रुचि के अनुसार खाइए ॥११-१३॥

लोमशजी कहते हैं—उस वेश्या ने ऋषि के दिये फल-मूल आदि न खाकर अपने पास से उनको अनेक स्वादिष्ट भोजन की वस्तुएं दीं। ऋषिकुमार उन रसीली वस्तुओं को खाकर प्रसन्न हुए । वेश्या ने उनको स्वादिष्ट भोजन, सुगन्धित माला, शरबत आदि उत्तम पीने की वस्तुएँ और विचित्र उज्ज्वल वस्त्र दिये । फिर वह हँसी दिल्लगी करते-करते गेंद लेकर, फल के बोझों से झुकी हुई लता की तरह, हाव-भाव प्रकट करती हुई आश्रम के पास क्रीड़ा करने लगी । कभी वह देह से देह छुआती थी और कभी उनको कसकर छाती से लगा लेती थी । कभी सर्ज, अशोक आदि फूले हुए वृक्षों की डालियां झुकाकर, तोड़कर, मस्ती के साथ लज्जा का भाव दिखाती हुई ऋषिकुमार का मन हरने लगी । ऋष्यशृङ्ग के चित्त में काम का विकार उत्पन्न हुआ देखकर वह बार बार उन्हें गले लगाकर और कटाक्ष के पैने बाण मारकर अग्निहोत्र करने के बहाने वहां से चल दी ॥१४-१८॥

वहां से वेश्या के चले जाने पर ऋष्यशृङ्ग कामदेव से पीड़ित और अचेत से हो गये । लम्बी-लम्बी सांस लेते हुए वे बारम्बार उसी का ध्यान

ततो मुहूर्तान्द्धरिपिंगलाक्षः प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान्वृत्तसमाधियुक्तो विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥ २० ॥
सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २१ ॥
न कल्प्यन्ते समिधः किन्नु तात कच्चिद्धुतं चाऽग्निहोत्रं त्वयाऽद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः कच्चित्सवत्साऽद्य कृता त्वया च ॥ २२ ॥
न वै यथापूर्वमिवाऽसि पुत्र चिन्तापरश्चाऽसि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाऽद्य किं नु पृच्छामि त्वां क इहाऽद्यागतोऽभूत् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृश्यशृंगोपाख्याने एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

करने लगे । इसी समय सिंह के समान पिङ्गल रङ्ग की दृष्टिवाले, ध्यानपरायण विभाण्डक ऋषि आश्रम में आ गये । उनकी देह में रोम ही रोम थे । पुत्र के पास पहुंचकर उन्होंने देखा, उसके चित्त की गति बिलकुल विपरीत देख पड़ रही है । वह बहुत ही दीन भाव से बैठा हुआ बारम्बार लम्बी सांसें लेता और ऊपर को देखता है । उसकी यह दशा देखकर मुनिवर ने पूछा—बेटा, आज क्या कारण है कि तुम अब तक [कुश और] लकड़ियां नहीं लाये ? अग्निहोत्र अभी तक क्यों नहीं किया ? स्रुक् स्रुव आदि हवन के पात्रों को अभी तक क्यों नहीं धोया ? होम की गाय को अभी तक क्यों नहीं दुहा ? पहले तुम्हारी जैसी अवस्था थी वैसी इस समय नहीं देख पड़ती । तुम क्यों चिन्ता से पीड़ित, अचेत और अत्यन्त दीन देख पड़ रहे हो ? इसी से पूछता हूं कि आज क्या कोई यहां आया था ॥१९।२३॥

वनपर्व का एक सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ ॥१११॥

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

ऋष्यशृंग उवाच इहाऽऽगतो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

एक सौ बारह अध्याय ॥ ११२ ॥

ऋष्यशृङ्ग ने कहा—हे पिताजी ! आज यहां देवकुमार के तुल्य शोभावाले, सुनहरे रङ्ग के, कमल-नयन एक मझोले आकार के जटाधारी ब्रह्मचारी आये थे । वे सूर्य के समान तेजस्वी और बहुत ही सुन्दर थे । उनकी लम्बी-लम्बी काली जटाएं सुनहरी डोरियों से बंधी हुई थीं । उनके नेत्र बड़े मनोहर और काले थे । उनका कण्ठ आकाश में बिजली के समान चमक रहा था ।

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः सुश्लक्ष्णकृष्णाक्षिरतीवगौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥
आधाररूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवाऽन्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठादजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥
विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे कटिश्च तस्याऽतिकृतप्रमाणा ।
तथाऽस्य चीरान्तरतः प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥
अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकूजितं पादयोः संप्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत्स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥
विचेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः ।
चीराणि तस्याऽद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥
वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी तां श्रृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥ ७ ॥
यथा वनं माधवमासि मध्ये समीरितं श्वसनेनेव भाति ।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥
सुसंयताश्चापि जटा विपक्ता द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥

उनके कण्ठ के नीचे रोमरहित अत्यन्त मनोहर दो मासपिण्ड थे। उनकी नाभी गहरी, कमर पतली मेरी इस मूज की मेखला के समान सोने की मेखला उनके वस्त्र के भीतर से चमक रही थी। उनके चरणों में दर्शनीय, मनोहर शब्द से युक्त और एक वस्तु चमक रही थी। उनके हाथों में मेरी इस अक्षमाला (सुमिरनी) के समान उज्ज्वल कोई वस्तु (कङ्कण) थी ॥१।५॥

वे जब अपने शरीर को हिलाते-डुलाते थे तब उनके शरीर पर की वस्तुए सरोवर में स्थित मद-मत्त हंस के समान शब्द करने लगती थीं। उनके चीर जैसे विचित्र और मनोहर थे, वैसे मेरे नहीं है। बातें करते समय उनका मनोहर मुख हृदय को बहुत ही प्रसन्न करता था। उनकी वह कोयल के समान वाणी अब तक मेरे कानों में गूंज रही है। उसे स्मरण करके इस समय मेरे मन को चैन नहीं है। वैशाख के महीने में वायु के चलने से वन जैसा भला लगता है वैसे ही उन ब्रह्मचारी को पवन लगने से पवित्र सुगन्ध फैल रही थी। उनके माथे पर जटाओं के बीच से दो हिस्से किये हुए थे और कानों में चकवा पक्षी के समान दो अद्भुत पदार्थ देख पड़ते थे। वे दाहिने हाथ में एक गोल-

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं समाहरत्पाणिना दक्षिणेन ।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥
तच्चाऽभिहत्वा परिवर्त्ततेसौ वातेरितो वृक्ष इवाऽवघूर्णन् ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवाऽमराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥ ११ ॥
स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्याऽभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं चकार तन्मे जनयत्प्रहर्षम् ॥ १२ ॥
न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्फलानि चाऽन्यानि समाददन्मे ॥ १३ ॥
मयोपयुक्तानि फलानि यानि नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चाऽपि तेषां त्वगियं यथैषां साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥ १४ ॥
तोयानि चैवाऽतिरसानि मह्यं प्रादात्स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो ममाऽभवद् भूश्चलितेव चाऽऽसीत् ॥ १५ ॥
इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥
गतेन तेनाऽस्मि कृतो विचेता गात्रं च मे संपरिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्याऽन्तिकमाशु गन्तुं तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥ १७ ॥

गोल फल लिये हुए थे । उस फल को जब वे पृथ्वी पर पटकते थे तब अद्भुत ढंग से वह ऊपर को उछलता था ॥९।१०॥

ब्रह्मचारी जी उस फल को पृथ्वी पर पटकते और उछालते हुए हवा के झोंके से हिल रहे वृक्ष के समान देख पड़ते थे । हे पिताजी ! वे देवपुत्र के सदृश हैं । उन्हें जब से देखा है तब से उन पर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है । उन्होंने मुझे हृदय से लगाकर, जटा पकड़कर, मुंह झुकाकर, मेरे मुह पर मुंह रखकर जो एक प्रकार का अनिर्वचनीय शब्द किया था उससे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ था । मैंने उन्हें पाद्य, अर्घ्य और कन्द-मूल-फल दिये किन्तु उन्होंने वह कुछ न लेकर कहा कि मेरा ऐसा ही व्रत है । फिर उन्होंने भी मुझे कुछ फल दिये । मैंने उनके दिए वे फल खाये । उन फलों का रस गूदा और छिलका जैसा था, वैसा रस, गूदा और छिलका हमारे यहां के फलों का नहीं होता ॥११।१४॥

उन उदार चित्तवाले ब्रह्मचारी ने पीने के लिए मुझे जो बढ़िया रसीला जल दिया था उसे पीकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ और पृथ्वी घूमने सी लगी । वे तपस्वी ब्रह्मचारी रेशमी डोरों में गुथी हुई सुगन्धित विचित्र मालाएं यहां डालकर अपने

गच्छामि तस्याऽन्तिकमेव तात का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं यथा तपः स चरत्यार्थधर्मा ॥ १८ ॥
चर्तुं तथेच्छा हृदये ममाऽस्ति दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायाम् ऋश्यशृंगोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

आश्रम को चले गये हैं। यहां से उनके चले जाने का विचार करके मैं बेचैन हो रहा हूं और शरीर में जलन सी हो रही है। उनके पास जाने की मुझे बड़ी इच्छा है और या फिर वहीं यहा पर रहें। हे पिताजी! मै उनके पास जाऊंगा। उनका यह ब्रह्मचर्य किस प्रकार का है? उनके साथ घूमने-फिरने को और वे जो तपस्या कर रहे हैं वही तपस्या करने को मेरा जी बहुत चाहता है। मैं यदि उनके दर्शन न पाऊंगा तो मेरे हृदय को बड़ी चोट लगेगी ॥१५।१९॥

वनपर्व का एक सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥११२॥

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

विभाण्डक उवाच—रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र रूपेण तेनाऽद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥
सुरूपरूपाणि च तानि तात प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति तान्युग्ररूपाणि मुनीन्वनेषु ॥ २ ॥
न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा सतां लोकान्प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते पापाचारास्तापसस्तान्न पश्येत् ॥ ३ ॥
असज्जनेनाऽऽचरितानि पुत्र पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।

एक सौ तेरह अध्याय ॥ ११३ ॥

विभाण्डक ने कहा—हे बेटा! बड़े पराक्रमी राक्षस लोग अद्भुत सौन्दर्य दिखलाकर तप में विघ्न करने को घूमा करते है। हे पुत्र! वे पहले सुन्दर रूप रखकर अनेक उपायों से वनवासी मुनियों को लुभाते हैं और फिर भयङ्कर रूप रखकर उन्हें सुख और पुण्यलोकों से भ्रष्ट कर देते है। जितेन्द्रिय बुद्धिमान् मुनि अपने भले के लिए किसी प्रकार उनका साथ नहीं करते। वे पापी राक्षस लगातार तपास्वियों के तप में विघ्न डालने में ही सुख मानते हैं। तपस्वी लोग उनका मुँह भी नहीं देखते। असाधु

माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥ ४ ॥
रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव ।
नाऽऽसादयामास यदा त्र्यहेण तदा स पर्याववृतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥
यदा पुनः काश्यपो वै जगाम फलान्याहर्तुं विधिनाऽश्रावणेन ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम सा वेषयोषा मुनिमृश्यशृङ्गम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वैव तामृश्यशृङ्गः प्रहृष्टः संभ्रान्तरूपोऽभ्यपतत्तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतोऽऽश्रमाय गच्छाव यावन्न पिता ममेति ॥ ७ ॥
ततो राजन्काश्यपस्यैकपुत्रं प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायैराजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥
संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु संतारितां नावमथाऽतिशुभ्राम् ।
नीरादुपादाय तथैव चक्रे नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥
अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा विभाण्डकस्याऽऽत्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रविष्टमापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥
स लोमपादः परिपूर्णकामः सुतां ददावृश्यशृङ्गाय शान्ताम् ।

पुरुष ही मुनियों के न पीने योग्य उन मधुओं (सुरा) को पीते हैं, जिनका वर्णन तुमने किया। इन विचित्र सुगन्धित मालाओं को ऋषि-मुनि नहीं पहनते। तात्पर्य यह है कि वह कोई दुष्ट राक्षस था। इस तरह पुत्र को समझाकर विभाण्डक ऋषि उस वेश्या को खोजने के लिए गये। वे तीन दिन तक खोजते रहे, पर उसका कहीं पता न लगा, तब फिर अपने आश्रम को लौट आये। फिर जब विभाण्डक ऋषि नित्यकर्म के लिए फल आदि लेने को गये तब वही वेश्या की बेटी ऋश्यशृङ्ग को लुभाने के लिए उनके पास आ गई। उसे देखते ही ऋष्यशृङ्ग आदर के भाव से उठ खड़े हुए। उसके पास जाकर उन्होंने कहा—चलिए, आश्रम में पिताजी के आने से पहले ही हम लोग आपके आश्रम को चलें ॥१।७॥

हे महाराज! तब उन वेश्याओं ने इस कौशल से महर्षि विभाण्डक के एकलौते बेटे ऋश्यशृङ्ग को नाव पर चढ़ा लिया और नाव खोल दी। अनेक प्रकार से मुनिपुत्र को प्रसन्न करती हुई वे वेश्याएँ अङ्गराज लोमपाद के पास पहुँचीं। जल पर चलती हुई उस नाव को किनारे बाँधकर, आश्रम दिखाने का बहाना करके, ऋश्यशृङ्ग को वेश्याएँ राजा के पास ले गईं। महाराज लोमपाद ज्योंही मुनिपुत्र को अपने रनिवास के भीतर ले गये त्योंही इन्द्र ने ऐसा जल बरसाया कि पल भर में पृथ्वी पर जल ही जल हो गया ॥८।१०॥

इस प्रकार मनोरथ पूरा होने पर लोमपाद ने अपनी शान्ता नाम की बेटी का विवाह उनके साथ

क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥ ११ ॥
विभाण्डकस्य व्रजतः स राजा पशून्प्रभूतान्पशुपांश्च वीरान् ।
समादिशत्पुत्रगृद्धी महर्षिर्विभाण्डकः परिपृच्छेद्यदा वः ॥ १२ ॥
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च ।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे दासाः स्म सर्वे तव वाचिबद्धाः ॥ १३ ॥
अथोपायात्स मुनिश्चण्डकोपः स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा ।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ॥ १४ ॥
ततः स कोपेन विदीर्यमाण आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम् ।
जगाम चम्पां प्रतिधक्ष्यमाणस्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम् ॥ १५ ॥
स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्घोषान्समासादितवान्समृद्धान् ।
गोपैश्च तैर्विधिवत्पूज्यमानो राजेव तां रात्रिमुवास तत्र ॥ १६ ॥
अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः प्रोवाच कस्य प्रथिताःस्थ गोपाः ।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे धनं तवेदं विहितं सुतस्य ॥ १७ ॥
देशेषु देशेषु स पूज्यमानस्तांश्चैव शृण्वन्मधुरान्प्रलापान् ।

कर दिया। फिर विभाण्डक ऋषि का क्रोध शान्त करने के लिए उन्होंने यह उपाय किया कि उनके आने की राह में खेती के सब सामान रखवा दिये, बैल आदि पशुओं और पशुपालक वीर पुरुषों को ठहरा दिया। उन पुरुषों से राजा ने कह दिया कि विभाण्डक ऋषि पुत्र को खोजते हुए इधर आकर जो तुमसे पूछें तो तुम हाथ जोड़कर उनसे कहना—हे ऋषिश्रेष्ठ! ये सब पशु और खेती का सामान आपके पुत्र का ही है। हम सब आपकी आज्ञा के अधीन दास हैं। आज्ञा दीजिए, हम आपका कौनसा कार्य करें। उधर अत्यन्त क्रोधी विभाण्डक ऋषि वन से फल-मूल लेकर आश्रम में आये। वहां जब उन्होंने पुत्र को नहीं देखा तब वे बहुत ही क्रोधित हुए। क्रोध के मारे उन्होंने सोचा कि यह काम अवश्य ही राजा का है। तब वे नगर और राष्ट्रसहित राजा को भस्म करने के लिए चम्पा नगरी की ओर चले। कश्यप के पुत्र विभाण्डक जब भूखे और प्यासे होकर उन धनाढ्य पशुपालकों के पास पहुँचे तब वे उनका सत्कार करने लगे। सुखपूर्वक भोजन करके विभाण्डक ऋषि ने राजा के समान सुख से रात्रि व्यतीत की ॥११।१६॥

सत्कार करनेवालों से मुनि ने पूछा—ग्वाला लोगो! तुम किसके राज्य में रहते हो? उन्होंने

प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः समाससादाऽङ्गपतिं पुरस्थम् ॥ १८ ॥
स पूजितस्तेन नरर्षभेण ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम् ।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र सौदामिनीमुच्चरन्तीं यथैव ॥ १९ ॥
ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा शान्तां च शान्तोऽस्य परःस कोपः।
चकार तस्यैव परं प्रसादं विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥ २० ॥
स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षिरुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः ।
जाते च पुत्रे वनमेवाऽव्रजेथा राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा ॥ २१ ॥
स तद्वचः कृतवानृश्यशृङ्गो ययौ च यत्राऽस्य पिता बभूव ।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र खे रोहिणी सोममिवाऽनुकूला ॥ २२ ॥
अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम् ।
नलस्य वै दमयन्ती यथाऽभूद्यथा शची वज्रधरस्य चैव ॥ २३ ॥
नारायणी चन्द्रसेना बभूव वश्या नित्यं मुद्गलस्याऽऽजमीढ ।
तथा शान्ता ऋश्यशृंगं वनस्थं प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ॥ २४ ॥
तस्याऽऽश्रमः पुण्य एषो विभाति महाह्रदं शोभयन्पुण्यकीर्तिः ।

कहा—हे मुनिवर! यह सब धन आपके पुत्र महात्मा ऋष्यशृङ्ग का है। प्रत्येक देश में इस तरह सत्कार होने से और ऐसे ही नम्र मधुर वचन सुनने से मुनि का क्रोध शान्त हो गया। तब वे शान्त चित्त से महाराज लोमपाद के पास पहुँचे। राजा ने अच्छी तरह आदर सत्कार के साथ उनकी पूजा की। मुनि ने अपने पुत्र को स्वर्ग में स्थित इन्द्र के समान और अपनी बहू शान्ता को इन्द्राणी (या बिजली) के समान देखा। हे महाराज! गाँव, नगर, व्रज और राजकुमारी शान्ता को पुत्र ने प्राप्त किया है, यह देखकर मुनि का सारा क्रोध एक दम शान्त हो गया। वे राजा पर बहुत प्रसन्न हुए। सूर्य और अग्नि के समान प्रभावशाली महर्षि विभाण्डक ने पुत्र को वहीं छोड़कर कहा—इस समय तुम महाराज के पास रहकर इनका प्रिय करो। फिर जब तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हो ले, तब वन को चले आना ॥१७-२१॥

पुत्र उत्पन्न होने पर ऋष्यशृङ्गजी वन को चले गये। हे राजन्! जैसे रोहिणी चन्द्रमा के, अरुन्धती वशिष्ठ के, लोपामुद्रा अगस्त्य के, दमयन्ती नल के, इन्द्राणी इन्द्र के और नारायणी इन्द्रसेना मुद्‌गल ऋषि के अधीन रहकर सदा उनकी सेवा करती हैं वैसे ही राजकुमारी शान्ता महर्षि ऋष्यशृङ्ग की अनुगामिनी होकर उनकी सेवा करने लगीं।

अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्धस्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृश्यशृंगोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११३॥

उन्हीं पवित्र कीर्त्तिवाले महर्षि का यह पवित्र आश्रम इस महाकुण्ड की महिमा बढ़ा रहा है। आप इस कुण्ड में स्नान करके कृतकृत्य और पवित्र हूजिए। फिर अन्य तीर्थों को जाइएगा ॥२२।२५॥

वनपर्व का एक सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥११३॥

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामाऽऽयतनान्यथ ॥ १ ॥
स सागरं समासाद्य गंगायाः संगमे नृप ।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ २ ॥
ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिंगान्प्रति भारत ॥ ३ ॥
लोमश उवाच—एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्राऽयजत धर्मोऽपि देवाञ्शरणमेत्य वै ॥ ४ ॥
ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥
समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।

एक सौ चौदह अध्याय ॥ ११४ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! अब महाराज युधिष्ठिर कौशिकी नदी से लेकर उस तपोवन के और सब तीर्थों में घूमे-फिरे। वहाँ से विचरते हुए वे गङ्गा-सागर-सङ्गम में पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने पाँच सौ नदियों में स्नान किया। हे जनमेजय! फिर महाराज युधिष्ठिर भाइयों के साथ समुद्र के किनारे होकर कलिङ्ग देश में पहुँचे। लोमशजी ने युधिष्ठिर से कहा—राजन्! इस स्थान का नाम कलिङ्ग है। यहाँ वैतरणी नदी है। इसी स्थान पर देवताओं के शरणागत होकर धर्म ने यज्ञ किया था। वह ब्राह्मणसेवित पर्वतशोभित, ऋषियों के रहने का यज्ञ-स्थान वैतरणी नदी के उत्तर ओर है। पूर्वकाल में ऋषि और अन्यान्य महानुभाव पुरुष उस स्थान पर यज्ञ करते थे। वह

अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥
अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान्मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान्सकलान्वशीः ॥ ८ ॥
ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयाश्चक्रिरे तदा ॥ ९ ॥
ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्राऽनुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥
अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवा संकल्पयामासुर्भयाद्रुद्रस्य शाश्वतम् ॥ ११ ॥
इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाऽभिप्रकाशते ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयाञ्चक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।

स्थान देवलोक के जाने का सुगम मार्ग है ॥१।६॥

हे राजेन्द्र ! इसी स्थान पर रुद्रदेव ने यज्ञ में बलिपशु को स्वीकार करते हुए कहा था "यह मेरा अंश है"। हे भरतश्रेष्ठ ! भगवान् रुद्रदेव जब पशु को हर ले गये तब देवताओं ने उनसे कहा—भगवन् ! आप पराई वस्तु को लेने और यज्ञ के भाग को प्राप्त करने की इच्छा मत कीजिए। इस प्रकार देवताओं ने जब रुद्रदेव की स्तुति की और इष्टि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किया तब, सम्मानित होकर, पशु को छोड़कर वे देव-यान पर सवार हो अपने स्थान को चले गये। हे युधिष्ठिर ! इस सम्बन्ध में यह गाथा प्रसिद्ध है कि "देवताओं ने रुद्र से डरकर उन्हें सब भागों से श्रेष्ठ एक तत्काल कल्पित भाग सदा देने का सङ्कल्प कर लिया"। जो मनुष्य उक्त स्थान पर इस गाथा को पढ़कर स्नान करता है उसे स्वर्ग का मार्ग देख पड़ता है ॥७।१२॥

वैशम्पायन कहते हैं कि फिर पाण्डव लोग द्रौपदी के साथ वैतरणी नदी में उतरे। वहाँ स्नान करके उन्होंने पितरों का तर्पण किया। तब युधिष्ठिर

मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥
सर्वांल्लोकान्प्रपश्यामि प्रसादात्तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥
लोमश उवाच—त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृण्वोप्येनं तूष्णीमास्व विशाम्पते ॥ १६ ॥
एतत्स्वयंभुवो राजन्वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्राऽयजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥
यस्मिन्यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयंभुवा ॥ १८ ॥
अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा ।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥
न मां मर्त्याय भगवन्कस्मैचिद्दातुमर्हसि ।
प्रदानं मोघमेतत्ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥
विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः ।
प्रसादयाम्बभूवाऽथ ततो भूमिं विशांपते ॥ २१ ॥

ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! मैं तपोबल से इस वैतरणी नदी में विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्यभाव से मुक्त हो गया। मैं आपकी कृपा से सब पवित्र लोकों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। जप-निरत महात्मा वैखानस ऋषियों के जप का शब्द भी मुझे सुन पड़ रहा है ॥१३।१५॥

लोमशजी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! आप मौन-व्रत धारण कीजिए। जिस स्थान का यह शब्द आप सुन रहे हैं वह यहाँ से पौन लाख योजन पर है। यह जो दिव्य वन दिखाई दे रहा है सो स्वयंभू ब्रह्मा का है। इस स्थान पर विश्वकर्मा ब्रह्मा ने यज्ञ किया था। उन्होंने उस यज्ञ की दक्षिणा में महात्मा कश्यप को पर्वतों और वनों-सहित सारी पृथ्वी दे दी थी। इस पर व्याकुल होकर पृथ्वी ने लोकनाथ ब्रह्मा से कहा—भगवन् ! मुझे किसी मनुष्य को देना उचित नहीं। उससे आपका दान निष्फल होगा; क्योंकि अब मैं रसातल को चली जाऊँगी ॥१६।२०॥

पृथ्वी जब रसातल को चली गई तब महर्षि कश्यप उसको प्रसन्न करने के लिए तप करने लगे। हे पाण्डव ! महर्षि कश्यप की तपस्या से सन्तुष्ट पृथ्वी फिर जल के ऊपर वेदी के रूप से उतराने लगी। राजन् ! समुद्र के किनारे यह वही खड़े होने योग्य वेदी देख पड़ रही है। इस पर आप

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव ।
पुनरुन्नह्य सलिलाद्वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥
सैषा प्रकाशते राजन्वेदी संस्थानलक्षणा ।
आरुह्याऽत्र महाराज वीर्यवान्वै भविष्यसि ॥ २३ ॥
सैषा सागरमासाद्य राजन्वेदी समाश्रिता ।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥ २४ ॥
अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य ।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्रमेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २५ ॥
ओं नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते ।
सान्निध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥ २६ ॥
अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो विष्णोरेतस्त्वममृतस्य नाभिः ।
एवं ब्रुवन्पाण्डव सत्यवाक्यं वेदीमिमां त्वं तरसाऽधिरोह ॥ २७ ॥
अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एवं जपन्पाण्डव सत्यवाक्यं ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥ २८ ॥
अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपाम्पतिः ।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ॥ २९ ॥

खड़े हो जाइए। खड़े होने मे आपका पराक्रम बढ़ेगा, आपका मङ्गल होगा और आप अकेले समुद्र को तर जा सकेंगे। महाराज! मनुष्य ज्योंही इस वेदी को छूता है त्योंही यह समुद्र के भीतर चली जाती है। मैं आपको स्वस्त्ययन-पाठ बताता हूँ। उसे पढ़कर आप इस वेदी पर चढ सकेंगे ॥२१।२५॥

हे पाण्डव! आप समुद्र के पास जाकर कहिए "हे समुद्र! तुम संसार को अपने में लीन करनेवाले और संसार के अधीश्वर विष्णु हो। तुम्हें प्रणाम है। हे देवेश! तुम इस खारी जल में आओ। तुम्हीं अग्नि, तुम्हीं मित्रावरुण, तुम्हीं जगत् की योनि जल, विष्णु का वीर्य और अमृत की नाभी हो।" यों सत्य वाक्य कहकर आप इस वेदी पर चढ़िए। फिर "अग्नि तुम्हारी उत्पत्ति का स्थान है। इड़ा नाड़ी तुम्हारा शरीर है। तुम विष्णु के वीर्य को धारण करनेवाले और अमृत की खान हो", ये सत्य वाक्य कहकर समुद्र में स्नान कीजिए। हे कुरुकुल-दीपक! मेरे बताये इन मन्त्रों को पढ़े बिना कुश की नोक से भी तुम इस महासागर को मत छूना। वैशम्पायन कहते हैं—महात्मा युधिष्ठिर

वैशम्पायन उवाच—ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत् ।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

लोमशजी के बताये स्वस्त्ययन को पढ़कर समुद्र के समीप गये । लोमशजी के उपदेश से सब कार्य करके वे महेन्द्र पर्वत पर गये और वहीं रात्रि भर रहे ॥२९।३०॥

वनपर्व का एक सौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११४॥

अथ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

वैशम्पायन उवाच—स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः ।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥
लोमशस्तस्य तान्सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान् ।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वासिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥
तान्समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
रामस्याऽनुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥
कदा तु रामो भगवांस्तापसान्दर्शयिष्यति ।
तेनैवाऽहं प्रसङ्गेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥
अकृतव्रण उवाच—आयन्नेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः ।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥

एक सौ पंद्रह अध्याय ॥ ११५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—महाराज ! धर्मराज युधिष्ठिर ने रात्रि भर वहाँ रहकर वहाँ रहनेवाले ऋषियों का सत्कार किया । महर्षि लोमश ने भृगु, अङ्गिरा, वशिष्ठ और कश्यप के वंशधर सब ऋषियों का परिचय युधिष्ठिर को दिया । राजर्षि युधिष्ठिर ने उन लोगों के पास जाकर हाथ जोड़कर सबका सम्मान किया । फिर परशुरामजी के अनुचर महर्षि अकृतव्रण से युधिष्ठिर ने पूछा—भगवान् परशुराम जी किस समय मुनियों को दर्शन देंगे ? मैं उसी सुयोग में उनके दर्शन कर लेना चाहता हूँ ॥१।४॥

अकृतव्रण ने कहा—महाराज ! त्रिकालदर्शी परशुरामजी ने यहाँ आपके आने का वृत्तान्त जान लिया है । आप पर भगवान् भार्गव की अत्यन्त प्रीति है । इसलिए वे शीघ्र ही आपको दर्शन देंगे ।

चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः ।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम् ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥
स भवान्कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः ।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥ ९ ॥
रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसंमितम् ।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ॥ १० ॥
रामेण चाऽर्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः ।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥ ११ ॥
दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा ।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ १२ ॥
अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः ।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ममर्द देवान्यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः ।

मुनियों को उनके दर्शन हर चतुर्दशी और अष्टमी को होते है । कल चौदस है । केवल आज की रात्रि मध्य में है । युधिष्ठिर ने कहा—आप महाबली परशुराम के आज्ञाकारी भक्त है और उनके पहले के किये हुए सर्व कार्यों को विशेषरूप से जानते है । इसलिए विस्तारपूर्वक मुझे बताइए कि महात्मा परशुराम ने युद्ध में किस तरह और किस कारण क्षत्रियों को हराया है ॥५।८॥

अकृतव्रण ने कहा—हे धर्मराज ! भृगुवंशी जमदग्नि के पुत्र परशुराम और हैहयाधिपति कार्तवीर्य अर्जुन का विचित्र चरित्र आपसे कहता हूँ, सुनिए। हे पाण्डव ! भृगुकुल-भूषण परशुराम ने जिन कार्तवीर्य अर्जुन को मारा उनके सहस्र हाथ थे और दत्तात्रेयजी की कृपा से उनके पास एक सुवर्ण का विमान था । राजन् ! वे अर्जुन पृथ्वी पर के सर्व प्राणियों पर हुकूमत करते थे । वरदान के प्रभाव से उनका रथ सर्व जगह जा सकता था । इस कारण वे उस रथ पर चढ़कर सब जगह जाते

भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥ १४ ॥
ततो देवाः समेत्याऽऽहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥
भगवन्भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ॥ १६ ॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ।
ततस्तु भगवान्देवः शक्रेण सहितस्तदा ।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ॥ १७ ॥
यत्तद्भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ।
संप्रतिश्रुत्य तत्सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः ॥ १८ ॥
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाऽऽश्रममण्डलम् ।
एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ॥ १९ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवः सुमहाबलः ।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ॥ २० ॥
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरः समा ।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ॥ २१ ॥

थे और देवता, यक्ष, ऋषि तथा सर्व प्राणियों को सताते थे ॥९।१४॥

तब सब देवताओं और तपस्वी ऋषियों ने देवदेव विष्णु के पास जाकर कहा—भगवन् ! आप शीघ्र कार्त्तवीर्य अर्जुन को मारकर सर्व प्राणियों की रक्षा कीजिए । अर्जुन ने दिव्य विमान पर चढकर आनन्द करते हुए इन्द्र और इन्द्राणी को भी सताया है । हे धर्मराज ! तब भगवान् विष्णु कार्त्तवीर्य अर्जुन के नाश के लिए इन्द्र के साथ सम्मति करने लगे । इन्द्र ने कहा कि एसा करना चाहिए जिसमें सर्व प्राणियों का हित हो । भगवान् नारायण, कार्त्तवीर्य अर्जुन के नाश की सलाह मान करके, अपने आश्रम रमणीय बदरीवन को चले गये ॥१५।१९॥

हे महाराज ! इसी समय कान्यकुब्ज प्रदेश में बड़े पराक्रमी गाधि राजा राज्य करते थे । वे जब वन को चले गये तब वहाँ उनके अप्सरा के समान सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई । भृगुवंशी ऋचीक ऋषि ने विवाह करने के लिए उनसे वह कन्या मांगी । राजा गाधि ने ऋचीक से कहा—हमारे

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
उचितं नः कुले किंचित्पूर्वैर्यत्संप्रवर्तितम् ॥ २२ ॥
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ॥ २३ ॥
न चापि भगवान्वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ॥ २४ ॥
ऋचीक उवाच—एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुरानां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुताऽस्तु ते ॥ २५ ॥
अकृतव्रण उवाच—स तथेति प्रतिज्ञाय राजन्वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥ २६ ॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं प्रतिदीयताम् ।
तस्मै प्रादात्सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ॥ २७ ॥
तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ॥ २८ ॥
ततो गाधिः सुतां चाऽस्मै जन्याश्चाऽऽसन्सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥ २९ ॥

वंश में पूर्वपुरुष जो नियम बना गये हैं उसके विरुद्ध कार्य मैं नहीं कर सकता । हे द्विजश्रेष्ठ ! हम लोग कन्या के विवाह में श्यामकर्ण और श्वेत रङ्ग के शीघ्रगामी हज़ार घोड़े 'पण' के रूप में वरपक्ष से लेते हैं । हे भार्गव ! आप यह पण दीजिए, यह आप से कहना ठीक नहीं जान पड़ता । किन्तु आप ऐसे सज्जन पुरुष को कन्या न देना भी हमारा दुर्भाग्य होगा ॥२०।२४॥

ऋचीक ने कहा—श्यामकर्ण सफ़ेद रङ्ग के शीघ्र-गामी हज़ार घोड़े मैं आप को दूँगा । आप की कन्या मेरी पत्नी हो । अकृतव्रण कहते हैं कि शुल्क देना स्वीकार करके ऋचीक ऋषि वरुण के पास गये । उनसे उन्होंने कहा—आप श्यामकर्ण श्वेत रङ्ग के शीघ्रगामी हज़ार घोड़े मुझको दीजिए । वरुण ने उसी समय वैसे ही हज़ार घोड़े उनको दे दिये । वे घोड़े जिस स्थान से ऊपर निकले थे वह स्थान अश्वतीर्थ कहलाता है । वैसे हज़ार घोड़े पाकर फिर गाधि राजा ने बराती देवताओं के सामने गङ्गा-किनारे, कान्यकुब्ज देश में, अपनी सत्यवती नाम की कन्या का विवाह ऋषि के साथ कर दिया।

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ ३० ॥
तं विवाहे कृते राजन्सभार्यमवलोककः ।
आजगाम भृगुश्रेष्ठः पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥ ३१ ॥
भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ ३२ ॥
ततः स्नुषां स भगवान्प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ ३३ ॥
सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ ३४ ॥
भृगुरुवाच—ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।
आलिंगेतां पृथग्वृक्षौ साऽश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ ३५ ॥
चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।
विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥ ३६ ॥
प्राशितव्यं प्रयत्नेन तेत्युक्त्वाऽदर्शनं गतः ।

द्विजश्रेष्ठ ऋचीक राजकुमारी को धर्मपत्नी के रूप में पाकर उनके साथ यथेष्ट विहार करने लगे ॥२५।३०॥

अब विवाह किये हुए अपने पुत्र के देखने को महर्षि भृगु आये। वे स्त्री-सहित अपने बड़े पुत्र ऋचीक को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। देवताओं से पूजित भगवान् भृगु जब सुखपूर्वक बैठे तब ऋचीक और उनकी स्त्री, दोनों, उनकी पूजा करके हाथ जोड़कर उनके पास बैठ गये, महर्षि भृगु ने प्रसन्न होकर अपनी बहू से कहा—हे सुभगे! तुम मुझसे वरदान मांगो। मैं तुमको मुँहमांगा वरदान दूँगा। सत्यवती ने वर मांगा कि मेरे और मेरी माता के भी पुत्र उत्पन्न हो ॥३१।३४॥

तब भृगु ने कहा—भद्रे! तुम और तुम्हारी माता जब पुंसवन के लिए ऋतुस्नान करें तब तुम तो गूलर के वृक्ष से लिपट जाना और तुम्हारी माता पीपल के वृक्ष से लिपट जायँ। मैने सारे संसार में घूम करके तुम्हारे और तुम्हारी माता के लिए ये दो 'चरु' तैयार किये हैं। तुम सावधानी के साथ इन चरुओं को खा लेना। चरु देकर महर्षि भृगु अन्तर्द्धान हो गये। किन्तु सत्यवती और उनकी माता के लिए भृगु ने जिस वृक्ष से लिपटना और जो चरु खाना बताया था सो न करके दोनों

आलिंगने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ॥ ३७ ॥
ततः पुनः [redacted] भगवान्काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद्विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥ ३८ ॥
अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चाऽऽलिंगनं कृतम् ॥ ३९ ॥
विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवाऽसि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ ४१ ॥
ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक्कामं पौत्रो भवेदिति ॥ ४२ ॥
एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥ ४३ ॥
तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याऽध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
बहूनृषीन्महातेजाः पाण्डवेयाऽत्यवर्तत ।

ने उसका उलटा किया। बहुत दिन व्यतीत होने पर भगवान् भृगु दिव्य ज्ञान के प्रभाव से सब हाल जानकर बहू सत्यवती के पास फिर आये। उन्होंने कहा—भद्रे! मैंने चरु खाने और वृक्ष से लिपटने के सम्बन्ध में तुम दोनों को जो आज्ञा दी थी उसके विपरीत काम तुम दोनों ने किया है। इस कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय की वृत्ति करेगा और तुम्हारी माता का बेटा क्षत्रिय होकर भी महात्मा महातेजस्वी और ब्राह्मणों के आचरण करनेवाला होगा ॥३५।४१॥

सत्यवती ने बारम्बार प्रार्थना करके भृगु को मनाया और कहा—भगवन्! ऐसी कृपा कीजिए कि मेरा पुत्र ऐसा न होकर पौत्र ऐसा हो। हे पाण्डव! महर्षि भृगु "यही सही" कहकर सत्यवती को सन्तुष्ट कर चले गये। सत्यवती के ठीक समय पर एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम जमदग्नि हुआ। महात्मा जमदग्नि भृगुवंश के आनन्द को बढ़ानेवाले वेदपाठी हुए। महाराज! सूर्य के

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद्भरतर्षभ ।
चतुर्विधानि चाऽस्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्त्तवीर्योपाख्याने पंचदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

समान तेजस्वी जमदग्नि को धनुर्विद्या और सर्व प्रकार | के शास्त्रों का अच्छी तरह ज्ञान हो गया ॥४२।४५॥

वनपर्व का एक सौ पंद्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥११५॥

अथ षष्टदशाधिकशततमोऽध्याय. ॥ ११६ ॥

अकृतव्रण उवाच—स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।
तपस्तेपे ततो वेदान्नियमाद्वशमानयत् ॥ १ ॥
स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥
रेणुकां त्वथ संप्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥
तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥
फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत्कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥

एक सौ सोलह अध्याय ॥ ११६ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—महातपस्वी जमदग्नि वेद पढ़ते हुए तपस्या करने लगे। नियमानुसार स्वाध्याय करने से सब वेद उन्हें कण्ठस्थ हो गये। इसके पश्चात् उन्होंने प्रसेनजित् राजा के पास जाकर उनसे रेणुका नाम की उनकी कन्या माँगी। राजा ने अपनी कन्या उनको विवाह दी। रेणुका का विवाह करके जमदग्नि उसे अपने आश्रम में ले आये। फिर वे आश्रम में रहकर तप करने लगे। रेणुका के गर्भ से उनके पाँच पुत्र हुए। उनमें परशुरामजी सब से छोटे होने पर भी गुणों में सबसे श्रेष्ठ हुए ॥१।४॥

एक समय पाँचों पुत्र फल लेने के लिए वन को गये। रेणुका भी नदी में स्नान करने गई। हे राजन्! रेणुका रास्ते में चली आ रही थी कि एक

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥ ६ ॥
क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥
व्यभिचाराच्च तस्मात्सा क्लिन्नाऽम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाऽऽश्रमं त्रस्ता तां वै भर्ताऽन्वबुध्यत ॥ ८ ॥
स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद्ब्राह्मया लक्ष्म्या विवर्जिताम् ।
धिक्शब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥
ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान्नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥
तानानुपूर्व्याद्भगवान्वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥
ततः शशाप तान्क्रोधात्ते शप्ताश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥
ततो रामोऽभ्ययात्पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥

स्थान पर उसने क्या देखा कि समृद्धिशाली मार्तिकावतक का राजा चित्ररथ पद्ममालाएँ पहने हुए स्त्री के साथ जलविहार कर रहा है । देखते ही राजा के ऊपर रेणुका का चित्त चलायमान हो गया । इस मानसिक व्यभिचार के कारण अचेत; दीन और डरी हुई रेणुका आश्रम में आई ॥५।८॥

महातेजस्वी जमदग्नि ऋषि उसे धैर्य से भ्रष्ट और ब्राह्मण के तेज से हीन देखकर धिक्कार देने लगे । इसके पश्चात् रुमण्वान्, सुषेण, वसु और विश्वावसु नाम के चारों पुत्र आये । उनमें से प्रत्येक को अलग-अलग जमदग्नि ने आज्ञा दी कि रेणुका को मार डालो । पिता की यह आज्ञा सुनकर माता के स्नेह के कारण सब पुत्र अचेत और कर्त्तव्य-विमूढ़ से होकर कुछ भी उत्तर न दे सके । तब जमदग्नि ने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे दिया । शाप पाकर वे उसी समय जड़प्राय हो गये ॥९।१२॥

इसके पश्चात् वीरनाशन परशुरामजी आश्रम में आये । महात्मा जमदग्नि ने उनसे कहा--पुत्र ! अपनी इस पापिनी माता को मार डालो । इसे मारने में दुखी न होना । पिता की आज्ञा सुनते ही परशुराम ने फरसा लेकर माता का सिर काट डाला । हे महाराज ! परशुराम ने ज्योंही माता का सिर

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥
ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपोऽभ्यगच्छत्सहसा प्रसन्नश्चाऽब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥
ममेदं वचनात्तात कृतं ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान्धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै ।
पापेन तेन चाऽस्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान्कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥
कदाचित्तु तथैवाऽस्य विनिष्क्रान्ताः सुता प्रभो ।
अथाऽनूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत् ।
स युद्धमदसंमत्तो नाऽभ्यनन्दत्तथाऽर्चनम् ॥ २० ॥
प्रमथ्य चाऽऽश्रमात्तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥

काट डाला त्योंही जमदग्नि का क्रोध शान्त हो गया। तब उन्होंने परशुराम से कहा—बेटा ! तुमने मेरी आज्ञा से यह कठिन कार्य किया है; इससे प्रसन्न होकर मैं तुमको वरदान देने के लिए तैयार हूँ। जो चाहो सो माँग लो ॥१३।१६॥

परशुराम ने कहा—मैं यही वर माँगता हूँ कि मेरी माता फिर जी उठें। उन्हें यह स्मरण न रहे कि मैंने उन्हें मार डाला था। मुझे माता की हत्या का पाप भी न लगे। मेरे भाई पहले की तरह जी उठें। युद्ध में कोई मेरी बराबरी या मेरा सामना न कर सके और मेरी आयु बहुत बड़ी हो। महातपस्वी जमदग्नि ने उनको ये सब वर दे दिये। हे राजन् ! एक समय जमदग्नि के सब पुत्र आश्रम से बाहर चले गये थे, इसी समय अनूप देश के राजा कार्तवीर्य अर्जुन जमदग्नि के आश्रम में आये। जमदग्नि की भार्य्या रेणुका ने उनका स्वागत किया। कार्तवीर्य को अपने पराक्रमी और योद्धा होने का बड़ा घमण्ड था। उन्होंने रेणुका की दी हुई सत्कार-सामग्री का अनादर करके आश्रम से होम की गाय के बछड़े को खोल लिया। तर्जन-गर्जन

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥
स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत् ।
तस्याऽथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून्परिघसंनिभान् ।
सहस्रसंमितान्राजन्प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥
अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा ।
अर्जुनस्याऽथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥ २५ ॥
आश्रमस्थं विना रामं जमदग्निमुपाद्रवन् ।
ते तं जग्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥ २६ ॥
असकृद्रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिन्दमाः ।
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथागते ॥ २८ ॥
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ।
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम् ।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

करते हुए वे आश्रम के वृक्षों को तोड़-मरोड़कर अपनी पुरी को चल दिये । कुछ काल के पश्चात् परशुराम जी अपने आश्रम में आये । जमदग्नि ने उनसे सब वृत्तान्त कहा । सब हाल सुनकर और आश्रम की गाय को रोते देखकर वे क्रोधित हो उठे ॥१७।२२॥

काल के कवल हो रहे कार्तवीर्य अर्जुन के पीछे परशुरामजी दौड़े । मनोहर धनुष लिये हुए परशुराम ने युद्ध में पराक्रम करके पैने फरसे से अर्जुन के हज़ारों हाथ काटकर उसे मार डाला । अब कार्तवीर्य के बेटे और जातिवाले सब परशुराम के न रहने पर जमदग्नि के आश्रम पर चढ़ आये । वे युद्ध में असमर्थ तपस्वी जमदग्नि को अकेले पाकर उन पर शस्त्र चलाने लगे । महर्षि जमदग्नि अनाथ की तरह आर्तस्वर से 'राम' ! परशुराम !'

कहकर पुकारने लगे। हे युधिष्ठिर! जमदग्नि को अस्त्रों से मार करके शत्रुनाशन कार्त्तवीर्य के पुत्र अपने स्थान को चले गये। परशुराम लकड़ियाँ लेकर जब आश्रम में आये तब पिता को मरा हुआ और बुरी दशा में पड़ा हुआ देख बहुत ही दुःखित होकर विलाप करने लगे ॥२३।२९॥

वनपर्व का एक सौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११६॥

अथ सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

राम उवाच—ममाऽपराधात्तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः ।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ॥ १ ॥
धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे ।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ॥ २ ॥
किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः ।
अयुध्यमानो वृद्धः सन्हतः शरशतैः शितैः ॥ ३ ॥
किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च ।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वाऽनपत्रपाः ॥ ४ ॥
लालप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥ ५ ॥
ददाह पितरं चाऽग्नौ रामः परपुरञ्जयः ।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥ ६ ॥
संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान् ।

एक सौ सत्रह अध्याय ॥ ११७ ॥

परशुरामजी कहने लगे—हे पिताजी! मूर्ख, नराधम कार्त्तवीर्य के बेटों ने मेरे किये अपराध से क्रोधित होकर, वन में बाणों के प्रहार से मृग की तरह, आपको मार डाला। आप निरपराध, सन्मार्ग पर चलनेवाले और धर्मात्मा थे। आपकी मृत्यु ऐसी न होनी चाहिए। आप तपस्वी और वृद्ध होने के कारण युद्ध करने में असमर्थ थे। इस कारण उन नीचों ने पैने बाणों से आपको मारकर घोर पाप किया है। आप बिलकुल असहाय थे। आपकी हत्या करके वे निर्लज्ज अपने मन्त्रियों और इष्टमित्रों के आगे क्या कहेंगे ॥१।४॥

हे महाराज! महातपस्वी परशुरामजी ने यों विलाप करके पिता का दाहकर्म किया। हे राजन्! शत्रुनाशन परशुराम जी ने पिता का दाह आदि

जघ्निवान्कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ॥ ७ ॥
तेषां चाऽनुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
तांश्च सर्वानवाऽमृद्नाद्रामः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ९ ॥
स तेषु तर्पयामास भृगून्भृगुकुलोद्वहः ।
साक्षाद्ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत् ॥ १० ॥
ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥ ११ ॥
वेदीं चाऽप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने ।
दश व्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशांपते ॥ १२ ॥
तां कश्यपस्याऽनुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्ते तदा राजन्प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥ १३ ॥
स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन्महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥
एवं वैरमभूत्तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणाऽमिततेजसा ॥ १५ ॥

कृत्य कर चुकने पर सब क्षत्रियों का नाश करने की प्रतिज्ञा की। फिर कुपित होकर परम पराक्रमी काल की तरह वे अकेले हाथ में फरसा लिये कार्तवीर्य की नगरी को गये। वहाँ जाकर उन्होंने युद्ध में कार्तवीर्य के सब पुत्रों को मार डाला। हे क्षत्रियश्रेष्ठ! जो क्षत्रिय उनके पिछलग्गू थे, उनको भी परशुराम ने मार डाला। इस प्रकार उन्होंने इकीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से खाली करके समन्तपञ्चक तीर्थ में रक्त से भरे हुए पाँच कुण्ड बनाये और उनमें पितरों का तर्पण किया। तब उनके पितामह ऋचीक ने उनको दर्शन दिये ॥५।१०॥

ऋचीक ने परशुराम को समझाकर क्षत्रियों की हत्या करने से रोका। फिर महाप्रतापी परशुराम ने महायज्ञ करके इन्द्रदेव को सन्तुष्ट किया और ऋत्विजों को दक्षिणा में सारी पृथ्वी दे डाली। हे महाराज! उन्होंने चालीस हाथ चौड़ी और छत्तीस हाथ लम्बी, ऊँची एक सुवर्ण की वेदी बनाकर कश्यपजी को दी। महर्षि कश्यप जी की अनुमति

वैशम्पायन उवाच—ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान्विप्रान्धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥
स तमानर्च्य राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥
अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्त्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११७॥

पाकर ब्राह्मणों ने उस वेदी के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सुवर्ण बाँट लिया। इसी से वे ब्राह्मण खाण्डवायन कहलाये। हे राजन्! क्षत्रियकुल की जड़ काटनेवाले महापराक्रमी परशुराम, कश्यप को पृथ्वी देकर, इसी महेन्द्र पर्वत पर रहने लगे। उन्होंने सारी पृथ्वी को जीत लिया था, इसी कारण पृथ्वी पर के सारे क्षत्रियों के साथ वैर हो गया था ॥११।१५॥

वैशम्पायन कहते हैं—फिर महात्मा परशुराम ने चौदस के दिन सब ब्राह्मणों को, धर्मराज युधिष्ठिर को और उनके भाइयों को दर्शन दिये। हे राजेन्द्र! राजर्षिश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ महात्मा परशुराम की और अन्य तपस्वियों की पूजा की। परशुरामजी ने भी उनका आदर किया। फिर वे परशुरामजी से आज्ञा लेकर उस रात को महेन्द्र पर्वत पर रहे और प्रातःकाल उठकर दक्षिण दिशा को चल दिये ॥१६।१८॥

वनपर्व का एक सौ सत्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥११७॥

अथ अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८॥

वैशम्पायन उवाच—गच्छन्स तीर्थानि महानुभावः पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि क्वचित्क्वचिद्भारत सागरस्य ॥ १ ॥
स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥

एक सौ अठारह अध्याय ॥ ११८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—महानुभाव युधिष्ठिरजी तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में समुद्र के समीपवर्ती, ब्राह्मणों से शोभित, परम रमणीय स्थानों का दर्शन करने लगे। भाइयों के साथ महाराज युधिष्ठिर उन सब तीर्थों में स्नान करते हुए समुद्रगामिनी प्रशस्ता नदी के पास गये। उन्होंने उसमें स्नान और देवताओं

तत्रापि चाऽऽप्लुत्य महानुभावः संतर्पयामास पितॄन्सुरांश्च ।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥
ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम् ।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥
तत्राऽर्जुनस्याऽग्र्यधनुर्धरस्य निशम्य तत्कर्म नरैरशक्यम् ।
संपूज्यमानः परमर्षिसंघैः परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।
संपूजयन्विक्रममर्जुनस्य रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ॥ ६ ॥
ततः सहस्राणि गवां प्रदाय तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य ।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥
स तानि तीर्थानि च सागरस्य पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन् ।
क्रमेण गच्छन्परिपूर्णकामः शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥
तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद ।
तप्तं सुरैरत्र तपः पुरस्तादिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥
स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य वेदीं ददर्शाऽऽयतपीनबाहुः ।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसंघैः समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥

तथा पितरों का तर्पण किया और ब्राह्मणों को बहुत सा धन दिया। वहाँ से वे गोदावरी नदी को गये। हे राजन्! फिर गोदावरी में स्नान करके सर्व पापों से मुक्त होकर युधिष्ठिर द्राविड़ देश को गये। वहा परम पवित्र अगस्त्य तीर्थ, नारी तीर्थ आदि तीर्थों के दर्शन किये। श्रेष्ठ ऋषियों ने वहा उन का आदर किया। उन लोगों से श्रेष्ठ धनुर्द्धर अर्जुन के अलौकिक कार्यों का हाल सुनकर युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए ॥१।६॥

हे महाराज! द्रौपदी और भाइयों के साथ उन सब तीर्थों में स्नान करके अर्जुन की प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर वहाँ समुद्र-तट पर घूमने लगे। फिर उस सागर तीर्थ में उन्होंने कई हज़ार गोदान किये। इस प्रकार अन्य अनेक तीर्थों में जाकर पूर्ण-काम युधिष्ठिर ने सूर्पारक नाम के परम पवित्र तीर्थ के दर्शन किये। वहाँ समुद्र से कुछ दूर पर जाकर युधिष्ठिर ने वह परम प्रसिद्ध वन देखा जहाँ पहले देवताओं ने तपस्या की है और राजर्षियों ने अनेक यज्ञ किये है। वहा पर उन्होंने श्रेष्ठ योद्धा ऋचीक-पुत्र परशुरामजी की वेदी देखी। वहा पर अनेक तपस्वी रहते हैं और पुण्यात्मा लोग उस स्थान को परम पूजनीय समझते हैं ॥७।१०॥

तत्तो वसूनां वसुधाधिपः स मरुद्गणानां च तथाऽश्विनोश्च ।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणामिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य पतेरपां साध्यगणस्य चैव ।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा रुद्रस्य राजन्सगणस्य चैव ॥ १२ ॥
सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव पुण्याश्च ये चाऽप्यमरास्तथाऽन्ये ।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां ददर्श राजा सुमनोहराणि ॥ १३ ॥
तेषूपवासान्विबुधानुपोष्य दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥
स तेन तीर्थेन तु सागरस्य पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भिस्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥
तत्राऽभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः सहानुजैर्देवगणान्पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥
स द्वादशाहं जलवायु भक्षः कुर्वन्क्षपाहः सु तदाऽभिषेकम् ।
समंततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥
तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥
ते वृष्णयः पाण्डुसुतान्समीक्ष्य भूमौ शयानान्मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा सुदुःखिताश्चक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥

हे राजन्! महाराज युधिष्ठिर ने वसुगण, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, वैवस्वत, आदित्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु विभु, सविता, शिव, चन्द्र, दिवाकर, वरुण, साध्यगण, ब्रह्मा, पितृगण, गणमण्डलीयुक्त रुद्र, सरस्वती, सिद्धगण और अन्य पवित्र देवताओं के अत्यन्त मनोहर पवित्र स्थानों के दर्शन किये। उन स्थानों में व्रत, स्नान, दान आदि पुण्यकर्म करके फिर वे शूर्पारक तीर्थ में आ गये। अब भाइयों और ब्राह्मणों के साथ वे उसी सागर तीर्थ से होकर पृथ्वी भर में प्रसिद्ध प्रभास तीर्थ को गये। द्रौपदी, लोमश ऋषि ब्राह्मणगण और भाइयों के साथ राजा युधिष्ठिर ने वहाँ स्नान किया, देवताओं और पितरों का तर्पण किया। फिर बारह दिन तक केवल जल और वायु के सहारे रहकर, रात-दिन जल के ही भीतर बैठकर और पञ्चाग्नि ताप कर वहां तप करने लगे ॥ ११।१७॥

वृष्णिवंश के मुखिया यादवश्रेष्ठ कृष्ण और

ततः स रामं च जनार्दनं च कार्ष्णिं च सांबं च शिनेश्च पौत्रम् ।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां चक्रे यथा धर्ममहीनसत्त्वः ॥ २० ॥
ते चापि सर्वान्प्रतिपूज्य पार्थांस्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं संपरिवार्य राजन्नुपाविशन्देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥
तेषां स सर्वं चरितं परेषां वने च वासं परमप्रतीतः ।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ॥ २२ ॥
श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीतास्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।
नेत्रोद्भवं संमुमुचुर्महार्हा दुःखार्जितं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासेयादवपाण्डवसमागमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

बलराम ने सुना कि राजा युधिष्ठिर प्रभास तीर्थ में आकर उग्र तपस्या कर रहे हैं। तब वे सैन्य-सामन्त-सहित प्रभास तीर्थ में राजा युधिष्ठिर के पास आये। वृष्णिवंशी यादवों ने पाण्डवों को मलिनशरीर और पृथ्वी पर सोते देखा। द्रौपदी को भी वैसी ही अयोग्य दशा में उन्होंने देखा। तब वे दुःखित होकर आर्त्तनाद करने लगे। फिर पुरुषार्थी महाराज युधिष्ठिर ने बलराम, श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण, के पुत्र साम्ब, शिनि के पुत्र सात्यकि और अन्यान्य वृष्णिवंशी यादवों के पास जाकर उनकी पूजा की ॥१८।२०॥

यादवों ने भी पाण्डवों का पूजन और सत्कार किया। इसके बाद, देवता जैसे इन्द्र को घेरकर बैठते हैं वैसे ही, वे लोग महाराज युधिष्ठिर को चारों ओर से घेरकर बैठ गये। प्रसन्नचित्त होकर राजा युधिष्ठिर उनके आगे शत्रुओं के चरित्र, अपने वनवास और अस्त्र-प्राप्ति के लिए अर्जुन के इन्द्र-लोक जाने का वृत्तान्त कहने लगे। महानुभाव यादवगण युधिष्ठिर के मुँह से सब वृत्तान्त सुनकर और पाण्डवों को अत्यन्त दुर्बल देखकर शोक प्रकट करते हुए आँसू बहाने लगे ॥२१।२३॥

वनपर्व का एक सौ अठारह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११८ ॥

अथ एकोनविंशतिशततमोऽध्याय ॥ ११९ ॥

जनमेजय उवाच—प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा ।
किमकुर्वन्कथाश्चैषां कास्तत्राऽऽसंस्तपोधन ॥ १ ॥

एक सौ उन्नीस अध्याय ॥ ११९ ॥

जनमेजय ने पूछा—हे तपोधन ! सब शास्त्रों के ज्ञाता और परस्पर मित्रता रखने वाले महात्मा

ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रभासतीर्थं संप्राप्य पुण्यतीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान्वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥

बलदेव उवाच—न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय जंतोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥
दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो वरीयानितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दुर्योधने चापि विवर्धमाने युधिष्ठिरे चाऽसुखमात्तराज्ये ।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः शंका मिथः संजनिता नराणाम् ॥ ७ ॥
अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥

पाण्डवों और यादवों ने प्रभास तीर्थ में जाकर क्या क्या काम किये ? और वहाँ परस्पर उनकी क्या बातचीत हुई ॥१।२॥

वैशम्पायन ने कहा—महाराज ! यादव लोग पवित्र प्रभास तीर्थ में पहुंचकर पाण्डवों को घेरकर वहाँ बैठ गये । फिर दूध, कुन्द के फूल, कमलनाल और चाँदी के समान उज्ज्वल रङ्गवाले बलराम ने श्रीकृष्णचन्द्र से कहा—हे कृष्ण! जब धर्मपुत्र युधिष्ठिर जटा वल्कलधारी होकर वनवास के क्लेशों को भोग रहे हैं तब धर्म का आचरण मनुष्य की उन्नति का कारण और अधर्म का आचरण अवनति का कारण कैसे कहा जा सकता है ? दुर्मति दुर्योधन इस विशाल पृथ्वीमण्डल का स्वामी होकर बड़े सुख से राज्य कर रहा है । अब भी पृथ्वी फटकर उसे पाताल नहीं भेज देती । यह देखकर थोड़ी बुद्धिवाला मनुष्य भी यह निश्चय कर लेगा कि धर्म की अपेक्षा अधर्म करना ही अच्छा है । अधर्मी होकर दुर्योधन ने राज्य पाया और धर्म का पालन करने से युधिष्ठिर लगातार क्लेश भोग रहे हैं ! यह देख कर मनुष्यों के मन में यह संशय हुए बिना नहीं रह सकता कि धर्म करना चाहिए या अधर्म ॥३।७॥

ये धर्मात्मा सत्यवादी दानी महाराज युधिष्ठिर राज्य और सुख से भले ही भ्रष्ट हो जायँ, पर धर्म से भ्रष्ट होकर भला कैसे फल-फूल सकते हैं ! हा! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, और कुलवृद्ध राजा धृतराष्ट्र निरपराध पाण्डवों को वनवास देकर किस

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रव्राज्य पार्थान्सुखमाप्नुवन्ति धिक्पापबुद्धीन्भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥
किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः पितॄन्समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक्चरितं मयेति पुत्रानपापान्व्यपरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥
नाऽसौ धिया संप्रतिपश्यति स्म किं नाम कृत्वाऽहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ॥ ११ ॥
नूनं समृद्धान्पितृलोकभूमौ चामीकराभान्क्षितिजान्प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः कृत्वा नृशंसं वत पश्यति स्म ॥ १२ ॥
व्यूढोत्तरांसान्पृथुलोहिताक्षानिमान्स्म पृच्छन्स शृणाति नूनम् ।
प्रास्थापयद्यत्स वनं सशंको युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३ ॥
योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य मुञ्चंति सैन्यानि शकृत्समूत्रम् ॥ १४ ॥
स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी समेत्य नानायुधवाणपाणिः ।
वने स्मरन्वासमिमं सुघोरं शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५ ॥
न ह्यस्य वीर्येण वलेन कश्चित्समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः ।

प्रकार सुखी हो सके ? उन कुरुकुल के मुखियों का धिक्कार है ? पापबुद्धि धृतराष्ट्र निष्पाप भतीजों को राज्य से भ्रष्ट करके परलोक में पितरों के सामने यह किस तरह कहेंगे कि "उन्होंने अपने भतीजों के साथ अच्छा व्यवहार किया है"॥८।१०॥

धृतराष्ट्र ज्ञान की दृष्टि से यह नहीं देखते कि वे पूर्व जन्म में कौन सा पाप करने के कारण जन्म से ही अन्धे हुए हैं। उनका जो यह विचार होता तो वे शायद कभी निर्दोष पाण्डवों को राज्यभ्रष्ट करके निकाल न देते। प्रतीत होता है कि धृतराष्ट्र को मरघट में मरण-सूचक फूले हुए सुवर्ण की आभावाले विचित्र पुरुष देख पड़ते हैं। इसीसे धृतराष्ट्र ऐसे ओछे काम कर रहे है। चौड़े और भरे हुए कन्धों तथा लाल नेत्रोंवाले उक्त पुरुषों से पूछने पर वे अवश्य कुछ सुन पाते होंगे। शङ्कित धृतराष्ट्र ने भाइयों-सहित शस्त्रधारी युधिष्ठिर को जो वनवास दिया सो अच्छा नहीं किया। जो महावीर भीमसेन कुपित होने पर किसी भी शस्त्र के बिना योंही अपने पराक्रम से युद्धभूमि में असंख्य शत्रुओं की सेना को सहज ही चौपट कर सकते हैं और जिनका गम्भीर सिंहनाद सुनकर डरे हुए सैनिकों का मल-मूत्र निकल पड़ता है, जिनके दोनों हाथ बहुत लम्बे हैं, वही महापराक्रमी भीमसेन इस समय भूख और प्यास से व्याकुल और सुस्त हो रहे है। मैं समझता

स शीतवातातपकर्शिताङ्गो न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६ ॥
प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा वृकोदरः सानुचरान्रणेषु ।
स्वस्त्यागमद्योऽतिरथस्तरस्वी सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः ॥ १७ ॥
यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्समागतान्दाक्षिणात्यान्महीपान् ।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य तरस्विनं तापसवेषरूपम् ॥ १८ ॥
यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः ।
सोयं वने मूलफलेन जीवञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ॥ १९ ॥
सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो वेदीतलादुत्पतिता सुता या ।
सेऽयं वने वासमिमं सुदुःखं कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥
त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य देवेश्वरस्याप्यथवाऽश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु वने चरन्त्यस्तसुखाः सुखार्हाः ॥ २१ ॥
जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्ये ऊनविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११९॥

हूँ कि ये वनवास के इन अत्यन्त कठिन क्लेशों को याद करके हाथ में शस्त्र लेकर जब युद्धभूमि में पहुँचेंगे तब शत्रुओं को नष्ट कर डालेंगे। पृथ्वी पर जिनके समान वीर कोई नहीं है वे भीमसेन गर्मी-जाड़े-वर्षा-आंधी आदि की पीड़ा से दुबले हो रहे हैं ॥११।१६॥

ये युद्ध में अवश्य ही किसी शत्रु को जीता न छोड़ेंगे। रथ पर बैठकर अनुचरों के साथ जाकर जिन्होंने पूर्व दिशा के सब राजाओं को हराया था वे महाबली भीमसेन वल्कल पहने हुए वनवास के कष्ट उठा रहे हैं। जिन्होंने सिन्धु-तट पर एकत्र हुए सब दक्षिण दिशा के राजाओं को हराया था वे सहदेव इस समय तपस्वियों के वेश से यहाँ रहते हैं। द्वन्द्वयुद्ध में श्रेष्ठ ये नकुल रथ पर चढ़कर पश्चिम दिशा के सब राजाओं को हरा चुके हैं। शोक है कि वही इस समय वन में फल-मूल खाकर जटाधारी और मलिनशरीर होकर विचरते हैं। अतिरथी महाराज द्रुपद के समृद्धिशाली यज्ञ की वेदी से निकली, सुख-भोग के योग्य द्रौपदी इस समय कैसे कठिन दुःख सह रही हैं ॥१७।२०॥

ये पाण्डव धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमार देवताओं के पुत्र हैं। बड़े खेद की बात है कि ये सुखभोग के अत्यन्त उपयुक्त पात्र होकर भी वनवास

के कष्ट भोग रहे हैं। महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, अनुचरों और स्त्री-सहित परास्त तथा अपमानित हुए और दुष्ट दुर्योधन बढ़कर परम ऐश्वर्य भोग रहा है। यह सब होने पर भी पर्वतों-सहित यह पृथ्वी पाताल को क्यों नहीं चली जाती ॥२१।२२॥

वनपर्व का एक सौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥११९॥

अथ विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

सात्यकिरुवाच—न राम कालः परिदेवनाय यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे ।
समाचरामो ह्यनतीतकालं युधिष्ठिरो यद्यपि नाऽऽह किंचित् ॥ १ ॥
ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके ते नाऽऽत्मना कर्म समारभन्ते ।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः शिव्यादयो राम यथा ययातेः ॥ २ ॥
येषां तथा राम समारभन्ते कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके ।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा नाऽनाथवत्कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥ ३ ॥
कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ ।
वसन्त्यरण्ये सह सोदरीयैस्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः ॥ ४ ॥
निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥ ५ ॥
त्वं ह्येव कोपात्पृथिवीमपीमां संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा ।

एक सौ बीस अध्याय ॥ १२० ॥

सात्यकि ने कहा—हे बलदेवजी ! यह समय पछतावा करने का नहीं है। यद्यपि युधिष्ठिर कुछ नहीं कहते, किन्तु हम लोगों को तो समयानुकूल उचित कार्य करना चाहिए। शैव्य आदि राजा जिस तरह राजा ययाति के सर्व कार्य करते थे वैसे ही जगत् में जिनके सहायक हैं उन लोगों के कार्यों को उनके सहायक लोग ही किया करते हैं; वे आप कोई कार्य नहीं करते। जिनके कार्यों को सहायक लोग उनकी सम्मति से किया करते हैं वे ही सनाथ वीरगण, अनाथ की तरह, कष्ट नहीं भोगते। मैं, आप, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और साम्ब ये त्रैलोक्य का राज्य हस्तगत कर सकते हैं। हम ऐसे सहायकों के रहते युधिष्ठिर किसलिए अपने भाइयों के साथ वनवास कर रहे हैं ? यादवों की सेना अभी बहुत से अस्त्र-शस्त्र लेकर, विचित्र कवच पहनकर, युद्धयात्रा कर दे और बन्धु-बान्धवों-सहित दुर्योधन यादवों से परास्त होकर यमराज की पुरी को जाय। हे बलदेवजी ! एक आप ही कुपित

सधार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ॥ ६ ॥
भ्राता च मे यः सखा गुरुश्च जनार्दनस्याऽऽत्मसमश्च पार्थः ।
यदर्थमैच्छन्मनुजाः सुपुत्रं शिष्यं गुरुं चाऽप्रतिकूलवादम् ॥ ७ ॥
यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्करोति कर्माग्र्यमपारणीयम् ।
तस्याऽस्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रैर्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ॥ ८ ॥
कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः शरोत्तमैरुन्मथिताऽस्मि राम ।
खड्गेन चाऽहं निशितेन संख्ये कायाच्छिरस्तस्य बलात्प्रमथ्य ॥ ९ ॥
ततोऽस्य सर्वाननुगान्हनिष्ये दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान् ।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय पश्यन्तु भैमा युधि जातहर्षाः ॥ १० ॥
निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्यानग्निं महाकक्षमिवाऽन्तकाले ।
प्रद्युम्नमुक्तान्निशितान्न शक्ताः सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ॥ ११ ॥
जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य कार्ष्णिर्भवत्येव यथा रणस्थः ।
सांबः ससूतं सरथं भुजाभ्यां दुःशासनं शास्तु बलात्प्रमथ्य ॥ १२ ॥
न विद्यते जाम्बवती सुतस्य रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।

होकर सारे पृथ्वीमण्डल का नाश कर सकते हैं। इसलिए इन्द्र ने जैसे वृत्रासुर को मारा था वैसे ही आप सैन्य-सामन्त के साथ दुर्योधन को मारिए। शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्ण को कुछ भी न करना पड़ेगा ॥१।६॥

श्रीकृष्ण के तुल्य प्रभावशाली अर्जुन मेरे भाई, सखा और गुरु हैं; उनकी भी सहायता की आवश्यकता नहीं। शत्रु का विनाश करने के लिए मनुष्य सुपुत्र, शिष्य और अनुकूल गुरु की इच्छा करते हैं। सो इस कठिन कार्य को हमारे पुत्र आदि करते हैं। शत्रुओं की अस्त्र-वर्षा को मैं अच्छे-अच्छे अस्त्रों से नष्ट करके सबको युद्ध में जीत लूँगा। हे राम! शत्रु-पक्ष के अस्त्र शस्त्रों को अपने दिव्य अस्त्रों से नष्ट करके मैं अपने सर्प-विष-अग्नि के तुल्य उत्तम बाणों से शत्रु का सिर काटकर धड़ से अलग कर दूँगा। युद्ध में बलपूर्वक खड्ग से दुर्योधन का सिर काटकर मैं उसके कर्ण आदि सब अनुचरों को भी मारूँगा। हे बलरामजी! मैं अपने अस्त्रों के द्वारा कौरवों के प्रधान-प्रधान वीरों को मारूँगा। इस प्रकार अन्तकाल में आग जैसे सूखे वन को जलाती है वैसे अकेले शत्रु सेना को नष्ट करते हुए मुझे प्रसन्नचित्त पाण्डवों के पक्षवाले देखें ॥७।१०॥

द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और विकर्ण आदि वीर प्रद्युम्न के छोड़े हुए बाणों को कभी न सह

एतेन बालेन हि शंबरस्य दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ॥ १३ ॥
वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहुरेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम सांबस्य महारथस्य रणे समक्षं रथमभ्युदीयात् ॥ १४ ॥
यथा प्रविश्याऽन्तरमन्तकस्य काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्याऽऽन्तरमस्य संख्ये को नाम जीवन्पुनराव्रजेच्च ॥ १५ ॥
द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १६ ॥
किं नाम लोकेषु विपह्यमस्ति कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणेश्चक्रायुधस्याऽप्रतिमस्य युद्धे ॥ १७ ॥
ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणिर्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु कीर्णाऽकुशैर्वेदिमिवाऽध्वरेषु ॥ १८ ॥
गदोल्मुकौ बाहुक भानुनीथाः शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १९ ॥
सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान्धृतराष्ट्रपुत्राँल्लोके यशस्फीतमुपाकरोतु ॥ २० ॥
ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु यावद्व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।

सकेंगे। आप अभिमन्यु के बल-वीर्य और श्रीकृष्णके पुत्र साम्ब के रणकौशल को तो अच्छी तरह जानते है। महाबली साम्ब सारथी और रथसहित दुःशासन को पकड़कर पृथ्वी पर पछाड़कर परास्त करेंगे। रणचतुर साम्ब युद्ध में क्या नहीं कर सकते? प्रद्युम्न ने बाल्यावस्था में ही शम्बर दानव की सेना को नष्ट किया था। गोल और मोटी जाँघों तथा भुजाओंवाले साम्ब ने युद्ध में अश्वचक्र दानव को मारा है। ऐसा कौन वीर है जो युद्ध में महारथी साम्ब के सामने अपना रथ खड़ा कर सके? मनुष्य जैसे काल के आने पर यमराज के यहाँ जाकर फिर वहाँ से नहीं लौटता वैसे ही कोई वीर साम्ब के सामने युद्ध के लिए जाकर फिर जीता नहीं लौट सकता ॥११।१५॥

भीष्म, द्रोण तथा पुत्रों-सहित सोमदत्त को और सम्पूर्ण सैनिकों को कृष्णचन्द्र तीक्ष्ण बाणों की आग से क्षण भर में भस्म कर देंगे। वे चक्र और श्रेष्ठ बाणों को लेकर जब युद्धभूमि में खड़े होते हैं तब देवताओं में भी ऐसा कोई नहीं जो उनका सामना कर सके और उनके प्रहार को सह सके। ढाल-तलवार लिये हुए अनिरुद्ध धृतराष्ट्र के पुत्रों को अचेत करके उनके कटे हुए सिरों से पृथ्वी को, कुशों से पूर्ण यज्ञवेदी की तरह, व्याप्त

युधिष्ठिरः पारयते महात्मा द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २१ ॥
अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारिस्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रामेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच—असंशयं माधव सत्यमेतद् गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व ।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं नेच्छेत्कुरूणामृषभः कथंचित् ॥ २३ ॥
न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्युधिष्ठिरो जातु जह्यात्स्वधर्मम् ।
भीमार्जुनौ चाऽतिरथौ यमौ च तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २४ ॥
उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासेन्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतो ह्ययम् ॥ २५ ॥
यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेतास्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—नेदं चित्रं माधव यद्ब्रवीषि सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम् ।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः कृष्णं च वेदाऽहमथो यथावत् ॥ २७ ॥
यदैव कालं पुरुषप्रवीरो वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २८ ॥

कर देंगे । गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ, कुमार, निशठ, रणपण्डित सारण और चारुदेष्ण, ये यादव-कुँवर अवश्य अपने कुल के योग्य कार्य करेंगे । शूरवीर वृष्णि, भोज और अन्धकवंश के योद्धा और सम्पूर्ण यादव मिलकर धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर संसार में यश पावें । [मेरी तो यही इच्छा और सम्मति है] ॥१६।२०॥

कुरुश्रेष्ठ धार्मिक महात्मा युधिष्ठिर ने द्यूतक्रीड़ा के समय जो अंगीकार किया था वह जब तक पूरा नहीं होता तब तक अभिमन्यु राज्य करेंगे । हमारे अस्त्र-प्रहार करने पर पृथ्वी जब धृतराष्ट्र के पुत्रों से शून्य हो जायगी और कर्ण मारा जायगा तब धर्मराज निष्कण्टक होकर राज्य करेंगे । यह कार्य हम लोगों के योग्य और यश को बढ़ानेवाला है । यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहो ! तुमने सत्य कहा है । हम भी तुम्हारी बात को मानते हैं, किन्तु कुरुकुल-प्रधान युधिष्ठिर दूसरे के बाहु-बल से राज्य प्राप्त करना कभी स्वीकार न करेंगे । धर्मपुत्र युधिष्ठिर, अतिरथी भीम और अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी, ये कभी काम, भय या लोभ के वशीभूत होकर अपने धर्म को न छोड़ेंगे । पृथ्वी पर अपनी समता न रखने वाले

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताऽप्रमेया द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २९ ॥
तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाऽभिवाद्य वृद्धान्परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मुस्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥ ३० ॥
विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ ३१ ॥
सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास ।
द्विजातिमुख्यैर्महात्मा संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

भीम और अर्जुन जिनके भाई हैं, और नकुल तथा सहदेव जिनके अनुगामी हैं वे युधिष्ठिर क्यों न सारी पृथ्वी का राज्य पाकर उसका पालन कर सकेंगे ? महात्मा पाञ्चालराज, केकयराज और चेदिराज के साथ मिलकर हम लोग जब युद्ध में पराक्रम करेंगे, तब अवश्य ही सारे शत्रु जड़-मूल से नष्ट हो जायँगे ॥२१।२६॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे यादवश्रेष्ठसात्यकि ! आपने जो कहा वह विचित्र नहीं है । किन्तु सत्य की रक्षा करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है, राज्य की रक्षा करना नहीं । मुझे और मेरी प्रकृति को केवल श्रीकृष्ण ही ठीक-ठीक जानते हैं और मैं भी उनको यथार्थ रूप से जानता हूँ । हे वीर ! पुरुषोत्तम कृष्ण जब पराक्रम करने के उपयुक्त समय समझेंगे तब तुम और श्रीकृष्ण दोनों ही धृतराष्ट्र के पुत्रों को जीत लोगे । हे यादव वीरो ! मैं आप लोगों के दर्शन पाकर प्रसन्न हुआ । अब आप सब लोग अपने अपने भवन को पधारें । आप लोग नरनाथ और मेरे सहायक है । ईश्वर चाहेगा तो फिर सब लोग मिलेंगे और मै सब के दर्शन पाऊँगा । मै चाहता हूँ कि आप लोग उतावली करके धर्म के मार्ग से भ्रष्ट न हों । अब एक दूसरे से विदा होकर, बड़े-बूढ़ों को प्रणाम कर, बालकों को आशीर्वाद देकर, बराबरवालों को गले लगाकर यादव लोग अपनी नगरी की ओर पाण्डव लोग तीर्थयात्रा को चल दिये । श्रीकृष्ण से विदा होकर धर्मराज युधिष्ठिर लोमशजी के साथ, भाइयों और अनुचरोंसहित, वहां से चलकर विदर्भ देश होते हुए पयोष्णी नदी के पास पहुँचे । उस नदी का जल ऐसा पवित्र है कि यज्ञ में उसका जल पीना सोमरस के पीने के समान माना जाता है । ब्राह्मण लोग जिन महाराज युधिष्ठिर की सराहना कर रहे थे उन्होंने पयोष्णी का जल पिया ॥२७।३२॥

—०—

वनपर्व का एक सौ बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२०॥

अथ एकविंशत्याधिकशततमोऽध्याय ॥१२१॥

लोमश उवाच—नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरन्दरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन्स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥ १ ॥
इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥
आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभु ।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥
तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरणमयम् ।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥
चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः ।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥ ५ ॥
सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः ।
तस्य स्म यूपान्यज्ञेषु भ्राजमानान्हिरणमयान् ॥ ६ ॥
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥ ७ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
प्रसंख्यानानसंख्येयान्प्रत्यगृह्णन्द्विजातयः ॥ ८ ॥

एक सौ इक्कीस अध्याय ॥१२१॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजन् ! मैंने सुना है कि इसी स्थान पर यज्ञ करके राजा नृग ने इन्द्र को तृप्त किया था। यहीं पर देवताओं और प्रजापतियों ने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक याग यज्ञ किये थे। अमूर्तरयम् के पुत्र राजा गय ने यहीं सात अश्वमेध करके सोमरस के द्वारा इन्द्र को तृप्त किया था। यज्ञ में जो सामान लकड़ी और मिट्टी का हुआ करता है वह इन सातों अश्वमेधों में सोने का बना था। इन यज्ञों में चषाल, यूप, चमस, स्थाली, पात्री, स्रुक्, स्रुवा, ये सात सामग्रियाँ जगत्प्रसिद्ध हुईं ॥१।५॥

उनके इन यज्ञों में प्रत्येक यूप के ऊपर सात-सात चषाल स्थापित हुए थे। हे युधिष्ठिर ! उन यज्ञों में समुज्ज्वल सुवर्णमय यूपों को इन्द्र आदि देवताओं ने स्वयं उठाया था। पृथ्वीनाथ गय के इन श्रेष्ठ यज्ञों में इन्द्र आदि देवता सोमरस पीकर और ब्राह्मण अधिक दक्षिणा पाकर आनन्द के मारे उन्मत्त से हो उठे थे। हे महाराज ! पृथ्वी की

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥ ९ ॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत्प्रददौ गयः ।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ १० ॥
भवेत्संख्येयमेतद्धि यदेतत्परिकीर्तितम् ।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणाव्रतः ॥ ११ ॥
हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १२ ॥
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १३ ॥
स लोकान्प्राप्तवानैन्द्रान्कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत्पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥
तस्मात्त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत ।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १६ ॥

बालू के कणों को, आकाश के तारागणों की और वर्षा की बूँदों को चाहे कोई गिनती कर भी ले, परन्तु राजा गय ने सदस्यों को जो धन दिया था उसकी सख्या नहीं की जा सकती । उन्होंने दूर दूर से आये हुए ब्राह्मणों को विश्वकर्मा की बनाई सोने की गायें देकर सन्तुष्ट किया था । हे महाराज ! राजा गय के स्थापित किये असख्य चैत्य पृथ्वी भर में फैले हुए थे । वे अपने इन कर्मों के फल से स्वर्गलोक को गये । जो कोई पयोष्णी नदी में स्नान करता है वह उस लोक को जाता है जिसको राजा गय गये हैं । इसलिए हे राजेन्द्र ! आप भाइयों-सहित इस पयोष्णी नदी के जल में स्नान करने से पवित्र हो जायेंगे ॥९।१५॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे निष्पाप ! नरनाथ युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ पयोष्णी नदी में स्नान किया फिर वे वहाँ से वैडूर्य पर्वत और महानदी नर्मदा को गये । भगवान् लोमश ने वहा के सब तीर्थों का वर्णन किया । युधिष्ठिरजी नियम धारण किये हुए उन सब तीर्थों में गये । उन तीर्थों में स्नान

समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
तत्राऽस्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च ।
यथायोग्यं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह ॥
तत्र तत्राऽददद्वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १८ ॥
लोमश उवाच—देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम् ।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १९ ॥
संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ।
एनमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥
एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते ।
साक्षाद्यत्राऽपिबत्सोममश्विभ्यां सह कौशिकः ॥ २१ ॥
चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः ।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः ॥
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान्पाकशासनः ।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २३ ॥

करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत सा धन दिया। ॥१६।१८॥

लोमशजी कहते हैं—हे कौन्तेय ! जो मनुष्य वैदूर्य पर्वत के दर्शन करता और नर्मदा नदी में स्नान करता है उसे देवताओं और राजर्षियों की गति प्राप्त होती है। हे नरेन्द्र ! यह स्थान त्रेतायुग और द्वापर युग का सन्धिस्थल है। यहां आने से मनुष्य सर्व पापों से मुक्त हो जाते हैं। हे राजन् ! यह राजा शर्याति के यज्ञ का स्थान देख पड़ता है। यहीं पर इन्द्र, ने अश्विनीकुमार के साथ सोमरस पिया था और महातपस्वी भृगुनन्दन च्यवन ने इन्द्र पर कुपित होकर उन्हें जड़प्राय कर दिया था। यहीं पर उन्होंने राजकुमारी सुकन्या को स्त्री-रूप से प्राप्त किया था ॥१९।२२॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन् ! महातपस्वी च्यवन ने क्यों कुपित होकर इन्द्र को जड़प्राय

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन्कृतवान्सोमपीथिनौ ।
एतत्सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान्मम ॥ २४ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः

बना दिया था ? अश्विनीकुमार को यज्ञ का सोम रस ही उन्होंने क्यों पिलाया ? आप यह सब वृत्तान्त मुझसे कहिए ॥२३।२४॥

वनपर्व का एक सौ इक्कीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२१ ॥

अथ द्वाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

लोमश उवाच—भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत ।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव ।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशांपते ॥ २ ॥
सवल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः ।
कालेन महता राजन्समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥
तथा स संवृतो धीमान्मृत्पिण्ड इव सर्वशः ।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः ।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥

एक सौ बाईस अध्याय ॥ १२२ ॥

लोमशजी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! महर्षि भृगु के च्यवन नाम के एक पुत्र थे । महातेजस्वी च्यवन एक सरोवर के किनारे तप करते थे । वे वीर-आसन से एक ही स्थान पर मिट्टी के ढूह की तरह बहुत समय तक बैठे रहे । तपस्या करते हुऐ बहुत समय तक एक स्थान बैठे रहने से उनके शरीर पर मिट्टी ही मिट्टी जम गई, लताएँ उग आईं और चींटियों ने अपने बिल बना लिये । चींटियों के बिलों से व्याप्त मिट्टी के ढूह की तरह रहकर महात्मा च्यवन घोर तपस्या करने लगे ॥१।४॥

बहुत समय व्यतीत होने पर राजा शर्याति [सेना साथ लिये शिकार खेलते हुए] उसी सरो-वर के पास पहुँचे जहाँ च्यवनजी तप कर रहे थे। हे भारत ! उनके साथ उनकी चार हज़ार रानियाँ

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन्परिग्रहः ।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥
सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता ।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥
सा वै वसुमती तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम् ।
वनस्पतीन्विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥
रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥
तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम् ।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥
तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः ।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोवलसमन्वित ॥ ११ ॥
तामावभाषे कल्याणी सा चाऽस्य न शृणोति वै ।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥ १२ ॥
कौतूहलात्कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता ।
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदाऽस्य लोचने ॥ १३ ॥

और एक परम सुन्दरी बेटी सुकन्या भी थी। वह सुकन्या, बढ़िया गहने पहने, सखियों के साथ घूमती हुई वहाँ पर पहुँची जहाँ तपस्वी च्यवन तप कर रहे थे और उनके शरीर पर मिट्टी की बाँबी बन गई थी। वह वहाँ पर सखियों के साथ रमणीय स्थानों पर की सैर करती और सब वनस्पतियों को पहचानती फिर रही थी। वह परम रूपवती जवान राजकन्या कामदेव के मद से मतवाली हो रही थी वह इधर-उधर रमणीय पुष्पों से शोभित वृक्षों की डालियाँ तोड़ती फिरती थी। एक समय केवल एक वस्त्र पहने अनेक गहनों से सजी हुई अकेली वह राजकन्या बिजली के समान दमकती हुई इधर-उधर फिर रही थी। उसे देखकर च्यवनजी का चित्त चलायमान् हो उठा ॥५।१०॥

उन्होंने विहार करने की इच्छा जिताने के लिए क्षीण स्वर से राजकुमारी को पुकारा किन्तु वह उनके उस धीमे स्वर को सुन नहीं सकी। कुछ देर के पश्चात् राजकन्या ने फिरकर उस मिट्टी के ढूह के भीतर से मुनिवर की चमकती हुई आँखें देखीं। बुद्धि मोह के कारण कौतूहलवश होकर राजकुमारी ने "यह क्या है ?" कहते हुए काँटे से च्यवन की आँखें फोड़ दीं। राजकन्या ने जब यह

अक्रुध्यत्स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान् ।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ॥ १४ ॥
ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत्स पार्थिवः ॥ १५ ॥
तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनाऽपकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ज्ञातं वा यदि वाऽज्ञातं तद्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥ १७ ॥
सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥ १८ ॥
पर्यपृच्छत्सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
अनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ॥ १९ ॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाऽब्रवीत् ।
मयाऽटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ॥ २० ॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥ २१ ॥

अनर्थ कर डाला तब मुनि को बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने कुपित होकर ऐसा कर दिया कि राजा शर्याति की सारी सेना का मलमूत्र बन्द हो गया ॥११।१६॥

इस प्रकार मलमूत्र के रुक जाने पर सैनिक लोग बहुत ही दुःखित और पीड़ित हुए। राजा शर्याति ने उन्हें पीड़ित देखकर उनसे पूछा—आज कल में यदि तुममें से किसी ने, जानकर या बिना जाने, इन क्रोधी स्वभाववाले ऋषि का कुछ अपराध किया हो तो शीघ्रातिशीघ्र मुझसे कह दो। सैनिकों ने कहा—हम नहीं जानते कि किसी ने ऋषि का कुछ अपराध किया है या नहीं। चाहे जिस उपाय से हो, आप ही इसका पता लगाइए। तब राजा ने अपने इष्ट-मित्रों और अनुचरों को धमकाकर समझाकर और मित्रता दिखाकर पूछा, परन्तु वे भी कुछ नहीं बता सके। तब राजकुमारी सुकन्या ने सब सैनिकों को मलमूत्र रुकने से पीड़ित, दुःखित और पिता को चिन्तित देखकर कहा—इस वन में घूमते-घूमते एक मिट्टी के ढूह के भीतर मैंने दो चमकते हुए पदार्थ देखे और उन्हें जुगनू समझकर काँटे से छेद दिया था ॥१७।२०॥

यह सुनते ही राजा शर्याति शीघ्रता से उस

तत्राऽपश्यत्तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥
अज्ञानाद्बालया यत्ते कृतं तत्क्षन्तुमर्हसि ।
ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥ २३ ॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २४ ॥
तामेव प्रतिगृह्याऽहं राजन्दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २५ ॥
लोमश उवाच—ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २६ ॥
प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान्प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥ २७ ॥
सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २८ ॥
अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका ।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्येद्वाविंशाधिकशततमोऽध्यायः.

स्थान पर आये। वहां उन्हें तपोवृद्ध और वयोवृद्ध च्यवन ऋषि देख पड़े। तब हाथ जोड़कर सैनिकों के लिए प्रार्थना करते हुए राजा ने कहा — प्रभो! मेरी कन्या ने अज्ञानवश जो आपका घोर अपराध किया है उसे क्षमा कीजिए। भार्गव च्यवन ने कहा—तुम्हारी कन्या ने अभिमान के वश होकर अनादर से मेरी आंखें फोड़ डाली हैं। इसी कारण मैं सत्य कहता हूं, तुम्हारी इस कन्या को प्राप्त किये बिना मेरा क्रोध शान्त न होगा ॥२१।२५॥

लोमशजी कहते हैं—ऋषि के ये वाक्य सुनकर राजा शर्याति ने कुछ सोच-विचार किये बिना ही अपनी दुलारी कन्या मुनि को विवाह दी। उस कन्या को स्त्री-रूप में पाकर महात्मा च्यवन राजा पर प्रसन्न हो गये। राजा भी ऋषि को प्रसन्न करके सब सैनिकों के साथ सुखपूर्वक अपनी राजधानी को गये। राजकुमारी सुकन्या भी तपस्वी पति को पाकर असन्तुष्ट नहीं हुई। वह प्रीति और भक्ति के साथ तप, नियमपालन, अतिथि-सत्कार और अग्नि की आराधना करती हुई पति की सेवा करने लगी ॥२६।२९॥

वनपर्व का एक सौ बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१२२॥

अथ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

लोमश उवाच—कस्यचित्त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप ।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥
तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव ।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥ २ ॥
कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन्किं करोषि च ।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥
ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ॥ ४ ॥
अथाऽश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु ।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥
भ्राजसेऽस्मिन्वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा ।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ॥ ६ ॥
अनाभरणसंपन्ना परमाम्बरवर्जिता ।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥ ७ ॥
सर्वाभरणसंपन्ना परमाम्बरधारिणी ।
शोभसे त्वनवद्याङ्गी न त्वेवं मलपंकिनी ॥ ८ ॥

एक सौ तेईस अध्याय ॥ १२३ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे महाराज! कुछ दिनों के पश्चात् एक समय अश्विनीकुमार देवों ने स्नान करके नङ्ग-धड़ङ्ग सुकन्या को देख लिया। देवकन्या के समान सुन्दरी सुकन्या को देखकर अश्विनी-कुमार उसके पास आकर पूछने लगे—हे सुन्दरी! तुम किसकी कन्या हो? हे शोभने! इस भवन में तुम क्या करती रहती हो? यह हम जानना चाहते हैं। सब वृत्तान्त हमसे कहो ॥१।३॥

तब सुकन्या ने लज्जित होकर उन देवताओं से कहा—मैं राजा शर्याति की कन्या और महर्षि च्यवन की भार्या हूँ। देवताओं ने हँसकर कहा—हे कल्याणि! तुम्हारे पिता ने इन बूढ़े ब्राह्मण के हाथ में तुम्हें क्यों सौंप दिया? सुन्दरी! तुम इस वन में बिजली के समान दमक रही हो। भामिनी! देवलोक में भी तुम्हारे समान सुन्दरी स्त्री नहीं देख पड़ती। तुम उत्तम कपड़ों और गहनों के बिना भी इस वन को अत्यन्त शोभित कर रही हो। किन्तु उत्तम वस्त्रों और आभूषणों को पहनने से

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम् ।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ९ ॥
असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते ।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ॥ १० ॥
पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
रताऽहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशंकतम् ।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ॥ १२ ॥
युवानं रूपसंपन्नं करिष्यावः पतिं तव ।
ततस्तस्याऽऽवयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ॥ १३ ॥
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे ।
सा तयोर्वचनाद्राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ॥ १४ ॥
उवाच वाक्यं यत्ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ॥ १५ ॥
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ।

तुम्हारी जैसी शोभा होती वैसी शोभा यों मलिन रहने से नहीं होती है। हे सुन्दरी! ऐसी सुन्दर होकर भी तुम इन बिलकुल बूढ़े, कामभोग और भरण-पोषण में असमर्थ पति की सेवा कर रही हो। तुम च्यवन ऋषि को छोड़कर हममें से किसी एक को स्वीकार कर लो। तुम अपनी इस युवा अवस्था को निष्फल मत जाने दो ॥४।१०॥

देवताओं के यों कहने पर सुकन्या ने कहा—मैं अपने पति च्यवन ऋषि को ही सोलहों आने चाहती हूँ। आप लोग मेरे बारे में और तरह की शङ्का न करें। सुकन्या के ये वचन सुनकर उन देवताओं ने फिर कहा—हम लोग देवताओं के प्रधान वैद्य अश्विनीकुमार हैं। अपने प्रभाव से हम तुम्हारे पति को अपने ही समान नौजवान और रूपवान् बना देंगे। इसके पश्चात् तुम हम तीनों में से किसी एक को अपना पति बना लेना। हे शुभे! मतु यह प्रतिज्ञा मानकर अपने स्वामी च्यवन को बुला लाओ ॥११।१४॥

उनके वचन सुनकर सुकन्या च्यवन ऋषि के पास गई और अश्विनीकुमारों ने जो कुछ कहा था सो उनसे कह दिया। यह सुनकर च्यवन ने अपनी स्त्री को वैसा ही करने की अनुमति दे दी। पति की आज्ञा पाकर सुकन्या अश्विनीकुमारों के पास गई। उसने उनसे च्यवन के उस बात पर

ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ॥ १६ ॥
अश्विनावपि तद्राजन्सरः प्राविशतां तदा ।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ॥ १७ ॥
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ॥ १८ ॥
तेऽब्रुवन्सहिताः सर्वे वृणीष्वाऽन्यतमं शुभे ।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ॥ १९ ॥
यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ।
सा समीक्ष्य तु तान्सर्वांस्तुल्यरूपधरान्स्थितान् ॥ २० ॥
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम् ।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम् ॥ २१ ॥
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः ।
यथाऽहं रूपसंपन्नो वयसा च समन्वितः ॥ २२ ॥
कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन्भार्यां च प्राप्तवानिमाम् ।
तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याऽहं सोमपीथिनौ ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद्ब्रवीमि वाम् ॥ २३ ॥

प्रसन्न होने का हाल कहा। राजकन्या की बात सुनकर अश्विनीकुमारों ने उनसे कहा—तुम्हारे पति इस सरोवर के जल में घुसें। हे राजन्! तब च्यवन उत्तम रूप और जवानी पाने की इच्छा से उस सरोवर में घुस गये। अश्विनीकुमार भी उनके साथ ही जल के भीतर चले गये। दम भर के बाद दिव्य रूपवान् उज्ज्वल कुण्डल पहने, नौजवान और चित्त को प्रसन्न करनेवाले तीन पुरुष उस सरोवर के भीतर से निकल आये। उन तीनों पुरुषों ने मिलकर कहा—हे शुभाङ्गी! तुम जिसे चाहो उसे हममें से पति बना लो। सुकन्या को तीनों पुरुषों के रूप में कुछ अन्तर न देख पड़ा ॥१५।२०॥

तो भी उसने ध्यान से परखकर उनमें से अपने पति च्यवन को छाँट लिया और उन्हीं को पति मान लिया। तब महातेजस्वी च्यवन ऋषि अपनी पत्नी, सुन्दर रूप और नई अवस्था पाकर, प्रसन्न होकर, अश्विनीकुमारों से बोले—मैं तुम से सत्य कहता हूँ, कि तुम्हारे ही प्रसाद से जवानी, रूप और भार्या मुझे प्राप्त हुई है; मैं इसके बदले में प्रसन्नता पूर्वक तुमको इन्द्र के साथ यज्ञ में

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः ।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः ॥ २४ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायामौकन्येत्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमरस पिलाऊँगा। यह सुनकर अश्विनीकुमार प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग को चले गये। महर्षि च्यवन और सुकन्या, दोनों वहीं रहकर देवताओं के समान विहार करने लगे ॥२१।२४॥

वनपर्व का एक सौ तेईस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२३॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥१२४॥

लोमश उवाच—ततः शुश्राव शर्यातिर्वयस्थं च्यवनं कृतम् ।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद्भार्गवाश्रमम् ॥ १ ॥
च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव ।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव ॥ २ ॥
ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः ।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः ॥ ३ ॥
अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन् ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां संभारानवकल्पय ॥ ४ ॥
ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः ।
च्यवनस्य महाराज तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥
प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत् ।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एक सौ चौबीस अध्याय ॥१२४॥

लोमशजी कहते हैं—राजा शर्याति को जब च्यवन ऋषि के फिर से जवान होने का हाल मालूम हुआ तब वे प्रसन्न होकर रानीसहित, सेना को साथ लेकर, मुनि के आश्रम में गये। च्यवन ऋषि को देवकुमारतुल्य और सुकन्या को देवकन्या के समान देखकर उन्हें वैसा ही आनन्द हुआ, जैसा आनन्द सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य पाने से होता है। च्यवन ऋषि ने राजा को मधुर वचनों से सन्तुष्ट करके कहा—हे राजन्! मैं आपको यज्ञ कराना चाहता हूँ। आप यज्ञ की सामग्री एकत्र कीजिए ॥१।४॥

राजा शर्याति ने प्रसन्न होकर यज्ञ के योग्य

तत्रैनं च्यवनो राजन्याजयामास भार्गवः ।
अद्भुतानि च तत्राऽऽसन्यानि तानि निबोध मे ॥ ७ ॥
अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा ।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम् ॥ ८ ॥
इन्द्र उवाच—उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नाऽर्हतः ॥ ९ ॥
च्यवन उवाच—महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन्वृन्दारकमिवाऽजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चाऽन्यान्कथं वै नाऽर्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥ ११ ॥
इन्द्र उवाच—चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहाऽर्हतः ॥ १२ ॥
लोमश उवाच—एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥
ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद्देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उत्तम समय में यज्ञमण्डप बनवाया । महर्षि च्यवन ने वहाँ पर उनको यज्ञ की दीक्षा दी। हे महाराज ! इस यज्ञ में जो-जो अद्भुत बातें हुईं उनको मैं कहता हूँ, सुनिए। च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमारों को देने के लिए जब सोमरस का पात्र उठाया तब उनको रोककर इन्द्र ने कहा—मुनिवर ! मेरी समझ में अश्विनीकुमार सोमरस पीने के अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि वे स्वर्ग में वैद्य का पेशा करते हैं ॥५।९॥

च्यवन ने कहा—देवराज ! ये दोनों देवता महात्मा, उत्साही और सुन्दर हैं । विशेष कर इन्होंने मुझे देवताओं के समान अजर-अमर बना दिया है । यदि आप और अन्य देवता सोमरस पीने के अधिकारी हैं तो फिर अश्विनीकुमार ही क्यों अयोग्य हैं ? हे इन्द्र ! आप अश्विनीकुमारों को भी देवता मानिए । इन्द्र ने कहा—वे चिकित्सा करते हैं और इच्छानुसार वेष बनाकर मनुष्यलोक में घूमा करते हैं । इसलिए वे किस तरह सोमपान के योग्य हो सकते हैं ॥१०।१२॥

लोमशजी कहते हैं—इन्द्र के बार-बार रोकने पर भी महातेजस्वी च्यवन उनका अनादर करके

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत्सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥
ततोऽस्मै प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥
तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥
ततः कृत्याऽथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥ १९ ॥
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः ।
तस्याऽऽस्यमभवद्घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥ २० ॥
हनुरेकाऽऽस्थितात्स्य भूमावेका दिवं गता ।
चतस्रश्चाऽऽयता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥ २१ ॥
इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः ।
प्रासादशिखिराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २२ ॥

अश्विनीकुमारों को सोमरस देने के लिए उद्यत हुए। तब अश्विनीकुमारों को सोमरस देने के लिए च्यवन को उद्यत देखकर इन्द्र ने कहा—यदि तुम अश्विनी-कुमारों को सोमरस दोगे तो मैं इस वज्र से तुमको मार डालूँगा। च्यवन ऋषि ने यों कहनेवाले इन्द्र की ओर मुसकराते हुए देखकर अश्विनीकुमारों को देने के लिए सोमरस का पात्र उठाया। तब च्यवन ऋषि को मारने के लिये इन्द्र तैयार हुए। ऋषि ने अपने तपोबल के प्रभाव से इन्द्र के दोनों हाथों को निकम्मा कर दिया। इस प्रकार इन्द्र को शक्तिहीन करके च्यवनजी मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुतियाँ डालने लगे ॥१३।१८॥

अब मुनि के तपोबल से मद नाम का एक बड़ा पराक्रमी विशाल शरीरवाला असुर उत्पन्न हुआ उसका मुँह बहुत बड़ा था, बड़े-बड़े दाँतों की नोकें खूब पैनी थीं। देवता और दैत्य भी लम्बाई बताने में असमर्थ हैं। उसका एक ओंठ पृथ्वी पर था और दूसरा ओंठ आकाश में लगा हुआ था। आगे के चार दांत सौ योजन ऊँचे थे, और सब दांत दस-दस योजन ऊँचे तथा महलों के कंगुरों के समान

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसंनिभम् ॥ २३ ॥
लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया ।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद्बलात् ॥ २४ ॥
स भक्षयिष्यन्संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत् ।
महता घोररूपेण लोकाञ्शब्देन नादयन् ॥ २५ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसौकन्येचतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

थे। उनकी नोकें त्रिशूल की नोकों के समान थीं। उसके दोनों हाथ पर्वत के समान और दस हजार योजन लम्बे थे। दोनों नेत्र चन्द्र-सूर्य के समान चमकदार थे। वे प्रलयकाल की अग्नि के समान लाल थे। वह महाअसुर बिजली के समान लपलपाती हुई जीभ से ओंठ चाट रहा था और भयानक नेत्रों से इधर-उधर ताक रहा था। वह मुँह फैलाकर मानों बलपूर्वक सारे जगत् को ग्रस लेना चाहता था। वह क्रोधित भाव से भयानक गर्जन करता हुआ इन्द्र को खा जाने के लिए दौड़ा। उसके शब्द से तीनों लोक काँप उठे ॥१९।२५॥

—०—

वनपर्व का एक सौ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२४ ॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

लोमश उवाच—तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः ।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवाऽन्तकम् ॥ १ ॥
भयात्संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन्मुहुः ।
ततोऽब्रवीद्देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद्वचो विप्र प्रसीद मे ॥ ३ ॥
न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः ।

एक सौ पचीस अध्याय ॥ १२५ ॥

लोमशजी ने कहा—हाथ जिनके निकम्मे हो गये हैं उन इन्द्र ने 'मद' दानव को काल के समान मुँह फैलाकर ओंठ चाटते हुए भक्षण करने के लिए आते देखा। तब उन्होंने डरकर ऋषि से कहा—हे भृगुनन्दन ! आप मुझ पर प्रसन्न हूजिए। मैं सत्य कहता हूँ, आज से अश्विनीकुमार भी सब देवताओं के समान सोमरस पीने के अधिकारी हुए। आपकी बात मिथ्या न होगा। हे भार्गव ! आपने

जानामि चाऽहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा वाऽद्य कृतौ त्वया ।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥
सुकन्यायाः पितुश्चाऽस्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति ।
अतो मयैतद्विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ॥ ६ ॥
तस्मात्प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि ।
एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरन्दरम् ।
मदं च व्यभजद्राजन्पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ॥ ९ ॥
अश्विभ्यां सहितान्देवान्याजयित्वा च तं नृपम् ।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥ १० ॥
सुकन्यया सहाऽरण्ये विजहाराऽनुकूलया ।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन्प्रकाशते ॥ ११ ॥
अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितृन्देवांश्च तर्पय ।

अपने तपोबल से आज अश्विनीकुमारों को सोमरस का अधिकारी बना दिया। आपकी यह अलौकिक शक्ति और राजा शर्याति की कीर्त्ति संसार भर में प्रसिद्ध होगी। इसी लिए मैंने आपके साथ ऐसा व्यवहार किया था। अब आप मुझ पर प्रसन्न हों। आपका मनोरथ सिद्ध हो ॥१।७॥

इन्द्र ने जब इस प्रकार स्तुति की तब च्यवन जी का क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने इन्द्र की रक्षा की और अपने उत्पन्न किये हुए मदासुर को—चार भाग करके—स्त्रीसङ्ग, मद्य-पान, जुआ और शिकार में स्थापित कर दिया। महर्षि च्यवन ने मदासुर को यों बाँटकर अश्विनीकुमारों को और सब देवताओं को प्रसन्न किया। राजा शर्याति का यज्ञ समाप्त हुआ। संसार में च्यवनजी के तपोबल की महिमा विख्यात हो गई। वे फिर अपनी अनुकूल पत्नी के साथ वन में रहकर विहार करने लगे। हे राजन्! उन महर्षि च्यवन के अद्भुत तपोबल की घोषणा करनेवाला यह सरोवर देख पड़ रहा है। आप यहाँ पर भाइयों-सहित स्नान करके पितरों और देवताओं का तर्पण कीजिए ॥७।११॥

एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिंकताक्षं च भारत ॥ १२ ॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम् ।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १३ ॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन्सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत ।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥ १४ ॥
अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः ।
अत्रोपस्पृश चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥ १५ ॥
आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम् ।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥ १६ ॥
चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर ।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते ॥
वैखानसा वालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ॥ १७ ॥
श्रृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १८ ॥
शान्तनुश्चाऽत्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः ।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस सरोवर को और सिकताक्ष तीर्थ को देखकर सैन्धवारण्य में चलिए और वहाँ की कुल्याओं (नदियों) के दर्शन कीजिए । फिर पुष्करजल को छूकर शिवमन्त्र का जप कीजिए । ऐसा करने से आपको सिद्धि प्राप्त होगी। हे पार्थ ! यह सर्व पापों का नष्ट करनेवाला "त्रेता और द्वापर का सन्धिस्थल" नाम का तीर्थ देख पड़ता है। आप इस तीर्थ में स्नान कीजिए। यहां स्नान करनेवाले पर कलयुग का प्रभाव नहीं पड़ता। यह देखिए, आर्चीक पर्वत है । इस पर महात्मा तपस्वी रहते हैं । इस पर के वृक्ष सदा फलों से लदे रहते हैं और झरनों से स्वच्छ मीठा जल बहा करता है । पवित्र शीतल वायु सदा यहां रहनेवालों को प्रसन्न किया करती है ॥१२।१६॥

हे युधिष्ठिर ! यहां देवताओं के अनेक प्रकार के स्थान हैं । यहाँ चन्द्रमा तीर्थ है जिसकी अनेक ऋषि उपासना किया करते हैं। अग्नि के समान तेजस्वी वैखानस,वालखिल्य, आदि ऋषि वायु-भक्षण करते हुए यहाँ रहते हैं । हे नराधिप ! ये तीन शिखर और तीन झरने देख पड़ते हैं । आप इन सबकी

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः ।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान्यजस्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥
इह ते वै चरून्प्राश्नन्नृषयश्च विशांपते ।
यमुना चाऽक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ २१ ॥
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चाऽमित्रकर्शन ।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ॥ २२ ॥
एतत्प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर ।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २३ ॥
इह तेऽप्यवसन्राजन्क्षान्ताः परमधर्मिणः ।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २४ ॥
एषा सा यमुना राजन्महर्षिगणसेविता ।
नानायज्ञचिता राजन्पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
अत्र राजा महेष्वासो मांधाताऽयजत स्वयम् ।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको वदतां वरः ॥ २६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसौकन्येपञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रदक्षिणा करके इच्छानुसार स्नान आदि कीजिए। इसी आर्चीक पर्वत पर राजा शान्तनु, शुनक और नर-नारायण आदि महापुरुष सनातन लोक को प्राप्त हुए हैं। देवता, पितर और महर्षि यहाँ सदा तपस्या किया करते हैं। आप उन सबकी पूजा और सत्कार कीजिए ॥१७।२०॥

हे पृथ्वीनाथ! इसी स्थान पर वे महर्षि चरु-भक्षण करते थे। यहां पर अक्षय स्रोतवाली महानदी यमुना बहती है। कृष्ण ने यहीं पर तपस्या की है। हे शत्रुदमन! भीमसेन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और मैं, सब लोग आप के साथ इस स्थान को चलेंगे। हे नरनाथ! यही महेन्द्र का पवित्र झरना है। इसी स्थान पर धाता, विधाता और वरुण ने ऊर्ध्वगति प्राप्त की है। परम धार्मिक और क्षमाशील होकर वे देवता यहां रहते थे। सरल स्वभाववाले योगी इस शुभ पर्वत पर रहते हैं। हे राजन्! यह यमुना नदी है। इस नदी के किनारे महर्षि लोग रहते हैं। इस नदी में स्नान करने से पाप का भय नहीं रहता। इसी स्थान पर श्रेष्ठ धनुर्द्धर राजा मान्धाता सृञ्जय के पौत्र और सोमक ने यज्ञ किया है॥२१।२५॥

वनपर्व का एक सौ पच्चीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२५॥

अथ षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मांधाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
कथं जातो महाब्रह्मन्यौवनाश्वो नृपोत्तमः ॥ १ ॥
कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः ।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ॥ २ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः ।
यथा मांधातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः ॥
जन्म चाऽप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ ३ ॥

लोमश उवाच—शृणुष्वाऽवहितो राजन्राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
यथा मांधातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ॥ ४ ॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ।
सोऽयजत्पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ५ ॥
अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः ।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत्स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ६ ॥
अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः ।
मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं वननित्यो बभूव ह ॥ ७ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्याऽऽत्मानमात्मवान् ।
स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुखितः ॥ ८ ॥

एक सौ छब्बीस अध्याय ॥१२६॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! त्रिलोक-प्रसिद्ध युवनाश्व के पुत्र महाराज मान्धाता का जन्म किस तरह हुआ ? किस प्रकार उन्हें पुण्यात्मा पुरुषों में श्रेष्ठ पदवी मिली ? किस कारण उनका मान्धाता नाम पड़ा ? यह सब वृत्तान्त सुनने की मेरी बड़ी अभिलाषा है । अमित पराक्रमी मान्धाता की इन बातों का वर्णन आप बहुत अच्छी तरह कर भी सकते हैं ॥१।३॥

लोमशजी ने कहा—हे राजन् ! जैसे उन महात्मा राजा का नाम मान्धाता पड़ा सो एकाग्र होकर सुनिए । महाराज इक्ष्वाकु के वंश में युवनाश्व नाम के एक धर्मात्मा राजा उत्पन्न हुए । उन्होंने एक हज़ार अश्वमेध यज्ञ किये । उनके पश्चात् और भी बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ उन्होंने किये । युवनाश्व के कोई सन्तान न थी । उन्होंने कुछ समय के पश्चात् मन्त्रियों को राजकाज सौंप दिया

पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाऽऽश्रमं भृगोः ।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ॥ ९ ॥
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ।
संभृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ॥ १० ॥
तत्राऽतिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ।
यत्प्राश्य प्रसवेत्तस्य पत्नी शक्रसम सुतम् ॥ ११ ॥
तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ।
रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान्सौद्युम्निः समतीत्य तान् ॥ १२ ॥
शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः ।
तं प्रविश्याऽऽश्रमं शांतः पानीय सोऽभ्ययाचत ॥ १३ ॥
तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा ।
नाऽश्रौषीत्कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ॥ १४ ॥
ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्ण स पार्थिवः ।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाऽम्भो व्यवासृजत् ॥ १५ ॥
स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः ।
निर्वाणमगमद्धीमान्सुसुखी चाऽभवत्तदा ॥ १६ ॥

और आप सयम से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार वन में जाकर तप और योगाभ्यास करने लगे ॥४।८॥

हे राजन् ! एक समय राजा युवनाश्व निराहार व्रत से बहुत ही दुखी और प्यास के मारे गला सूख जाने से अत्यन्त विह्वल होकर महर्षि भार्गव के आश्रम को गये । हे राजन् ! महर्षि भृगु के पुत्र ने उसी रात्रि को, राजा के पुत्र होने की इच्छा से, एक यज्ञ का अनुष्ठान किया था । इस यज्ञ में पहले से ही ऋषियों ने मन्त्र पढ़कर एक जल-पूर्ण कलश स्थापित कर दिया था । इसका जल पीने से राजा की स्त्री एक इन्द्रतुल्य पुत्र उत्पन्न कर सकेगी, यह सोचकर ऋषियों ने उस कलश को वेदी पर स्थापित कर दिया था । रात्रि भर जागने के कारण थककर व सो रहे थे । प्यास से गला सूखने के कारण अत्यन्त व्याकुल राजा सोते हुए मुनियों को लाँघकर आश्रम के भीतर पहुंच गये । राह की थकन और गला सूखने के कारण पक्षी के से धीमे स्वर में राजा ने पीने का जल मांगा । उस प्रार्थना को सोये हुए मुनियों में से किसी ने सुना नहीं । तब उस जल भरे कलश को देखकर शीघ्रता से राजा

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः ।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १७ ॥
कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन्समागताः ।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ॥ १८ ॥
न युक्तमिति तं प्राह भगवान्भार्गवस्तदा ।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव संभृताः ॥ १९ ॥
मया ह्यत्राऽऽहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम् ।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ॥ २० ॥
महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः ।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद्यमसादनम् ॥ २१ ॥
अनेन विधिना राजन्मयैतदुपपादितम् ।
अब्भक्षणं त्वया राजन्न युक्तं कृतमद्य वै ॥ २२ ॥
न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत्कर्तुमतोऽन्यथा ।
नूनं दैवकृतं ह्येतद्यदेवं कृतवानसि ॥ २३ ॥
पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः ।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसंभृताः ॥ २४ ॥

उसके पास गये और वह ठण्डा जल पी गये। शेष जल उन्होंने फेंक दिया। इस प्रकार बुद्धिमान् राजा ठण्डा जल पीकर तृप्त और सुखी हुए ॥९।१६॥

उधर सबेरे जागकर मुनियों ने देखा कि उस कलश में जल नहीं है। तब सबने मिलकर पूछा कि यह काम किसने किया? युवनाश्व ने सत्य का उल्लंघन उचित न समझकर कह दिया कि मैंने इसका जल पी लिया है। तब भगवान् भार्गव ने कहा—यह कार्य ठीक नहीं हुआ। आपके पुत्र होने के लिए ही हमने इस कलश के जल में अपना तपोबल सञ्चित किया था। राजन्! आपके पुत्र हो, इसके लिए मैंने घोर तप करके इस कलश में ब्रह्म को अभिमन्त्रित कर रक्खा था। अपने पराक्रम से इन्द्र को भी मार डालने की शक्ति रखनेवाला, बल-वीर्यवान्, तपोबलसम्पन्न पुत्र उत्पन्न होने की इच्छा से, वैसे ही विधि के अनुसार, यह अनुष्ठान किया गया था। आपने वह जल पीकर बहुत ही अनुचित किया। अब जो हो गया सो गया। उसे बदल देने की शक्ति हम में नहीं है। आपका यह कार्य दैवकृत समझना चाहिए। प्यास के मारे आपने मेरे

ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि ।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ॥ २५ ॥
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान् ।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ॥ २६ ॥
ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ॥ २७ ॥
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २८ ॥
ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत् ।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन्धास्यतीति किम् ॥ २९ ॥
प्रदेशिनीं ततोऽस्याऽऽस्ये शक्रः समभिसंदधे ।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ॥ ३० ॥
मांधातेति च नामाऽस्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥ ३१ ॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महातेजाः किष्कून्राजंस्त्रयोदश ॥ ३२ ॥
वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।

तपोबल से युक्त, विधिमन्त्र से पवित्र, जल को पिया है; इस कारण आप ही वैसा प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न करेंगे। अब हम ऐसा परम अद्भुत अनुष्ठान करेंगे जिसमें आप सहज ही ऐसे पुत्र को उत्पन्न कर सकें। आपको गर्भधारण का क्लेश न उठाना पड़ेगा ॥१७।२६॥

सौ वर्ष व्यतीत होने पर महात्मा युवनाश्व की बाईं कोख फाड़कर सूर्य के समान महातेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अद्भुत प्रसव में भी राजा की मृत्यु नहीं हुई। यह अद्भुत घटना देखने के लिए इन्द्रदेव युवनाश्व के पास आये। देवताओं ने उनसे पूछा—यह बालक क्या पियेगा? तब इन्द्र ने उस बालक के मुँह में अपना अँगूठा देकर कहा कि यह बालक मुझको अर्थात् मेरे इस अँगूठे के रस को पियेगा। इन्द्र के यों कहने के अनुसार ही देवताओं ने बालक का नाम मान्धाता रख दिया ॥२६।३१॥

वह बालक इन्द्र के अँगूठे को पीकर तेरह बित्ते बढ़ गया। ध्यान करते ही चारों वेद और सब अस्त्र शस्त्र उसे उपस्थित हो गये। आजगव धनुष,

उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ॥ ३३ ॥
आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥ ३४ ॥
सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन्विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३५ ॥
तस्याऽप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३६ ॥
तस्येयं वसुसंपूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३७ ॥
चितचैत्यो महातेजा धर्मान्प्राप्य च पुष्कलान् ।
शक्रस्याऽर्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३८ ॥
एकाह्नात्पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३९ ॥
तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत्किञ्चिदनावृतम् ॥ ४० ॥
तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

शृङ्गज बाण और अभेद्य कवच मान्धाता के पास आ गये। हे महाराज! विष्णु भगवान् ने जिस तरह पराक्रम से त्रिभुवन को जीता था उसी तरह मान्धाता ने अपने धर्मबल से तीनों लोकों को अपने अधीन कर लिया। उन महात्मा की आज्ञा तीनों लोकों में मानी जाती थी। सब रत्न स्वय उनकी सेवा में आ गये थे ॥३२।३६॥

हे महाराज! यह धनपूर्ण पृथ्वी उन्हीं की है। उन्होंने बहुत से यज्ञ बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ देकर किये थे। इसी पुण्य के बल से उनको इन्द्र का आधा आसन प्राप्त हुआ था। महाराज मान्धाता ने एक ही दिन में समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लिया था। उनके किये हुए यज्ञों की वेदियाँ और चैत्य सारी पृथ्वी में फैले हुए थे। सुना जाता है, उन महात्मा ने ब्राह्मणों को दस हज़ार पद्म गोदान किये थे। बारह वर्ष तक पानी न बरसने पर उन्होंने इन्द्र के सामने ही अन्न उपजने के लिए जल बरसाया था। सोमवंशी गान्धारराज उनके बाणों की चोट खाकर मेघ के समान गरजते-गरजते मर गया। अत्यन्त तेजस्वी महाराज मान्धाता ने धर्म

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ४२ ॥
तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४३ ॥
प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन्कृतात्मना ।
तेनाऽऽत्मतपसा लोकास्तापिताश्चाऽतितेजसा ॥ ४४ ॥
तस्यैतद्देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
यस्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं मांधातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाऽग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छाऽनन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मांधातुपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२६॥

पूर्वक चारों वर्णों की रक्षा की और तपोबल से लोकों का कल्याण किया। कुरुक्षेत्र के बीच यह अत्यन्त पवित्र स्थान सूर्य के समान तेजस्वी महाराज मान्धाता के यज्ञों की भूमि है। हे राजन्! महाराज मान्धाता का चरित्र और जन्म का वृत्तान्त आपने पूछा था, सो मैंने आपको सुना दिया। वैशम्पायन कहते हैं—हे महाराज! लोमशजी के यों कह चुकने पर युधिष्ठिर ने फिर उनसे सोमक राजाका वृत्तान्त पूछा॥ ३७।४७॥

वनपर्व का एक सौ छब्बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२६॥

अथ सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच—कथंवीर्यः स राजाऽभूत्सोमको वदतांवर ।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥
लोमश उवाच—युधिष्ठिराऽऽसीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।

एक सौ सत्ताईस अध्याय ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन्! महाराज सोमक का कैसा बल, वीर्य और प्रभाव था? उनके कार्य कैसे थे? सब वृत्तान्त मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। लोमशजी ने कहा—हे महाराज! सोमक नाम के

तस्य भार्याशतं राजन्सदृशीनामभूत्तदा ॥ २ ॥
स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कंचिन्नाऽऽसादयामास कालेन महता ह्यपि ॥ ३ ॥
कदाचित्तस्य वृद्धस्य घटमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन्स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥
तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासते ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान्विशाम्पते ॥ ५ ॥
ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत्स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदन्नादं येन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥
ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन्भृशदुःखिताः ।
प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥
तमार्तनादं सहसा सुश्राव स महीपतिः ।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥ ८ ॥
ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः ।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥
त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः ।
प्रविश्याऽन्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिन्दमः ॥ १० ॥

एक बड़े धर्मात्मा राजा थे । उनके योग्य उनके एक सौ रानियां थीं । बहुत समय व्यतीत हो गया, किन्तु बहुत उपाय करने पर भी उनकी किसी रानी के सन्तान नहीं हुई । अन्त को बहुत यत्न करने पर बुढ़ापे में सौ रानियों में से एक रानी के पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका नाम जन्तु रक्खा गया । हे महाराज ! रानियाँ अपना सुखभोग छोड़कर यत्न के साथ उसी पुत्र का लालन-पालन करने लगीं । एक दिन जन्तु के कूले में एक चींटी ने काट खाया । इससे दुखी होकर वह रो उठा । बालक के क्लेश को देखकर रानियाँ उसके पास दौड़ी गईं और उसे घेरकर चिल्लाने लगीं । राजा सोमक अपने पुरोहितों और मन्त्रियों के साथ सभा में बैठे हुए थे । एकाएक वह आर्तनाद उन्हें सुन पड़ा । समाचार जानने क लिए राजा ने द्वारपाल को भेजा । राजपुत्र को चींटी काटने का वृत्तान्त जानकर द्वारपाल ने राजा को

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्याऽन्तःपुरान्नृपः।
ऋत्विजा सहितो राजन्सहामात्य उपाविशत् ॥ ११ ॥

सोमक उवाच—धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत् ।
नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥
इदं भार्याशतं ब्रह्मन्परीक्ष्य सदृशं प्रभो ।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥
एकः कथञ्चिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम ।
यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥
वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम ।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चाऽत्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥
स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत् ।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच—अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत् ।
यदि शक्नोपि तत्कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

सोमक उवाच—कार्यं वा यदि वाऽकार्यं येन पुत्रशतं भवेत् ।
कृतमेवेति तद्विद्धि भगवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

सूचना दी। हे शत्रुदमन ! महाराज सोमक यह हाल सुनते ही तुरन्त उठकर मन्त्रियों के साथ रनिवास में गये ॥९।१०॥

वहां उन्होंने पुत्र को दुलराकर शान्त किया। फिर वे रनिवास से सभा में आकर बैठे। राजा ने अपने पुरोहित से कहा—संसार में एक पुत्र वाले मनुष्य को धिक्कार है। एक पुत्र होने की अपेक्षा पुत्र न होना ही अच्छा है। क्योंकि एक पुत्र का होना सदा रोगी रहने से भी बढ़कर दुखदायक है। हे प्रभो ! मैंने पुत्रों की इच्छा से एक सौ विवाह किये थे किन्तु किसी रानी के पुत्र नहीं हुआ। विशेष यत्न करने पर केवल एक पुत्र हुआ है। इससे बढ़कर दुःख की बात क्या होगी ! इस समय मैं और मेरी रानियाँ बूढ़ी हो गई हैं। केवल इसी एक पुत्र के भरोसे हमारा जीवन है। अतएव छोटा हो या बड़ा, सहज हो या कठिन, जिस अनुष्ठान से सौ पुत्र उत्पन्न हों वह करना चाहिए ॥११।१६॥

पुरोहित ने कहा—आपके सौ पुत्र उत्पन्न होने के मनोरथ को सिद्ध करनेवाला अनुष्ठान ही है। उसे जो आप कर सकें तो मैं कहूँ। सोमक ने कहा—वह कार्य चाहे जैसा कठिन होगा, सौ पुत्र उत्पन्न होने के लिए अवश्य करूँगा। पुरोहित ने

ऋत्विगुवाच—यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद्भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥
वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः ।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥
तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः ।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

कहा—हे सोमक ! मैं यज्ञ करूँगा, उसमें जो आप अपने पुत्र जन्तु का बलिदान कर सकें तो तुरन्त आपके श्रीसम्पन्न सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। इस यज्ञ में जन्तु का मेदा का हवन करना होगा। रानियाँ उसका धुआँ सूँघेंगी तो अत्यन्त पराक्रमी सौ पुत्र उत्पन्न कर सकेंगी। आपका पुत्र जन्तु भी फिर अपनी ही माता के गर्भ से उत्पन्न होगा और उसके बाईं ओर सुनहरी दाग होगा ॥१७।२१॥

वनपर्व का एक सौ सत्ताइस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२७॥

अथ अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

सोमक उवाच—ब्रह्मन्यद्यद्यथा कार्यं तत्कुरुष्व तथा तथा ।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥
लोमश उवाच— ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना ।
मातरस्तु बलात्पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ॥ २ ॥
हाहताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः ।
रुदन्त्यः करुणं चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ ३ ॥

एक सौ अट्ठाईस अध्याय ॥१२८॥

सोमक ने कहा—ब्रह्मन् ! जो-जो कार्य जिस-जिस तरह करना होगा, सो सब आप कीजिए। पुत्र की इच्छा से मैं आपकी कही सब बातें करूँगा। लोमशजी कहते हैं—जब ऋत्विक लोग सोमक के पुत्र जन्तु की मेदा से होम करने को तैयार हुए तब जन्तु की माताए अत्यन्त शोकाकुल और दयालु होकर "हाय, हम मर गईं !" कहकर करुण स्वर से रोती हुईं, पुत्र का दाहना हाथ पकड़कर, ज़ोर से अपनी ओर खींचने लगीं। उधर पुरोहित भी उस बालक का बायाँ हाथ पकड़कर अपनी ओर

सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति ।
कुररीणामिवाऽऽर्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥ ४ ॥
विशस्य चैनं विधिवद्वपामस्य जुहाव सः ।
वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥ ५ ॥
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन ।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥ ६ ॥
ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशांपते ।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥
जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव ।
स तासामिष्ट एवाऽऽसीन्न तथा ते निजाः सुताः॥ ८ ॥
तच्च लक्षणमस्याऽऽसीत्सौवर्णं पार्श्वे उत्तरे ।
तस्मिन्पुत्रशते चाऽन्यः [redacted] बभूव गुणैरपि ॥ ९ ॥
ततः स लोकमगमत्सोमकस्य गुरुः परम् ।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत्परम् ॥ १० ॥
अथ [redacted] नरके घोरं पच्यमानं ददर्श सः ।
तमपृच्छत्किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ ११ ॥
तमब्रवीद्गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम् ।

खींचने लगे । अन्त को पुरोहित ने उस बालक को अपनी ओर खींच लिया और वे विधिपूर्वक उसकी मेदा से हवन करने लगे । हे कुरुश्रेष्ठ ! पुत्र के मेदा की गन्ध सूँघकर रानिया एकाएक पृथ्वी पर गिर पड़ीं; उनके उसी घड़ी गर्भ रह गया ॥१।६॥

हे महाराज ! फिर दस महीने पूरे होने पर सब रानियों के एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ । जन्तु, बड़े पुत्र के रूप से, अपनी पहली माता के गर्भ से उत्पन्न हुए । उनकी बाईं कोख में एक सुनहरा दाग था । वे गुणों में और सब कुँअरों से बढ़कर थे । सब रानियाँ उनको इतना प्यार करती थीं कि उन को अपने-अपने बेटे उतने प्यारे नहीं थे । हे महाराज ! फिर सोमक के गुरु (पुरोहित) परलोकवासी हुए । कुछ दिनों के पश्चात् राजा का भी देहान्त हुआ ॥७।१०॥

राजा ने अपने गुरु को नरक की घोर यातना भोगते देखकर उनसे पूछा—आप किस कारण नरक में पड़े हुए हैं ? गुरु ने कहा—हे राजन् ! मैंने आपको

त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजानमब्रवीत् ।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ॥ १३ ॥
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना ।
धर्म उवाच—नाऽन्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुंक्ते कदाचन ।
इमानि तव दृश्यंते फलानि वदतां वर ॥ १४ ॥
सोमक उवाच—पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम् ।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १५ ॥
नरके वा धर्मराज कर्मणाऽस्य समो ह्यहम् ।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १६ ॥
धर्मराज उवाच—यद्येवमीप्सितं राजन्भुंक्ष्वाऽस्य सहितः फलम् ।
तुल्यकालं सहाऽनेन पश्चात्प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १७ ॥
लोमश उवाच—स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।
क्षीणपापश्च तस्मात्स विमुक्तो गुरुणा सह ॥ १८ ॥
लेभे कामाञ्शुभान् राजन्कर्मणा निर्जितान्स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १९ ॥

जो घोर यज्ञ कराया था उसी का फल भोग रहा हूं। महात्मा राजा सोमक ने पुरोहित के वचन सुनकर धर्मराज से कहा—हे धर्मराज ! मेरे इन यज्ञ करानेवाले पुरोहित को इस घोर नरक से निकालए। इनके बदले में नरक की अग्नि में प्रवेश करूँगा। धर्मराज ने कहा—हे राजन् ! एक के किये कर्म के फल को कोई दूसरा नहीं भोग सकता। तुमने जो सत्कर्म किये हैं, उनके फल भोगने के लिए ये शुभ लोक देख पड़ते है। सोमक ने कहा—इन ब्रह्मवादी ब्राह्मण के बिना में किसी पवित्र लोक में रहना नहीं चाहता। चाहे स्वर्ग में हो और चाहे नरक में, मैं तो इन्हीं के साथ रहना चाहता हूँ। इनका और मेरा कर्म-फल समान है। इसलिए हम दोनों के पुण्य और पाप का फल समान हो। धर्मराज ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारी जो ऐसी ही इच्छा है तो तुम दोनों मिलकर समान समय तक नरक भोग करो। इसके पश्चात् तुमको सद्गति प्राप्त होगी ॥११।१६॥

लोमशजी कहते हैं—हे महाराज ! गुरु-भक्त राजा सोमक ने धर्मराज के कहे के अनुसार गुरु के साथ कुछ समय तक नरक भोग किया। फिर पाप क्षीण होने पर नरक से छुटकारा पाकर राजा ने गुरु

एष तस्याऽऽश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।
क्षान्त उष्याऽत्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ २० ॥
एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने अष्टाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२८॥

के साथ अपने धर्म से प्राप्त शुभ लोक प्राप्त किये। हे राजन्! आगे वह जो पवित्र आश्रम देख पड़ता है सो उन्हीं का है। जो मनुष्य क्षमाशील होकर इस आश्रममें छः रात्रियें व्यतीत करता है वह सद्‌गति को प्राप्त होता है। हे कुरुनन्दन! हम लोग भी संयम के साथ स्वस्थचित्त से यहां छः रात्रियें व्यतीत करेंगे। इसलिए आप तैयार हो जाइए ॥१७।२१॥

—०—

वनपर्व का एक सौ अट्ठाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२८॥

अथ एकोनत्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

लोमश उवाच—अस्मिन्किल स्वयं राजन्निष्टवान्वै प्रजापतिः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥
अंबरीषश्च नाभाग इष्टवान्यमुनामनु ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ॥ २ ॥
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ।
देशश्च नाहुषस्याऽयं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजस ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥
पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाऽऽक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥

एक सौ उन्तीस अध्याय ॥ १२९ ॥

लोमशजी ने कहा—हे महाराज! पहले इस स्थान पर प्रजापति ने इष्टाकृत नाम के हजार वर्षों में पूरे होनेवाले यज्ञ का अनुष्ठान किया था। नाभाग के पुत्र अंबरीष ने इसी यमुना के किनारे यज्ञ करके सदस्यों को दस पद्म गोदान किये थे। अनेक यज्ञ और तप करने से उन्हें सिद्धि प्राप्त हो गई थी। यह अपरिमित तेजवाले, इन्द्र से भी बराबरी का दावा करनेवाले, पुण्यकर्मनिरत, यज्ञकर्ता

एषा शम्येकपत्रा या सरकं चैतदुत्तमम् ।
पश्य रामह्रदानेतान्पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥
एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥
अत्राऽनुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनंदन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥
युगंधरे दधि प्राश्य उषित्वा चाऽच्युतस्थले ।
तद्वद्भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद्वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमितोऽन्यथा ॥ १० ॥

सम्राट् नहुप के पुत्र ययाति की यज्ञभूमि है। देखिए, यहाँ की भूमि तरह-तरह के आकारवाले अग्नि के आधार गढ़ों से भरी पड़ी है। देखने से जान पड़ता है, मानों ययाति के यज्ञों से दबकर ही पृथ्वी नीचे धँसी जा रही है ॥१।५॥

यह वही एकपत्रा शमी और रमणीय पानपात्र पड़ा हुआ है। यह देखिए, वह रामकुण्ड और नारायणाश्रम है। यह वही चाँदी के समान चमकीले जलवाली नदी बह रही है। योगबल से सारी पृथ्वी पर विचरनेवाले परमतेजस्वी चर्चीक के पुत्र की सञ्चरण-भूमि इसी के पास थी। इस स्थान पर ओखली जैसे बड़े कर्णफूल पहननेवाली पिशाची ने जो कहा था, वह मैं पढ़ता हूं सुनिए। युगन्धर में दही खाकर, अच्युतस्थल में रहकर और भूतिलय में स्नान करके पुत्र के साथ इस स्थान पर रहना चाहती है। किन्तु एक रात्रि बसकर फिर दूसरे दिन रहने से, दिन को जैसा अनिष्ट हुआ है उससे भी अधिक अनिष्ट रात्रि को होगा * ॥६।१०॥

*इस तीर्थ में एक समय पुत्र सहित एक ब्राह्मणी स्नान करने आई थी। उसे देखकर वहाँ रहनेवाली एक पिशाची ने कहा—तुमने युगन्धर देश या युगन्धर पर्वत पर रहकर दही खाया है। वहाँ ऊँटनी, गधी आदि के दूध का दही बनता है। अच्युतस्थल नाम का, वर्णसङ्कर पुरुषों के रहने का, जो गाव है उस में तुम रह चुकी हो। भूतिलय नाम के, चोरों के, गाव में आग से जले हुए मुर्दे जिस नदी में बहाये जाते हैं उसमें तुमने स्नान किया है। ये तीन दोष तुम को लगे हैं। लिखा है, एक खुरवाले ऊँट आदि का दूध मदिरा के तुल्य होता है। वर्णसङ्करों का संसर्ग होने पर प्राजापत्य व्रत धारण करना चाहिए। यह कुछ तुमने नहीं किया। दोषियों का तीर्थ में रहना दुर्लभ है। पिशाची के यों कहने पर भी उस ब्राह्मणी ने वहाँ स्नान किया। तब उसने ब्राह्मणी के बर्तन भाडे फोड डाले। पिशाची कहती है—दिन को तो यह हुआ, रात्रि को रहेगी तो और भी अनिष्ट होगा, अर्थात् मैं तेरे पुत्र को भी खा जाऊँगी।

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम ।
द्वारमेतत्तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥
अत्रैव नाहुषो राजा राजन्क्रतुभिरिष्टवान् ।
ययातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ॥ १२ ॥
एतत्प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद्वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥
अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ॥ १४ ॥
अत्र वै भरतो राजा राजन्क्रतुभिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥ १५ ॥
असकृत्कृष्णसारंगं धर्मेणाऽऽप्य च मेदिनीम् ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ॥ १६ ॥
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ।
अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।

हे भरतश्रेष्ठ ! यह स्थान कुरुक्षेत्र का द्वारस्वरूप है । इसी लिए हम यहां रात्रि भर रहेंगे । इस स्थान पर नहुष के पुत्र ययाति ने अनेक प्रकार के यज्ञ किये, ब्राह्मणों को बहुत सी दक्षिणा दी, रत्न दिये और इन्द्र को सन्तुष्ट किया । यह वही प्लक्षावतरण नाम का रमणीय यमुना तीर्थ है । विद्वान् लोग इसे स्वर्ग का द्वार कहते हैं । महर्षि लोग इस स्थान पर यूप और उलूखलिका के साथ सारस्वत यज्ञ करके अवभृथ स्नान करते हैं । महाराज भरत ने इसी स्थान पर बहुत से यज्ञ किये थे और धर्मानुसार पृथ्वी भर को जीतकर, बारम्बार अश्वमेध यज्ञ करके कृष्णसाङ्ग जाति का पवित्र घोड़ा छोड़ा था । राजा मरुत्त ने महर्षि संवर्त के द्वारा रक्षित होकर इस स्थान पर अत्यन्त श्रेष्ठ यज्ञ किया था । राजेन्द्र ! इस तीर्थ में स्नान करनेवाला सब लोकों को देख सकता है और सब पापों से छुटकारा पा जाता है । यहां स्नान कीजिए ॥११।१७॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! महर्षियों के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनते हुए राजा युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ उस तीर्थ में स्नान

लोमशं पांडव श्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥
सर्वांल्लोकान्प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पांडवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ १९ ॥
लोमश उवाच— एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ॥ २० ॥
यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ।
इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥
वेदी प्रजापतेरेषा समंतात्पंचयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां एकोनत्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः

किया। फिर उन्होंने लोमशजी से कहा—हे सत्यविक्रम! मैं इसी स्थान से, अपने तपोबल के प्रभाव से, तीनों लोकों को और पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन को देख रहा हूँ। लोमशजी ने कहा—हे महाबाहो! महर्षिगण भी इसी तरह सब लोकों को और इन्द्र को देख लेते हैं। अब इस साधुओं की निवासभूमि सरस्वती नदी में स्नान करके सब पापों से मुक्त हूजिए। देवर्षियों, ऋषियों और राजर्षियों ने इस स्थान पर बहुत प्रकार के सारस्वत यज्ञ किये हैं। यह वही चारों ओर पाच योजन चौड़ी प्रजापति की वेदी है और यज्ञ करने वाले महात्मा कुरु राजा का क्षेत्र है ॥१८।२२॥

वनपर्व का एक सौ उन्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१२९॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

लोमश उवाच—इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत।
मर्तुकामा नरा राजन्निहाऽऽयांति सहस्रशः ॥ १ ॥
एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।

एक सौ तीस अध्याय ॥१३०॥

लोमशजी ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! हज़ारों मनुष्य मरने की इच्छा से यहा पर आते हैं, क्योंकि यहा प्राणत्याग करने से स्वर्ग मिलता है। पहले दक्ष प्रजापति ने यज्ञ समाप्त करने के पश्चात् यह

इह ये वै मरिष्यंति ते वै स्वर्गजितो नरः ॥ २ ॥
एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी ।
एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशांपते ॥ ३ ॥
द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात्सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्तंत सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥
एतत्सिंधोर्महत्तीर्थं यत्राऽगस्त्यमरिंदम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥
एतत्प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥
एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बध्वाऽऽत्मानं निपततो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥
काश्मीरमंडलं चैतत्सर्वपुण्यमरिन्दम ।
महर्षिभिश्चाऽध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥

आशीर्वाद दिया था कि जो मनुष्य यहां शरीर छोड़ेगा वह स्वर्ग को जीत लेगा। यह वही बड़े प्रवाहवाली दिव्य सरस्वती नदी और विनशन नाम का निषादराष्ट्र का द्वार है। निषादों के अपराध के कारण सरस्वती नदी उनसे छिपने के लिए यहीं पर पृथ्वी में समा गई है। सरस्वती जहां पर फिर प्रकट हुई है उसे चमसोद्भेद कहते हैं। पुण्यदायिनी नदियां यहां पर सरस्वती से मिली हैं ॥१।५॥

यह वही महातीर्थ सिन्धु देख पड़ रहा है। हे शत्रुनाशन! लोपामुद्रा ने यहीं पर आकर अगस्त्य को पतिरूप से स्वीकार किया था। इधर इन्द्र को बहुत प्रिय पापनाशन पवित्र प्रभासतीर्थ और विष्णुपद नाम का परम श्रेष्ठ तीर्थ है। यह वही परमरमणीय विपाशा नदी है। भगवान् वशिष्ठ ऋषि पुत्रशोक से दुखी होकर, जान देने के लिए, गले में पत्थर बांधकर इसी नदी में फांद पड़े थे और फिर बन्धनमुक्त होकर ऊपर आ गये थे। सब पुण्यों का कारणरूप महर्षिसेवित यह काश्मीरमण्डल अपने भाइयों के साथ देखिए ॥६।१०॥

—०—

यत्रौत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च ।
अग्नेश्चैवाऽत्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥
एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥
एष वातिकषंडो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नाऽत्यवर्तत यद् द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ॥ १३ ॥
इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥ १४ ॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन्सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥ १५ ॥
यजंते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः ।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेंद्रियः ॥ १६ ॥
क्षीणपापः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुते नाऽत्र संशयः ।
एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शांतवान् ॥ १७ ॥
अरुंधतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ।
ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ॥ १८ ॥
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राऽशाम्यदकोपना ।

इसी स्थान पर उत्तर दिशा में रहनेवाले ऋषियों और नहुषनन्दन ययाति का तथा अग्नि और काश्यप का संवाद हुआ था। राजन्! यह मानसद्वार देख पड़ता है। श्रीमान् रामचन्द्र ने इस पर्वत पर एक खण्ड बसाया था। वह विदेह देश के उत्तर में वातिकखण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। उसके द्वार को कोई नहीं लाँघ सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रलयकाल के समय इस स्थान पर पार्वती और पार्षदों के साथ कामरूपी महादेव के दर्शन होते हैं। यज्ञ करनेवाले लोग, परिवार के मङ्गल के लिए, चैत के महीने में इस सरोवर पर अनेक यज्ञ करके भगवान् शङ्कर की आराधना किया करते हैं। जितेन्द्रिय होकर श्रद्धा के साथ इस सरोवर में स्नान करने से मनुष्य निष्पाप होकर शुभ लोकों को जाता है। यह वही प्रसिद्ध उज्जानक है। यहाँ पर कार्त्तिकेय और अरुन्धती-सहित महर्षि वशिष्ठ ने शान्ति प्राप्त की थी। सामने कुशवान् नाम के सरोवर में कमल के फूल खिल रहे हैं। इधर रुक्मिणी का आश्रम है। साध्वी रुक्मिणी ने यहीं शान्ति पाई थी। हे महाराज!

समाधीनां समासस्तु पांडवेय श्रुतस्त्वया ।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुंगं महागिरिम् ॥ १९ ॥
वितस्तां पश्य राजेंद्र सर्वपापप्रमोचनीम् ।
महर्षिभिश्चाऽध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ॥ २० ॥
जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम् ।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ २१ ॥
तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशांपते ।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ २२ ॥
जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥ २३ ॥
ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद्भयात् ।
शरणार्थी तदा राजन्निलिल्ये भयपीडितः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३०॥

आपने जिस स्थान पर समाधिस्थ तपस्वियों के रहने की बात सुनी थी, यह वही भृगुतुङ्ग नाम का पर्वत है ॥११।१९॥

हे महाराज! यह सब पापों का नाश करनेवाली शीतल जलवाली निर्मल वितस्ता नामकी नदी देखिए। ये वे ही यमुना के पास बहनेवाली, महर्षियों के आश्रमों से शोभित, जला और उपजला नाम की नदियां हैं। राजा उशीनर ने इसी जगह यज्ञ करके इन्द्र से भी अधिक प्रतिष्ठा पाई थी। उशीनर की परीक्षा लेने के लिए इन्द्र और अग्नि, बाज और कबूतर का रूप रखकर, एक समय राजसभा में गये। राजा की यज्ञभूमि में सभा के बीच में कबूतर का रूप रक्खे हुए अग्निदेव बाज़ के भय से व्याकुलता दिखाते हुए राजा के शरणागत हुए। वे राजा की जाँघ पर बैठकर छिप रहे ॥२०।२४॥

—०—

वनपर्व का एक सौ तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३०॥

अथ एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

श्येन उवाच—धर्मात्मानं त्वाऽऽहुरेकं सर्वे राजन्महीक्षितः ।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात्कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥
विहितं भक्षणं राजन्पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥
राजोवाच—संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याऽभयार्थिनः ।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥ ४ ॥
प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते ।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥ ५ ॥
यो हि कश्चिद् द्विजान्हन्याद्गां वा लोकस्य मातरम् ।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ ६ ॥
श्येन उवाच—आहारात्सर्वभूतानि संभवन्ति महीपते ।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥
शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम् ।

एक सौ इकतीस अध्याय ॥ १३१ ॥

यह देखकर बाज का रूप रक्खे हुए इन्द्र ने राजा से कहा—हे महाराज ! सब राजा आपको धर्मात्मा कहते हैं । फिर आप क्यों इन, सब धर्मों के द्वारा अनिश्चित, कलह के कार्य को कर रहे हैं ? देखिए, भूख से मैं बहुत ही व्याकुल हो रहा हूँ । इसलिए आप धर्म के लोभ से मेरे इस विधिविहित आहार को मत बचाइए । जो आप मेरा यह आहार छीन लेंगे तो अवश्य आपको अधर्म होगा ॥१,२॥

राजा ने कहा—सुनो पक्षिराज ! यह कबूतर तुम्हारे भय के मारे प्राण बचाने के लिए मेरी शरण में आया है । क्या तुम नहीं जानते कि इसे मैं जो न दूँगा—इसे बचा लूँगा—तो मुझे परम धर्म होगा ? यह भय के मारे भागकर मेरी शरण में आया है; इसे छोड़ देना बहुत ही निन्दित काम होगा । जो कोई शरणागत की रक्षा नहीं करता उसे लोकमाता गाय की हत्या और ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है ॥३।६॥

बाज़ ने कहा—हे महाराज ! सब प्राणी

न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ८ ॥
भक्ष्याद्वियोजितस्याऽद्य मम प्राणा विशांपते ।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥ ९ ॥
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नंक्ष्यति ।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून्प्राणान्न रक्षसि ॥ १० ॥
धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् ।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ११ ॥
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥ १२ ॥
गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन्कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥ १३ ॥
राजोवाच—बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चाऽस्यसंशयम् ॥ १४ ॥
तथा हि धर्मसंयुक्तं बहुचित्रं च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् ॥ १५ ॥
शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।

आहार से ही जन्म लेते हैं, आहार से ही बढ़ते हैं और जीते हैं। जिसका त्याग करना बहुत ही कठिन है उस धन का त्याग करके भी बहुत समय तक जीवित रहा जा सकता है; किन्तु भोजन छोड़ कर जीते रहना सम्भव नहीं। आज भोजन न मिला तो मैं मर जाऊँगा। मेरी मृत्यु होने पर मेरे पुत्र-स्त्री आदि भी मर जायँगे। इसलिए आज आप एक कबूतर की रक्षा के लिए बहुत से प्राणियों की हत्या कर रहे हैं। जिस धर्म के करने से दूसरी ओर धर्म पर चोट लगे, वह धर्म नहीं कहा जा सकता अविरोधी धर्म ही धर्म कहे जाने के योग्य है। जब दो परस्पर-विरुद्ध धर्म आकर उपस्थित हों तब उन की छुटाई-बड़ाई का निश्चय करके बाधाहीन धर्म ही करना चाहिए। इस प्रकार धर्माधर्म का निराकरण करते हुए छुटाई-बड़ाई का विचार करके जिससे अधिक लाभ की आशा हो वही करना उचित है ॥७।१३॥

राजा ने कहा—हे पक्षिराज ! तुम क्या संशयहीन रूप से धर्म के तत्त्व को जानते हो ! तुम बहुत अच्छी धर्म की ऐसी विचित्र बातें कह

आहारार्थं समारंभस्तव चाऽयं विहंगम ॥ १६ ॥
शक्यश्चाऽप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चाऽन्यदिह कांक्षसि ॥ १७ ॥
श्येन उवाच—न वराहं न चोक्षाणं न मृगान्विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममाऽन्येन केन चित् ॥ १८ ॥
यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुंगव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १९ ॥
श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन्सारमज्ञात्वा कदलीस्कंधमासज ॥ २० ॥
राजोवाच—राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥ २१ ॥
विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥ २२ ॥

रहे हो, जिनसे जान पड़ता है कि तुम सभी विषय जानते हो। किन्तु शरण चाहनेवाले को विमुख कर देना तुम्हें कैसा युक्तिसङ्गत जान पड़ता है? खैर, तुम आहार के लिए ही तो ऐसा कर रहे हो। सो तुम इस कबूतर को छोड़कर और प्रकार से भी तो अधिक आहार की सामग्री पा सकते हो। अतएव साँड़, मृग, वराह, भैंसे आदि पशुओं में से जिसका मांस तुम चाहो उसका मैं अभी मँगा दूँ ॥१४।१७॥

बाज़ ने कहा—हे महाराज! मैं वराह, मृग आदि किसी का मांस नहीं खाता। और प्रकार के विविध भोजनों से भी मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। विधाता ने जिसे मेरा आहार बना दिया है उस इस कबूतर को ही छोड़ दीजिए। यह सनातन नियम है कि बाज़ कबूतर का शिकार करता और उसे खाता है। इस लिए आप पहले भीतर के साराश को देखे बिना केले के ऊपर मत चढ़िए। (तात्पर्य यह है कि आपका यह शरणागत-रक्षारूपी धर्म निःसार है।) ॥१८।२०॥

राजा ने कहा—हे पक्षिराज! मैं तुमको शिविवंश का भरा-पूरा राज्य, या तुम और जो कुछ माँगो, सब देने को तैयार हूँ। किन्तु इस शरण चाहनेवाले कबूतर को मैं किसी प्रकार नहीं छोड़

श्येन उवाच—उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २३ ॥
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २४ ॥
राजोवाच—अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माऽभियाचसे ।
तस्मात्तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २५ ॥
लोमश उवाच—उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित् ।
तुलयामास कौंतेय कपोतेन समं विभो ॥ २६ ॥
ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनाऽत्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २७ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २८ ॥
श्येन उवाच—इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्मं त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २९ ॥
यत्ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशांपते ।

सकता । बोलो, तुम इस कबूतर को किसी शर्त पर छोड़ सकते हो, मैं अभी उसको पूरी करूँगा । इसे किसी तरह तुमको नहीं दूँगा ॥२१।२२॥

बाज ने कहा—हे महाराज ! जो कबूतर पर आपको इतनी दया है तो अपने शरीर का मास काटकर, इस कबूतर के बराबर तौलकर, मुझे दीजिए। मैं सन्तुष्ट होकर इस कबूतर को छोड़ दूँगा । राजा ने कहा—हे पक्षिराज ! तुमने अपनी यह इच्छा प्रकट करके मुझपर बड़ी कृपा की । मैं अभी इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मास काटकर तुमको तौले देता हूँ ॥२३।२५॥

लोमशजी कहते हैं—परमधर्मज्ञ राजा उशीनर ने तराजू मँगाकर एक पल्ड़े पर कबूतर को रक्खा और दूसरे पलड़े पर अपने शरीर का मास काटकर रख दिया । किन्तु उनका वह उतना मास कबूतर के बराबर नहीं हुआ । तब राजा ने फिर मास काटकर उस पर चढ़ाया, तब भी वह कबूतर के बराबर नहीं हुआ । इस प्रकार शरीर का सारा मास काटकर चढ़ा देने पर भी जब पूरा वजन नहीं हुआ तब अन्त को राजा स्वय उस पल्ड़े पर बैठ गय ॥२६।२८॥

यह देखकर बाज ने कहा—हे महाराज ! बस रहने दीजिए । मैं इन्द्र हूँ और ये कबूतर के रूप में अग्निदेव हैं । हम दोनों तुम्हारे धर्मभाव की

एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ ३० ॥
यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यंति पार्थिव ।
तावत्कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यंति तव शाश्वताः ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणाऽऽवृत्य रोदसी ॥ ३२ ॥
विभ्राजमानो वपुषाऽप्यारुरोह त्रिविष्टपम् ।
तदेतत्सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ॥
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीय एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

परीक्षा लेने के लिए तुम्हारे यज्ञमण्डप में आये हैं। तुमने धर्मपालन के लिए अपने शरीर का मांस तक काटकर दे दिया, इससे संसार में तुम्हारी कीर्त्ति अक्षय होगी और तुमको अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त होगा ॥२९।३२॥

अब दोनों-देवता स्वर्ग को चले गये। धर्मात्मा उशीनर भी पृथ्वी और स्वर्ग में अपने धर्म को प्रसिद्ध करके अन्त को स्वर्गीय तेजवाला दिव्य शरीर पाकर स्वर्गलोक को सिधारे। राजन्! आप मेरे साथ महात्मा उशीनर का यह वही परम पवित्र पापमोचन स्थान देखिए। पुण्यात्मा महात्मा ब्राह्मण इसी स्थान पर देवता और सनातन ऋषियों के दर्शन पाते हैं ॥३३।३४॥

—०—

वनपर्व का एक सौ इकतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३१॥

अथ द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३२॥

लोमश उवाच—यः कथ्यते मंत्रविदग्ध्यबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्।
तस्याऽऽश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं सदा फलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥

एक सौ बत्तीस अध्याय ॥ १३२ ॥

लोमशजी ने कहा—हे महाराज! जो उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु संसार में वेदमन्त्रों के पूरे ज्ञाता कहलाते हैं उनका यह बहुत से फलोंवाले वृक्षों से शोभित पवित्र आश्रम देखिए। उक्त महर्षि ने

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति संप्रवृत्तां सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥
अस्मिन्युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ॥ ३ ॥
विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे वंदिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥
उपास्स्व कौंतेय सहानुजस्त्व तस्याऽऽश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य ।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहुर्योऽसौ वंदिं जनकस्याऽथ यज्ञे ॥ ५ ॥
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाऽभिगम्य वादे भंक्त्वा मज्जयामास नद्याम् ।
युधिष्ठिर उवाच—कथंप्रभावः स बभूव विप्रस्तथाभूतं यो निजग्राह वंदिम् ॥६॥
अष्टावक्रः केन चाऽसौ बभूव तत्सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ।
लोमश उवाच—उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत् ।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ८ ॥
तं वै विप्रः पर्यचरत्स शिष्यस्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः ।
तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं च भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥ ९ ॥
तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः सोऽधीयानं पितरं चाऽप्युवाच ।

इसी स्थान पर मनुष्यरूपिणी सरस्वती के दर्शन पाये थे। दर्शन पाकर उन्होंने सरस्वती से यह वर मागा कि मैं वाणी का जाननेवाला होऊँ। इस युग में कहोड़ ऋषि के पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु, ये दोनों मुनि वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे। ये दोनों मामा और भानजे थे। दोनों अमित प्रभावशाली और तपस्वी थे। विदेहराज के यज्ञमण्डप में जाकर इन दोनों ने शास्त्रार्थ में बन्दी नाम के विद्वान् को हराया था। शास्त्रार्थ में निपुण, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, बचपन में ही जनक के यज्ञ में विद्वान् बन्दी को शास्त्रार्थ में परास्त करके नदी में डुबानेवाले अष्टावक्र के नाना का यह अत्यन्त पवित्र आश्रम है। आप अपने भाइयों सहित इस आश्रम में चलिए ॥१-६॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! बन्दी को शास्त्रार्थ में परास्त करनेवाले अष्टावक्र ऋषि का कैसा प्रभाव था? और उनका अष्टावक्र नाम क्यों पड़ा? आप यह सब विस्तारपूर्वक मुझ से कहिए। लोमशजी ने कहा—हे महाराज! उद्दालक के कहोड नाम के एक शिष्य थे। उन्होंने गुरु-सेवा करके,

सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ १० ॥
उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः स तं कोपादुदरस्थं शशाप ।
यस्मात्कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि तस्माद्वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥
स वै तथा वक्र एवाऽभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः ।
अस्याऽऽसीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १२ ॥
संपीड्यमाना तु तदा सुजाता सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ १३ ॥
कथं करिष्याम्यधना महर्षे मासश्चाऽयं दशमो वर्तते मे ।
नैवाऽस्ति ते वसु किंचित्प्रजाता येनाऽहमेतामापदं निस्तरेयम् ॥ १४ ॥
उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो वित्तस्यार्थे जनकमथाऽभ्यगच्छत् ।
स वै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो वंदिनेहाऽप्सु विप्रः ॥ १५ ॥

गुरु के वश में रहकर, बहुत दिनों तक वेद पढ़े और मन-वाणी-काया से गुरु की सेवा की। उनकी सेवा देखकर उद्दालक बहुत प्रसन्न हुए। उद्दालक ने उनको सब वेद पढ़ाकर अपनी सुजाता नाम की बेटी ब्याह दी। कुछ समय में सुजाता के गर्भ रह गया। अग्निसदृश तेजस्वी बालक ने गर्भ के भीतर से ही पिता से कहा—हे पिताजी! आप रात्रि भर वेद पढ़ते रहते हैं, पर आपका पाठ ठीक नहीं होता ॥७।१०॥ [इस गर्भ में रहकर ही आपके प्रसाद से मैंने सब शास्त्र पढ़ लिये हैं, अङ्गों सहित वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसी से कहता हूँ, आपका वेदपाठ ठीक नहीं होता।]

शिष्यमण्डली के बीच यों कहने से अपना अपमान समझकर क्रोधित ऋषि ने अपने गर्भ-स्थित पुत्र को शाप देते हुए कहा—तुम गर्भ के भीतर से ही मुझसे यों [टेढ़ी बात] कहते हो, इस कारण आठ जगह से वक्र (टेढ़े) होकर तुम उत्पन्न होगे। मुनि के कहने के अनुसार वह बालक आठ जगह से टेढ़ा होकर उत्पन्न हुआ। उसका नाम अष्टावक्र ही हुआ। श्वेतकेतु अष्टावक्र के मामा थे। दोनों की अवस्था भी बराबर थी। अष्टावक्र जब गर्भ में ही थे और गर्भ में ही क्रमशः बढ़ते जाते थे तब सुजाता ने, ग़रीबी से पीड़ित होकर धन की इच्छा से एकान्त में पति के पास जाकर कहा—हे ऋषि-श्रेष्ठ! मुझे कोई उपाय नहीं सूझता। मेरा यह दसवाँ महीना आ गया है। आप बिलकुल निर्धन हैं। बालक उत्पन्न होने पर मैं किस तरह इस विपत्ति से छुटकारा पाऊँगी? ॥११।१४॥

सुजाता के यों कहने पर धन की प्रत्याशा से कहोड मुनि राजा जनक के यहाँ गये। वहाँ शास्त्रार्थ करने में चतुर बन्दी ने उन्हें परास्त करके जल में डुबा दिया। यह वृत्तान्त जब उद्दालक को मालूम हुआ तब उन्होंने सुजाता से कहा कि यह हाल अष्टावक्र से छिपाये रहना। सुजाता ने पिता की

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा ।
उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १६ ॥
ररक्ष सा चापि तमस्य मंत्रं जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः ।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने तथाऽष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥
ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतुरष्टावक्रं पितुरंके निषण्णम् ।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदंतं नाऽयं तवांऽकः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १८ ॥
यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत्तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य पप्रच्छेदं क नु तातो ममेति ॥ १९ ॥
ततः सुजाता परमार्तरूपा शापाद्भीता सर्वमेवाऽऽचचक्षे ।
तद्वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रावित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥
गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो बह्वाश्चर्यं श्रूयते तस्य राज्ञः ।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवादमर्थं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥
विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ॥ २२ ॥
तौ जग्मतुर्मातुल-भागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः ।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अष्टावक्रे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३२॥

आज्ञा का पालन किया। इस कारण जन्म होने पर भी अष्टावक्र को यह हाल नहीं मालूम हुआ। वे उद्दालक को पिता और श्वेतकेतु को भाई समझते थे ॥१५।१७॥

इसके पश्चात् बारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक की गोद में बैठे हुए अष्टावक्र को, दोनों हाथ पकड़कर, खींच लिया। जब अष्टावक्र रोने लगे तब श्वेतकेतु ने कहा—यह तुम्हारे पिता की गोद नहीं है। उनके ये कटु वचन सुनकर अष्टावक्र को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपनी माता के पास उसी समय जाकर पूछा—हे माता! मेरे पिता कहाँ हैं? सुजाता ने कष्ट से व्याकुल होकर इस भय से कि कहीं पुत्र शाप न दे दे, आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त कह दिया ॥१८॥२०॥

सब सुनकर रात्रि को ही अष्टावक्र अपने मामा श्वेतकेतु के पास गये। वहां जाकर उन्होंने कहा—चलो मामा! राजा जनक के यज्ञ में चलें। सुना है, उसका यह यज्ञ बड़ा अद्भुत है। हम वहां चलकर ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ सुनेंगे और बहुत सा धन

पावेंगे। सुन्दर कल्याणमय वेद-पाठ सुनने से हम विचक्षण होंगे। इसके पश्चात् मामा-भानजे दोनों राजा जनक के महायज्ञ को गये। रास्ते में राजा से भेंट हुई परन्तु द्वारपाल ने अष्टावक्र को भीतर जाने से रोका ॥२१।२३॥

—०—

वनपर्व का एक सौ बत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

अष्टावक्र उवाच—अंधस्य पंथा बधिरस्य पंथाः स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पंथाः।
राज्ञः पंथा ब्राह्मणेनाऽसमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पंथाः ॥ १ ॥
राजोवाच—पंथा अयं तेऽद्य मयाऽतिदिष्टो येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीयानिंद्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥
अष्टावक्र उवाच—प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं कांक्षावहे द्वारपतेस्तवाऽऽज्ञाम् ॥ ३ ॥
ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहाऽऽवां विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमानावयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥
द्वारपाल उवाच—वन्दे समादेशकरावयं स्म निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम्।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विदग्धाः प्रविशंत्यत्र विप्राः ॥ ५ ॥

एक सौ तेंतीस अध्याय ॥१३३॥

अष्टावक्र ने कहा—हे महाराज! ब्राह्मण सामने न हो तो पहले यथाक्रम अन्धे, बहरे, स्त्री, बोझ लादे हुए व्यक्ति और राजा को रास्ता देना चाहिए। किन्तु जो ब्राह्मण उपस्थित हो तो पहले उसी को जाने की राह देनी चाहिए। राजा ने कहा—मैं आपको राह देता हूँ; आप प्रसन्नतापूर्वक जाइए। अग्नि कभी छोटा नहीं है। इन्द्र भी सदा ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं ॥१।२॥

अष्टावक्र ने कहा—हम अत्यन्त कौतूहलवश आपका यज्ञ देखने यहाँ आये हैं। हम अतिथि हैं। भीतर जाने के लिए आपके द्वारपाल से आज्ञा मांगते हैं। राजन्! हमें यज्ञ देखने की इच्छा है। हम आपको देखने और आपसे बातचीत करने के लिए आये हैं। यह द्वारपाल भीतर जाने की राह नहीं देता, इससे हमारे हृदय में क्रोध भड़क रहा है। द्वारपाल ने कहा—हे विप्र! मैं पण्डितवर बन्दी की आज्ञा का पालन करता हूँ। मैं जो कहता हूँ, सो सुनिए। बूढ़े और चतुर ब्राह्मण ही इस यज्ञ में जाने के अधिकारी हैं; बालकों को इसके भीतर जाने का अधिकार नहीं ॥३।५॥

अष्टावक्र उवाच—यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल ।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेन समन्विताश्च ॥ ६ ॥
शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम् ।
न बाल इत्येव मन्तव्यमाहुर्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥
द्वारपाल उवाच—सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरं बहुरूपां विराजम् ।
अङ्गाऽऽत्मानं समवेक्षस्व बालं किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥
अष्टावक्र उवाच—न ज्ञायते कायवृद्धया विवृद्धिर्यथाऽष्ठीला शाल्मलेः संप्रवृद्धा ।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो यश्चाऽफलस्तस्य न वृद्ध भावः ॥ ९ ॥
द्वारपाल उवाच—वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः ।
नहि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालःस्थविर इव प्रभाषसे ॥ १० ॥
अष्टावक्र उवाच—न तेन स्थविरो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

अष्टावक्र ने कहा—जो यहा बूढ़ों को जाने का अधिकार है तो हम भी भीतर जा सकते हैं, क्योंकि हम ब्रह्मचारी और वेदपाठी होने के कारण ज्ञानवृद्ध हैं। फिर हम तो बड़ों की सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और सब शास्त्रों के पण्डित हैं। इसलिए बालक समझकर हमारा अपमान मत करो। आग थोड़ी होने पर भी छूते ही जला देती है ॥६।७॥

द्वारपाल ने कहा—ब्राह्मण! जो मालूम हो तो मुनिगण-सेवित एकाक्षरा बहुरूपिणी विराज-वाणी का प्रयोग करो। वृथा अपनी बड़ाई क्या कर रहे हो? अपने को बालक ही समझो। विद्वान् पुरुष बहुत ही दुर्लभ हैं ॥८॥

अष्टावक्र ने कहा—शरीर के बढ़ जाने से कोई बूढ़ा नहीं होता। सेमर के फल के भीतर की गाँठ, जिसमें रुई ही भरी होती है, जैसे बड़ी होने पर भी असार होती है वैसे ही केवल शरीर का बढ़ जाना है। जो छोटा,फलसम्पन्न और छोटे आकार का वही वृद्ध है। जो फलहीन है वह वृद्ध भी नहीं है ॥९॥

द्वारपाल ने कहा—बालकों को बूढ़ों से ही ज्ञान प्राप्त होता है। थोड़े समय में ज्ञान प्राप्त कर लेना सबकी शक्ति से बाहर है। इसलिए बालक होकर तुम बूढ़ों की सी बात क्यों करते हो? ॥१०॥

अष्टावक्र ने कहा—सिर के बाल श्वेत होने से ही कोई बूढ़ा नहीं हो जाता। जो व्यक्ति बालक होकर भी ज्ञानी है, उसे ही देवताओं ने स्थविर (वृद्ध) कहा है। ऋषियों के स्थापित

दिदृक्षुरस्मि संप्राप्तो वन्दिनं राजसंसदि ।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥
द्रष्टाऽस्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः ।
सहवादे विवृद्धे तु वंदिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥
पश्यंतु विप्राः परिपूर्णविद्याः सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः ।
उताहो वाऽप्युच्चतां नीचतां वा तूष्णीभूतेष्वेव सर्वेष्वथाऽद्य ॥ १५ ॥
द्वारपाल उवाच—कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां संप्रवेशम् ।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाऽहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥
अष्टावक्र उवाच—भो भो राजन् जनकानां वरिष्ठ त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम् ।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ॥ १७ ॥
वृद्धान्वन्दी वादविदो निगृह्य वादे भग्नानप्रतिशंकमानः ।
त्वयाऽभिसृष्टे पुरुषैराप्तकृद्भिर्जले सर्वान्मज्जयतीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥
सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशे ब्रह्माऽद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि ।
क्वाऽसौ वन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाशयामि ॥ १९ ॥

धर्म के अनुसार अवस्था से, बाल पकने से, धन से या बन्धुओं के अधिक होने से, किसी तरह महत्त्व नहीं मिलता। साङ्गोपाङ्ग वेद के जाननेवाले विद्वान् ही महत् और वृद्ध हैं। विद्वान् बन्दी को देखने के लिए हम राजसभा में आये हैं। इसलिए हे द्वारपाल! पुष्करमालाधारी जनक महाराज को हमारे आने की सूचना दो ॥११।१३॥

तुम देखना, अभी हम शास्त्रार्थ में बन्दी को परास्त करके राजा को, विद्याविशारद ब्राह्मणों को और पुरोहितों को आश्चर्य में डाल देंगे। तब तुम जानोगे, हम बालक हैं या बूढ़े ॥१४।१५॥

द्वारपाल ने कहा—हे ब्राह्मण के बालक! जिस यज्ञ में विद्वान् और शिक्षित लोग ही जाने पाते है वहा तुम दस वर्ष के बालक कैसे जाओगे? खैर मैं उपाय करता हूँ जिस में तुम भीतर जा सको तुम भी यथाशक्ति प्रयत्न करो। तब अष्टावक्र ने राजा जनक से कहा—हे महात्मा महाराज जनक! आप सम्राट हैं और आपके अधिकार में सब प्रकार की समृद्धी है। पूर्व समय में केवल राजा ययाति ने सब यज्ञ किये थे और इस समय आप सब यज्ञों को कर रहे हैं। सुना है, आपके यहा का बन्दी बड़ा पण्डित और विद्वान् है। वह शास्त्रियों को शास्त्रार्थ में परास्त करके, बेखटके आपकी आज्ञा से अपने आदमियों द्वारा जल में डुबवा देता है। यह सुनकर मैं भी ब्राह्मणों के समीप अद्वैत ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में कुछ कहने आया हूं। बताइए, वह बन्दी कहा

राजोवाच-आशंससे वन्दिनं वै विजेतुमविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं दृष्टश्चाऽसौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः ॥ २० ॥
आशंससे त्वं वन्दिनं वै विजेतुमविज्ञात्वा तु बलं वन्दिनोऽस्य ।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः ॥ २१ ॥
आशंसन्तो वन्दिनं जेतुकामास्तस्याऽन्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः ।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः ॥ २२ ॥
अष्टावक्र उवाच-विवादितोऽसौ नहि मादृशैर्हि सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः ।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य मार्गे भग्नं शकटमिवाऽचलाक्षम् ॥ २३ ॥
राजोवाच—त्रिंशकद्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदाऽर्थं स परः कविः ॥ २४ ॥
अष्टावक्र उवाच—चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि ।
तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥ २५ ॥
राजोवाच—वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २६ ॥

है ? सूर्य जैसे नक्षत्रों का तेज हर लेते हैं वैसे ही मैं उसे परास्त करूँगा ॥१६।१९॥

राजा ने कहा—हे ब्राह्मणकुमार ! आप बन्दी के विद्याबल को बिना जाने ही उसे परास्त करने की इच्छा कर रहे हैं। जो लोग बन्दी के प्रभाव को नहीं जानते वे ही इस तरह कहते हैं। बहुत से वेदपाठी ब्राह्मणों ने उसकी परीक्षा की है। यह निश्चय है कि उसका बुद्धि-विद्या-बल बिना जाने ही आप उसे परास्त करने की इच्छा कर रहे हैं। सूर्य का उदय होने पर तारागण जैसे श्रीहीन हो जाते हैं वैसे ही उससे शास्त्रार्थ करके अनेकों ब्राह्मण अपमानित और लज्जित हुए हैं। ज्ञान का अभिमान रखनेवाले लोग बन्दी को हराने की इच्छा से उसके पास आते ही सब हारकर चले जाते हैं, सभा में स्थित और लोगों से फिर बात ही नहीं कर सकते। अष्टावक्र ने कहा—हे महाराज ! बन्दी ने कभी मुझ ऐसे मनुष्य से शास्त्रार्थ नहीं किया। इसी से वह सिंह की तरह गरजता है। आज वह मेरे सामने आते ही निहत होकर राह में टूटे छकड़े की तरह निश्चल भाव से पड़ा रहेगा ॥२०।२३॥

राजा ने कहा—ब्राह्मण ! जो पुरुष तीस अङ्ग-वाले, बारह अंशवाले, चौबीस पर्ववाले, तीन सौ साठ आरेवाले पदार्थ के अर्थ को जानता है वही सबसे बड़ा पण्डित है ॥२४॥

अष्टावक्र ने कहा—हे महाराज ! चौबीस पर्व, छः नाभि, बारह प्रधि और तीन सौ साठ आरेवाला

अष्टावक्र उवाच—मा स्म ते ते गृहे राजञ्शात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिरागंता गर्भं सुपुवतुश्च तम् ॥ २७ ॥
राजोवाच—किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद् हृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥ २८ ॥
अष्टावक्र उवाच—मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ २९ ॥
राजोवाच—न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्व न त्वं बालः स्थविरः संमतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे तस्माद् द्वारं वितराम्येष वंदी ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अष्टावक्रीय त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३३॥

वही शीघ्रगामी कालचक्र आपकी रक्षा करे ॥२५॥ राजा ने कहा—जो दो वस्तुएँ घोड़ों के समान संयुक्त और बाज़ पक्षी के समान टूट पड़नेवाली हैं उनका देवताओं में से कौन देवता गर्भाधान करता है ? और वे वस्तुएँ क्या उत्पन्न करती हैं? ॥२६॥

अष्टावक्र ने कहा—हे महाराज ! वे दोनों आपके शत्रु के घर में भी न हों। वायु जिसका सारथी है वह मेघ उनका जन्म-दाता है और वे भी मेघ को उत्पन्न करती हैं ॥२७॥

राजा ने फिर पूछा—सोते समय आँखें कौन नहीं मूँदता ? जन्म लेकर कौन नहीं हिलता ? हृदय किसके नहीं है ? और कौन वस्तु वेग के साथ बढ़ती है ? अष्टावक्र ने कहा—मछली सोते समय आँखें नहीं मूँदती। अण्डा उत्पन्न होकर हिलता-डुलता नहीं है। पत्थर के हृदय नहीं है। नदी वेग से बढ़ती है ॥२८।२९॥

राजा ने कहा—हे देवसत्त्व ! आप मनुष्य नहीं जान पड़ते। आप बालक भी नहीं हैं। मैं आपको वृद्ध मानता हूँ। बचन-चातुरी में कोई भी आपकी बराबरी नहीं कर सकता। मैं आपको मण्डप के भीतर जाने के लिए राह दिखाता हूँ। देखिए, यह वही बन्दी है ॥३०॥

वनपर्व का एक सौ तेंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३३॥

अथ चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥

अष्टावक्र उवाच अत्रोग्रसेनसमितेषु राजन्समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नाऽवैमि वंदिं वरमत्रवादिनां महाजले हंसमिवाऽऽददामि ॥ १ ॥

एक सौ चौंतीस अध्याय ॥ १३४ ॥

अष्टावक्र ने कहा—हे राजेन्द्र ! इस सभा में उग्रसेन आदि अद्वितीय प्रतापी राजा लोग आये हैं। उनके मध्य में पहचान नहीं सकता कि शास्त्रार्थ करनेवालों में श्रेष्ठ बन्दी कौन है। गहरे जल में

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवाऽऽगमः ।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः स्थिरो भवस्वेह ममाऽद्य बंदिन् ॥ २ ॥
व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोध आशीविषं सृक्किणी संलिहानम् ।
पदा हतस्येह शिरोऽभिहत्य नाऽदष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥
यो वै दर्पात्संहननोपपन्नः सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥
सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा ह्यनडुहो यथा ॥ ५ ॥
यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां नदीषु गंगा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको वंदिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥
लोमश उवाच–एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जञ्जातक्रोधो वन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥
बंद्युवाच–एक एवाऽग्निर्बहुधा समिध्यते एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति ।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥

पड़े हंस की तरह उसे इधर-उधर देखता फिरता हूँ । हे अपने को बड़ा भारी तर्कशास्त्री समझनेवाले बन्दी ! नदी का जल जैसे सूर्य के प्रताप से सूख जाता है वैसे ही मैं तुम्हारी वाक्यधारा को रोक दूँगा । मैं जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी हूँ । इसलिए इस समय मेरे आगे स्थिर हो जाओ । क्रोधित साँप और सोये हुए बाघ को मत छेड़ना । तुम निश्चय जानो कि क्रोधित साँप और सोये बाघ को लात मारकर कोई भी कुशल से नहीं रह सकता। जो व्यक्ति बिलकुल ही दुर्बल है वह पर्वत को तोड़ने के लिए चतुराई के मारे यदि उस पर चोट भी करता है तो उसी के हाथ में चोट आजाती है, नाखून दबकर फट जाते हैं, किन्तु पर्वत का कुछ नहीं बिगड़ता । जैसे मैनाक पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है और वत्सों में गाय का बछड़ा प्रधान है वैसे ही राजा जनक सब नरेशों में श्रेष्ठ हैं । जैसे देवताओं में इन्द्र और नदियों में गङ्गाजी प्रधान हैं वैसे ही महाराज ! आप भी सब राजाओं में श्रेष्ठ है । इसलिए बन्दी को मेरे सामने लाइए ॥१।६॥

लोमशजी कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार क्रोधित अष्टावक्र ने सभा में गरजकर कहा—हे बन्दी ! आओ, हम परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर करें ॥७॥

बन्दी ने कहा—एक ही अग्नि कई प्रकार से जलाई जाती है; सूर्य एक होकर भी सारे जगत् को प्रकाशित करते हैं;एक वीर इन्द्र सब शत्रुओं के नाशक हैं और एक यमराज सब पितरों के स्वामी हैं ॥८॥

अष्टावक्र उवाच–द्वाविंद्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥
बंद्युवाच–त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहंति ।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाऽऽहुः ॥ १० ॥
अष्टावक्र उवाच–चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहंति ।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥
बंद्युवाच–पंचाग्नयः पंचपदा च पंक्तिर्यज्ञाः पंचैवाऽप्यथ पंचेन्द्रियाणि ।
दृष्टा वेदे पंचचूडाप्सराश्च लोके ख्यातं पंचनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥
अष्टावक्र उवाच–षडाधाने दक्षिणामाहुरेके षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम् ।
षडिंद्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १३ ॥
बंद्युवाच–सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः सप्त च्छंदांसि क्रतुमेकं वहंति ।
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्ततंत्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥
अष्टावक्र उवाच–अष्टौ शाणाः शतमानं वहंति तथाऽष्टपादः शरभः सिंहघाती ।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु यूपश्चाष्टास्त्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥

अष्टावक्र ने कहा—इन्द्र और अग्नि, ये दोनों सखा एक साथ विचरते हैं; नारद और पर्वत, दोनों देवर्षि हैं; अश्विनीकुमार दो हैं; रथ के पहिये दो होते हैं और विधाता के विधान के अनुसार स्त्री और पति दो जने होते हैं ॥९॥

बन्दी ने कहा—कर्म से तीन तरह के जन्म होते हैं, तीन वेद मिलकर वाजेपय यज्ञ को सम्पन्न करते है; अध्वर्युगण तीन तरह के स्नानों की विधि बताते हैं; लोक तीन प्रकार के है और ज्योति के भी तीन भेद कहे गये हैं ॥१०॥

अष्टावक्र ने कहा—ब्राह्मणों के आश्रम चार प्रकार के हैं; चार वर्ण यज्ञ को सम्पन्न करते हैं; दिशाएँ चार है, वर्ण चार प्रकार के हैं और गाय के चार पैर होते हैं ॥११॥

बन्दी ने कहा—अग्नि पांच हैं; पंक्ति छन्द में पांच चरण होते हैं; यज्ञ पांच प्रकार के है;इन्द्रयां पांच;हैं वेद में चैतन्यप्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा और स्मृति, ये पांच प्रकार की वृत्तियां कही हैं और पञ्चनद देश सर्वत्र पवित्र कहा जाता है ॥१२॥

अष्टावक्र ने कहा—अग्न्याधान की दक्षिणा में छ. गोदान की विधि है, ऋतुएँ छः हैं, इन्द्रियां छः हैं, कृत्तिका छः हैं और सारे वेद में छः साद्यस्क यज्ञ की विधि का वर्णन है ॥१३॥

बन्दी ने कहा—ग्राम्य पशु सात प्रकार के होते हैं; जङ्गली पशु भी सात प्रकार के होते हैं; सात छन्दों से एक यज्ञ सम्पन्न होता है; ऋषि

बंदीउवाच-नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।
नवाक्षरा बृहती संप्रदिष्टा नवैव योगो गणनामेति शश्वत् ॥ १६ ॥
अष्टावक्र उवाच दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके सहस्रमाहुर्दश पूर्णं शतानि ।
दशैव मासान्बिभ्रति गर्भवत्यो दशेरका दश दाशा दशार्हाः ॥ १७ ॥
बंदीउवाच-एकादशैकादशिनः पशूनामेकादशैवाऽत्र भवंति यूपाः ।
एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥
अष्टावक्र उवाच-संवत्सरं द्वादशमासमाहुर्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान्कथयंतीह धीराः ॥ १९ ॥
बंदीउवाच—त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता त्रयोदशद्वीपवती मही च ।
लोमश उवाच—एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी श्लोकस्याऽर्धं व्याजहाराऽष्टवक्रः ।
अष्टावक्र उवाच—त्रयोदशाहानि ससार केशी त्रयोदशादीन्यतिच्छंदांसि चाहुः २०
ततो महानुदतिष्ठन्निनादस्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानीमष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ॥ २१ ॥

सात है, पूजनीय सात हैं और वीणा का नाम सप्ततन्त्री है ॥१४॥

अष्टावक्र ने कहा—आठ गोणी का एक शतमान (माप) होता है; सिंह को मारनेवाले शरभ के आठ पैर होते हैं; देवताओं में आठ वसु हैं और सभी यज्ञों में आठ पहल का यूप होता है ॥१५॥

बन्दी ने कहा—पितृयज्ञ में नव 'सामिधेनी' होती हैं; नव योगों से सृष्टिक्रिया होती है; बृहती छन्द के चरण में नव अक्षर होते हैं और गणित के अङ्क नव हैं ॥१६॥

अष्टावक्र ने कहा—दिशाएं दस हैं, दस सैंकड़ों का एक हजार होता है; स्त्रियों का गर्भ दस महीनों में पूरी अवस्था को प्राप्त होता है; तत्त्व के उपदेशक दस हैं; अधिकारी दस हैं और द्वेष करनेवाले भी दस ही हैं ॥१७॥

बन्दी ने कहा—इन्द्रियों के विषय ग्यारह प्रकार के हैं; वे एकादश विषय ही जीवरूपी पशु के बन्धन का खम्भा हैं; प्राणियों के विकार ग्यारह प्रकार के हैं और रुद्र ग्यारह प्रसिद्ध हैं ॥१८॥

अष्टावक्र ने कहा—वर्ष बारह महीनों में पूरा होता है; जगती छन्द के चरण में बारह अक्षर होते हैं; बारह दिनों में प्राकृत यज्ञ पूरा होता है और बारह आदित्य सर्वत्र प्रसिद्ध हैं ॥१९॥

बन्दी ने कहा—त्रयोदशी तिथि पुण्यतिथि कही गई है, पृथ्वी के तेरह द्वीप हैं—इतना आधा ही कहकर बन्दी चुप हो रहा। तब उसकी पूर्त्ति करते हुए उसी समय अष्टावक्र ने कहा कि आत्मा के भोग तेरह प्रकार के हैं और बुद्धि आदि तेरह उसकी रुकावटें हैं। इसके पश्चात् बन्दी को नीचे मुँह किये चुप होकर सोचते और अष्टावक्र को

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥
अष्टावक्र उवाच—अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक्
तानेव धर्मानयमद्य वन्दी प्राप्नोतु गृह्याऽऽशु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥
बंद्युवाच—अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञस्तत्राऽऽस सत्रं द्वादशवार्षिकं वै ।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥
ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं द्रष्टुं गता इम आयान्ति भूयः ।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥
अष्टावक्र उवाच—विप्राः समुद्रांभसि मज्जिता ये वाचा जिता मेधया वा विदानाः
तां मेधया वाचमथोज्जहार यथावाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥
अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत् ।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाच मवचिन्वन्ति संतः ॥ २७ ॥

वाग्विवाद में चतुर पड़ते देखकर सभा में बड़ा कोलाहल सुन पड़न लगा । राजा जनक के उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डप में कोलाहल होने लगा । ब्राह्मण लोग हाथ जोड़कर अष्टावक्र के पास आ गये और सम्मान के साथ उनकी पूजा और प्रशंसा करने लगे ॥२०।२२॥

तब अष्टावक्र ने कहा—इस बन्दी ने ब्राह्मणों को विवाद में हराकर पहले जल में डुबवा दिया है । इसलिए इसे भी पकड़कर शीघ्र जल में डुबा दो ॥२३॥

बन्दी ने कहा—मैं वरुण का पुत्र हूँ । वे राजा जनक के समान, इतने ही दिनों का, बारह वर्ष में समाप्त होनेवाला यज्ञ कर रहे हैं । मैंने इसी कारण ब्राह्मणों को जलमार्ग से वहां भेजा है । वे सब ब्राह्मण उनका यज्ञ देखने गये हैं; वहां से फिर चले आवेंगे । मैं इन पूजनीय अष्टावक्र ऋषि की पूजा करता हूँ; क्योंकि मैं आज इनकी कृपा से अपने पूजनीय पिता वरुण देव के दर्शन करूँगा ॥२४।२५॥

अष्टावक्र ने कहा—ब्राह्मण लोग जिसके वाक्य या बुद्धि से हारकर समुद्र के जल में डुबाये गये हैं, बन्दी की उस वाक्यावली और बुद्धि को अपनी बुद्धि और वाक्यों से मैंने जिस तरह परास्त किया है सो सभी सज्जनों ने जान लिया ।* जातवेदा अग्नि जैसे स्वभाव से ही जलानेवाले होकर भी साधु सज्जनों के शरीर को छूने से भी नहीं जलाते, वैसे

* उस वेदमयी वाणी का, मेधा-सहित—जिसे कि बन्दी ने कुतर्क-रूपी समुद्र में डुबा दिया था—मैंने जिस तरह उद्धार किया है, उसको पण्डित लोग जाँचें ।

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताऽऽहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति ।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥ २८ ॥

जनक उवाच--शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात् ।
अजैषीर्यद्वन्दिनं त्वं विवादे निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच—नाऽनेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप ।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

बन्द्युवाच—अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं विद्यते मज्जितस्य ।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽयमष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच—ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना ।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच—इत्यर्थमिच्छंति सुताञ्जना जननकर्मणा ।
यदहं नाऽशकं कर्तुं तत्पुत्रः कृतवान्मम ॥ ३३ ॥
उताऽवलस्य बलवानुत बालस्य पंडितः ।
उत वाऽविदुषो विद्वान्पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥

ही बुद्धिमान् लोग बच्चों और अपने बालकों की बातों पर ध्यान नहीं देते। हे जनक! या तो श्लेष्मातकी (एक वृक्ष) के फलों को खाकर आपकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है (प्रसिद्ध है कि इस वृक्ष का फल खाने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है) और या लोगों के मुँह से अपनी स्तुति सुनकर आपको मद होगया है। इसी कारण आप हाथी की तरह आघात पाकर भी मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते ॥२६।२८॥

जनक ने कहा—हे ब्राह्मणबालक! आप साक्षात् देवरूप हैं। इसी से मैं आपके ये दिव्यरूप अमानुष वाक्य चुपचाप सुन रहा हूँ। आपसे वाद-विवाद में बन्दी परास्त हुए। इसलिए आप अपनी इच्छा के अनुसार उनके साथ व्यवहार कर सकते हैं।२९।

अष्टावक्र ने कहा—बन्दी जीवित रहे, तो इससे मुझे कुछ लाभ न होगा। इसलिए जो वरुण इसके पिता हैं तो इसे समुद्र में डुबा दीजिए ॥३०॥

बन्दी ने कहा—मैं वरुणदेव का पुत्र हूँ। इस कारण जल में डूबने से मुझे कुछ खटका नहीं है। अष्टावक्र इसी घड़ी बहुत दिन से खोये हुए अपने पिता कहोड के दर्शन पावेंगे ॥३१॥

लोमशजी कहते हैं—इसके बाद जल में पहले के डूबे हुए सब ब्राह्मण महात्मा वरुण से पूजा पाकर जल से बाहर निकले और राजा जनक के पास आये। उनमें कहोड भी थे। उन्होंने राजा से कहा—हे महाराज! मनुष्य इसी लिए पुत्र की इच्छा करते हैं। मैं जो नहीं कर सका था उसे

शितेन ते परशुना स्वयमेवाऽन्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरन्नाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥
महदौक्थ्यं गीयते साम चाऽग्र्यं सम्यक्सोमः पीयते चाऽत्र सत्रे ।
शुचीन्भागान्प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः साक्षाद्देवा जनकस्योत राज्ञः ॥ ३६ ॥
लोमश उवाच–समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाऽथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७ ॥
अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा संपूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाऽऽश्रममेव चाऽऽग्र्यं जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥
ततोऽष्टावक्रं मातुरथाऽन्तिके पिता नदीं समंगां शीघ्रमिमां विशस्व ।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश समैरंगैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥
नदी समंगा च बभूव पुण्या यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि ।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ॥ ४० ॥
अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैक भक्तिर्मया सार्धं चरितास्याजमीढ ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अष्टावक्रीय चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥१३४ ॥

मेरे पुत्र ने कर दिखाया। मैंने समझ लिया कि निर्बल के बली, अनभिज्ञ के पण्डित और मूर्ख के विद्वान् पुत्र भी उत्पन्न होता है। काल स्वय पैना फरसा लेकर युद्ध में आपके शत्रुओं के सिर काटता है। अपका भला हो। आपके इस यज्ञ में अच्छी तरह से खूब सोमरस पिलाया गया है, उक्थ्य और साम का गान हुआ है। देवताओं ने परम प्रसन्न हो स्वय आकर पवित्र यज्ञ के भागों को ग्रहण किया है ॥३२।३६॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार जल में डूबे हुए ब्राह्मण और भी अधिक तेजस्वी होकर जल से बाहर निकल आये। तब बन्दी, राजा जनक से आज्ञा लेकर, समुद्र में घुस गया। अष्टावक्र भी बन्दी को हराकर, अपने पिता की पूजा करवाकर और ब्राह्मणों से यथोचित सत्कार पाकर, मामा के साथ अपने पवित्र आश्रम को लौट आये। अब कहोड ने अपनी स्त्री के सामने अष्टावक्र से इसी समङ्गा नदी में स्नान करने के लिए कहा। अष्टावक्र ने स्नान किया। स्नान करते ही उनका कुबड़ापन दूर हो गया। तभी से यह पुण्यनदी समङ्गा नाम से प्रसिद्ध हुई। इसलिए आप भी भाइयों-सहित और द्रौपदी-समेत इस नदी में स्नान

कीजिए और इसका जल पीजिए। इस स्थान पर आप ब्राह्मणों और भाइयों के साथ रहकर और भी अनेक पुण्यकार्य कीजिए॥२७।४१॥

—०—

वनपर्व का एक सौ चौंतीस अध्याय समाप्त हुआ॥१३४॥

अथ पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३५॥

लोमश उवाच—एषा मधुविला राजन्समंगा संप्रकाशते ।
एतत्कर्दमिलं नाम भरतस्याऽभिषेचनम् ॥ १ ॥
अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः ।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समंगायां व्यमुच्यत ॥ २ ॥
एतद्विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत्पुरा ॥ ३ ॥
एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः ।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ ॥ ४ ॥
एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः ।
एषा प्रकाशते गंगा युधिष्ठिर महानदी ॥ ५ ॥
सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात्पुरा ।
आजमीढाऽवगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे ॥ ६ ॥
अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुंगं च पर्वतम् ।

एक सौ पैंतीस अध्याय ॥ १३५ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे महाराज ! यह वही पुण्यजननी समङ्गा नदी बह रही है। यह देखिए, भरत की कर्दमिल नाम की अभिषेक-भूमि है। कहा जाता है कि इन्द्र को वृत्रासुर के मारने से जब हत्या लगी थी तब इसी समङ्गा में स्नान करने से उनका वह पाप दूर हुआ था। यह वही विनशन तीर्थ मैनाक पर्वत के पास है। पहले किसी समय अदिति ने पुत्र की इच्छा से यहीं पर भोजन बनाया था। आप लोग इस पर्वतराज पर चढ़कर अयश का कारण जो अलक्ष्मी है उसके भय से अपने को छुड़ाइए॥१।४॥

हे राजेन्द्र ! वह सामने कनखल नाम की पर्वतमाला महानदी गङ्गा के साथ देख पड़ती है। इस पर्वतमाला पर अनेक ऋषि रहते हैं। पहले किसी समय भगवान् सनत्कुमार ने इसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त की थी। हे राजेन्द्र ! यहां स्नान करने

उष्णीगंगे च कौंतेय सामात्यः समुपस्पृश ॥ ७ ॥
आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते ।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय ॥ ८ ॥
एष रैभ्याश्रमः श्रीमान्पांडवेय प्रकाशते ।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान् ।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः ॥ १० ॥
एतत्सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे ॥ ११ ॥
लोमश उवाच—भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ संबभूवतुः ।
तावूषतुरिहाऽत्यंतं प्रीयमाणावनन्तरम् ॥ १२ ॥
रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू ।
आसीद्यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत ॥ १३ ॥
रैभ्यो विद्वान्सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात्प्रभृति भारत ॥ १४ ॥
यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।

से सब पाप नष्ट हो जायँगे। हे राजा युधिष्ठिर! मन्त्री-सहित इस पवित्र ह्रद, भृगुतुङ्ग पर्वत तथा उष्णी और गङ्गा नदियों में स्नान कीजिए। यह तपस्वी स्थूलशिरा का रमणीक आश्रम है। आप यहां पर अभिमान और क्रोध को छोड़ दीजिए। हे पाण्डव! वह श्रीमान् रैभ्य का आश्रम है। इसी स्थान पर भरद्वाज के पुत्र महाकवि यवक्रीत की मृत्यु हुई थी ॥५।९॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! भरद्वाज के पुत्र महातेजस्वी यवक्रीत कैसे योगाभ्यासी तपस्वी थे? किस लिए और क्योंकर उनका नाश हुआ? मैं आदि से अन्त तक यह उपाख्यान सुनना चाहता हूँ, क्योंकि देवतुल्य व्यक्तियों के किये कामों को सुनने से मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है।१०।११।

लोमशजी ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! भरद्वाज और रैभ्य दोनों परम मित्र थे। दोनों इस स्थान पर बहुत समय तक परम प्रीति के साथ रहे। रैभ्य के अर्वावसु और परावसु नाम के दो पुत्र हुए और भरद्वाज के यवक्रीत उत्पन्न हुए। रैभ्य और उनके दोनों पुत्र बड़े विद्वान् थे और भरद्वाज केवल तपस्वी थे। बाल्यकाल से ही रैभ्य और उनके पुत्रों की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई। यवक्रीत अपने तपस्वी

दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहाऽनघः ॥ १५ ॥
पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाऽभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पांडव ॥ १६ ॥
स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास सन्तापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥
तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥
यवक्रीत उवाच—द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रति भान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥
स्वाध्यायार्थं सभारंभो ममाऽयं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥
कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद्विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥
इन्द्र उवाच—अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाऽधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२ ॥
लोमश उवाच—एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।

पिता का अनादर और रैभ्य तथा उनके पुत्रों का इतना सम्मान देखकर बहुत ही दुखी हुए। वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे घोर तप करने लगे। जलती हुई अग्नि में अपने शरीर को तपाकर उन्होंने इन्द्र को सन्तप्त कर दिया ॥१२।१७॥

तब इन्द्र ने उनके पास आकर पूछा—हे ऋषिकुमार! आप किस लिए ऐसा कठोर तप कर रहे हैं? यवक्रीत ने कहा—हे इन्द्र! मैं उन वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह तप कर रहा हूँ जिन्हें अन्य ब्राह्मणों ने नहीं पढ़ा। तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए ही मेरा यह अनुष्ठान है। मैं तप के ही प्रभाव से सब ज्ञान-विज्ञान जान लेना चाहता हूँ। गुरु के मुँह से वेद की शिक्षा थोड़े दिनों में ही नहीं मिल सकती। इसी कारण मैं यह महान् और अद्‌भुत उद्योग कर रहा हूँ ॥१८।२१॥

इन्द्र ने कहा—आपने बिलकुल विपरीत मार्ग ग्रहण किया है। इसलिए वृथा आत्महत्या का क्या प्रयोजन है? गुरु के पास जाकर वेद पढ़ लीजिए ॥२२॥

लोमशजी कहते हैं—हे महाराज! यह कह

भूय एवाऽकरोद्यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥ २३ ॥
घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत्तपः ।
सन्तापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥
तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद्देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यंति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥
यवक्रीत उवाच—न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाऽहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥
समिद्धेऽग्नावुपकृत्यांऽगमंगं होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८ ॥
लोमश उवाच—निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥
तत इन्द्रो करोद्रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ॥ ३० ॥
यवक्रीतस्य यत्तीर्थं मुचितं शौचकर्मणि ।

कर इन्द्र चले गये। परम पराक्रमी यवक्रीत फिर तप करने लगे। सुना है कि अत्यन्त घोर तप करके उन्होंने फिर इन्द्र को बहुत सताया। तब इन्द्र उन महर्षि को ऐसा कठोर तप करते देखकर फिर उनके पास आये। उन्हें मना करके इन्द्र ने कहा—हे ब्राह्मण! आपका यह उद्योग बुद्धिमान् का काम नहीं है। इससे कभी आपका यह मनोरथ सिद्ध न होगा। मैं कहे देता हूँ कि आपको और आपके पिता को बिना पढ़े वेदों का ज्ञान न होगा ॥२३।२६॥

यवक्रीत ने कहा—हे इन्द्र! आपने मेरा मनोरथ पूरा नहीं किया, इसलिए मैं और कठोर नियमों का पालन करके ऐसा तप करूँगा जैसा किसी ने आज तक न किया होगा। मैं अपने सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को काटकर जलती हुई अग्नि में होम कर दूँगा ॥२७।२८॥

लोमशजी कहते हैं—इन्द्र यवक्रीत के इस अभिप्राय का हाल जानकर मन ही मन उन्हें इस उद्योग से रोकने का उपाय सोचने लगे। अन्त को वे कई सौ वर्ष के वृद्ध यक्ष्मारोगी दुर्बल तपस्वी ब्राह्मण का रूप रखकर, भागीरथी के पास यवक्रीत के स्नान के योग्य तीर्थभूमि पर, एक बालू का पुल बनाने

भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१ ॥
यदाऽस्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गंगां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥
वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥
तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवंतं निबंधने ।
प्रहसंश्चाऽब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः ॥ ३४ ॥
किमिदं वर्तते ब्रह्मन्किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान्यत्न क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥ ३५ ॥
इन्द्र उवाच—बन्धिष्ये सेतुना गंगां सुखः पंथा भविष्यति ।
क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥
यवक्रीत उवाच—नाऽय शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन ।
अशक्याद्विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥ ३७ ॥
इन्द्र उवाच—यथैव भवता चेद तपो वेदार्थमुद्यतम् ।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥ ३८ ॥

लगे। इसके पश्चात् ब्राह्मणश्रेष्ठ यवक्रीत ने जब उनके कहे को नहीं माना तब वे उसी बालू को मुट्ठी-मुट्ठी भर लेकर गङ्गा को पाटने के लिए जल में छोड़ने लगे और यवक्रीत को दिखाते हुए गङ्गा में पुल बनाने का उद्योग करने लगे। मुनिश्रेष्ठ यवक्रीत उनको इस प्रकार गङ्गा का पुल बनाने की चेष्टा में लगे हुए देख मुसकराकर कहने लगे—ब्रह्मन्! आप यह क्या कर रहे हैं? आप क्या चाहते हैं? क्यों आप यह निरर्थक प्रयत्न करते है? ॥२९।३५॥

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने कहा—हे ब्राह्मण! गङ्गा पार होने के समय लोगों को बड़ा कष्ट होता है। इसलिए मैं गङ्गा पर पुल बाँध दूँगा तो फिर सभी इस पार से उस पार सहज ही जा सकेंगे ॥३६॥

यवक्रीत ने कहा—भगवन्! आप इस महाप्रवाह को किसी तरह बाँध नहीं सकेंगे। इसलिए अशक्य कार्य छोड़कर जो कार्य हो सकता है उसे करने का प्रयत्न कीजिए ॥३७॥

इन्द्र ने कहा—हे विप्र! आप जैसे वेदज्ञान के लिए तप कर रहे हैं और इस प्रकार असाध्य-साधन करना चाहते हैं उसी प्रकार मैंने भी इस असाध्य कार्य को सिद्ध करने का बीड़ा उठाया है। यवक्रीत ने जान लिया कि वे इन्द्र ही हैं। तब उन्होंने कहा—हे देवराज! यदि मेरी यह इच्छा

यवक्रीत उवाच—यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।
तथा यदि ममाऽपीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥
क्रियतां यद्भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर ।
वरांश्च मे प्रयच्छाऽन्यान्यैरन्यान्भवितास्म्यति ॥ ४० ॥
लोमश उवाच—तस्मै प्रादाद्वरानिन्द्र उक्तवान्यान्महातपाः ।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः ॥ ४१ ॥
यच्चाऽन्यत्कांक्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति ।
स लब्धकामः पितरं समेत्याऽथेदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
यवक्रीत उवाच—प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः ।
अति चान्यान्भविष्यावो वरा लब्धास्तथा मया ॥ ४३ ॥
भरद्वाज उवाच—दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान् ।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनंक्ष्यसि ॥ ४४ ॥
अत्राऽप्युदाहरंतीमा गाथा देवैरुदाहृताः ।
मुनिरासीत्पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥
स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च स ॥ ४६ ॥

आपको असाध्य जान पड़ती है तो फिर जो आप कर सकते हों वही कीजिए और मैं जिसमें अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकूँ वह वर दीजिए ॥३८।४०॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! तब इन्द्र ने यवक्रीत की प्रार्थना के अनुसार वर देकर कहा—हे विप्र ! तुम पिता और पुत्र दोनों को सम्पूर्ण वेद अच्छी तरह आ जायगा और, तुम्हारी अन्यान्य इच्छाएँ भी सिद्ध होंगी। अब तुम जाओ। इस तरह यथेष्ट वर पाकर, सिद्धकाम हो, यवक्रीत अपने पिता के पास गये। पिता के पास जाकर उन्होंने कहा—हे पिता जी ! मैंने ऐसा वर पाया है कि हम दोनों को समग्र वेद पर अधिकार प्राप्त होगा और हम दोनों सब वेदज्ञों में मुख्य समझे जायँगे ॥४१।४३॥

पुत्र के ये बचन सुनकर भरद्वाज ने कहा—हे बेटा ! तुमने इच्छानुसार वर अवश्य पाया है; किन्तु इससे तुमको जो अभिमान होगा वह शीघ्र ही तुमको चौपट कर देगा। इस विषय में देवनगरी में जो गाथा कही जाती है सो सुनो। हे वत्स ! पहले किसी समय बालधि नाम के बड़े प्रभावशाली

तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः ।
नाऽमर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ४७ ॥
बालधिरुवाच—यथेमे पर्वताः शश्वात्तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्याऽऽयुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥
भरद्वाज उवाच—तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा ।
स तच्छ्रुत्वाऽकरोद्दर्पमृषींश्चैवाऽवमन्यत ॥ ४९ ॥
विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत्स महीमिमाम् ।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ५० ॥
तस्याऽपचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान् ।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ५१ ॥
धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥
लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्तवत् ।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥

एक मुनि थे । वे पुत्रशोक से पीड़ित होकर अपने एक अमर पुत्र होने की इच्छा से दुष्कर तप करने लगे । उससे उनकी इच्छा पूर्ण हो गई । देवताओं ने प्रसन्न होकर कहा—तुम्हारा पुत्र सब अंशों में अमरों के तुल्य नहीं होगा, क्योंकि मर्त्यलोक में कोई अमर नहीं है । अतएव उसकी आयु किसी कारण के अधीन होगी ॥४४।४७॥

बालधि ने कहा—हे देवगण ! यह जो अक्षय पर्वतमाला देख पड़ती है यही मेरे पुत्र की आयु का कारण होगी अर्थात् जब तक इसका नाश न हो तब तक मेरा पुत्र भी अमर रहे । भरद्वाज कहते हैं—इसके बाद यथासमय बालधि के मेधावी नामक एक बड़े क्रोधी मुनि उत्पन्न हुए । पिता के मुँह से सब वृत्तान्त सुनकर वे अभिमान के मारे सब ऋषियों का अपमान करने लगे । इस प्रकार अत्याचार करते हुए सारी पृथ्वी पर घूमते-घूमते महाप्रतापी धनुषाक्ष के पास पहुँचकर उन्होंने उनका अपमान किया । तब उन वीर्यशाली ऋषि ने "भस्म हो जा" कहकर उनको शाप दिया किन्तु वे भस्म नहीं हुए ॥४८।५१॥

यह देखकर धनुषाक्ष ने उनके विनाश के लिए भैंसे उत्पन्न किये और उनके द्वारा उस पर्वत-माला को उखाड़कर फिकवा दिया । इस प्रकार

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥
एवं लब्ध्वा वरान्बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात्तथा भवान् ॥ ५६ ॥
एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चाऽस्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाऽभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥ ५७ ॥
स हि क्रुद्धः समर्थश्च पुत्रं पीडयितुं रुषा ।
रैभ्यश्चाऽपि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥
यवक्रीत उवाच—एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथञ्चन ।
यथा हि मे भवान्मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥ ५९ ॥
लोमश उवाच—उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत्परया मुदा ॥ ६० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां
यवक्रीतोपाख्याने पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

जीवन का कारणरूप वह पर्वतमाला नष्ट होने पर वह बालक भी मर गया । तब बालधि अपने मरे हुए पुत्र को लेकर विलाप करने लगे । वेदज्ञ ऋषियों ने उन्हें बारम्बार व्याकुल भाव से विलाप करते देखकर जो गाथा कही है सो सुनो। ऋषियों ने कहा—"मरणशील मनुष्य कभी किसी प्रकार दैवनिर्दिष्ट विधि को लाँघ नहीं सकता; क्योंकि धनुषाक्ष ने भैंसों के द्वारा पर्वतमाला को उखड़वा डाला ।" हे वत्स ! तपस्वी बालकगण इस प्रकार वर पाकर अभिमान के मारे शीघ्र ही नष्ट हो जाते है । तुम भी कहीं अभिमान के मारे उसी तरह विनष्ट न हो जाओ । ये रैभ्य जैसे पराक्रमी हैं वैसे ही उनके दोनों पुत्र भी प्रतापी हैं । इसलिए सावधान हो जाओ, उनके समीप कभी न जाना। क्योंकि महर्षि रैभ्य बड़े ही क्रोधी हैं । क्रुद्ध होने पर वे सहज ही तुम्हें नष्ट कर सकते हैं ॥५२।५८॥

यवक्रीत ने कहा—हे पिताजी ! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही कार्य करूँगा । आप दुःखित न हों । आपकी तरह महर्षि रैभ्य भी मेरे पिता और पूजनीय हैं । लोमशजी कहते है—हे राजा युधिष्ठिर ! यवक्रीत अपने पिता को इस तरह परम प्रसन्न करके बेधड़क ऋषियों का अनादर करके परम आनन्द मनाने लगे ॥५९।६०॥

—०—

वनपर्व का एक सौ पैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३५॥

अथ षट्‌त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

लोमश उवाच—चंक्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥
स ददर्शाऽऽश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥
यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥
सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वा जगाम ह ॥ ४ ॥
तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिन्दम ॥ ५ ॥
रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
सा तस्मै सर्वमाचष्टे यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ॥ ७ ॥
शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रेस्तद्विचेष्टनम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥

एक सौ छत्तीस अध्याय ॥१३६॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इस के पश्चात् बेखटक विचरते हुए यवक्रीत एक समय वसन्त ऋतु में महर्षि रैभ्य के आश्रम में पहुँचे। उन्होंने देखा, फूले हुए वृक्षों से भूषित वह आश्रम बहुत ही भला देख पड़ रहा है और किन्नरी के समान सुन्दरी रैभ्य के पुत्र की स्त्री वहा विचर रही है। उसे देखते ही यवक्रीत ने लोकलज्जा छोड़कर कामदेव के वश हो उस लज्जावती कुलवधू से कहा—हे सुन्दरी ! मुझे स्वीकार करो। तब वह सुन्दरी यवक्रीत के क्रोधी स्वभाव का पता पाकर और रैभ्य के तेज का विचारकर बहुत अच्छा कहकर वहाँ से चल दी। उसने सोचा कि स्वीकार न करूँगी तो यवक्रीत अभी शाप दे देंगे। इससे अभी स्वीकार कर लो, फिर रैभ्य के तेज का विचार करके ये कुछ अन्याय न कर सकेंगे। किन्तु यवक्रीत उसके साथ ही रहे और निर्जन स्थान में अपनी इच्छा पूरी करके चल दिये ॥१।५॥

इसी बीच में महर्षि रैभ्य ने आश्रम में आकर

स तदा मन्युनाऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाऽग्नौ सुसंस्कृते ॥ ९ ॥
ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण संमिता ।
अवलुच्याऽपरां चाऽपि जुहावाऽग्नौ जटां पुनः ॥ १० ॥
ततः समभवद्रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम् ।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवामहे ॥ ११ ॥
तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति ।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥
ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना ।
कमण्डलुं जहाराऽस्य मोहयित्वेव भारत ॥ १३ ॥
उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम् ।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥
तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया ।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद्येन वै सरः ॥ १५ ॥
जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः ।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाऽप्यासन्विशोषिताः ॥ १६ ॥

देखा कि उनके पुत्र की स्त्री रो रही है । तब उसे मधुर वचनों से दिलासा देकर उन्होंने उससे रोने का कारण पूछा । उस सुन्दरी ने, सोच विचारकर, यवक्रीत से और उससे जो बातचीत हुई थी सो सब रैभ्य से कह दिया । यवक्रीत के इस कुकर्म की बात सुनकर रैभ्य बहुत क्रोधित हुए ॥ ६।८॥

उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़कर अग्नि में डाल दी । देखते ही देखते उनकी पुत्रवधू के समान सुन्दरी एक स्त्री अग्नि से प्रकट हुई । तब फिर एक जटा उखाड़कर उन्होंने उसी प्रकार अग्नि में छोड़ी । अब एक भयानक रूप और भयङ्कर दृष्टिवाला राक्षस उस अग्नि से प्रकट हुआ । उस राक्षस और स्त्री ने रैभ्य से कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! कहिए, हम आपका क्या कार्य करें ॥९।११॥

ऋषि ने क्रोध से अधीर होकर कहा—जाओ, तुम यवक्रीत को मार डालो । 'बहुत अच्छा' कहकर वे दोनों, यवक्रीत को मारने के लिए चले । वे जब यवक्रीत के पास पहुँचे तब उस स्त्री ने ऋषि को मोहित करके उनका कमण्डलु उठा लिया ॥१२।१३॥

कमण्डलु लेकर जब वह स्त्री चली गई, तब उन्हें उच्छिष्ट और कमण्डलुहीन देखकर वह राक्षस उनकी ओर शूल तानकर दौड़ा । मारने की इच्छा

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्निहोत्रे पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ॥ १७ ॥
स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणाऽन्धेन रक्षिणा ।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ॥ १८ ॥
निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः ।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥
यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत् ।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहाऽवसत् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३६॥

से शूल हाथ में लिये उस राक्षस को अपनी ओर आते देख यवक्रीत उठकर एकाएक सरोवर की ओर दौड़े। किन्तु जब उस सरोवर में जल न देख पड़ा तब वे दौड़ते हुए इधर-उधर सब जलाशयों के पास गये। परन्तु दुर्भाग्यवश जिस जलाशय के पास वे जाते थे वही सूख जाता था। तब उस भयङ्कर राक्षस के आक्रमण से भयभीत होकर वे एकाएक अपने पिता के अग्निहोत्र गृह में घुसने लगे। एक अन्धा शूद्र उस अग्निहोत्रशाला की रखवाली किया करता था। उसने यवक्रीत को भीतर जाने से बलपूर्वक रोका। भीतर न जा सकने पर वे बाहर ही द्वार पर खड़े रहे। राक्षस ने उसी घड़ी शूल मारकर यवक्रीत का हृदय फाड़ डाला। वे मरकर पृथ्वी पर गिर पड़े। वह राक्षस भी यवक्रीत को मारकर रैभ्य के पास उनकी आज्ञा पाकर उस स्त्री के साथ वहीं रहने लगा ॥१४।२०॥

वनपर्व एक सौ छत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३६॥

अथ सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३७॥

लोमश उवाच—भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम् ।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥
तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः ।

एक सौ सैंतीस अध्याय ॥ १३७ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इधर महातपस्वी तेजस्वी भरद्वाज स्वाध्यायपाठ और नित्य कृत्य समाप्त करके, लकड़ी आदि सामग्री लेकर, अपने आश्रम को लौटे। पहले अग्निहोत्र के अग्नि उन्हें देखते ही प्रज्वलित हो उठते थे; पर आज वैसा नहीं हुआ। महर्षि ने अग्निहोत्र का यह विकृत

न श्वेतमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाऽग्नयः ॥ २ ॥
वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः ।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाऽब्रवीत् ॥ ३ ॥
किं नु मे नाऽग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम् ।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित्क्षेममिहाऽऽश्रमे ॥ ४ ॥
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः ।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुध्यति मे मनः ॥ ५ ॥
शूद्र उवाच—रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः ।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ॥ ६ ॥
प्रकाल्यमानस्तेनाऽयं शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्न्यगारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ॥ ७ ॥
ततः स निहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम् ।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा ॥ ८ ॥
भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत् ।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ॥ ९ ॥
भरद्वाज उवाच—ब्राह्मणानां किलाऽर्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः ।

भाव देखकर सामने बैठे हुए उस गृहपाल अन्धे शूद्र से पूछा—हे शूद्र ! आज ये अग्निहोत्र के अग्नि क्यों पहले की तरह मेरा अभिनन्दन नहीं करते ? और तुम भी क्यों पहले की तरह मुझे देखते ही उठ कर खड़े नहीं हुए ? आश्रम में किसी तरह का अमङ्गल तो नहीं हुआ ? मेरा वह थोड़ा बुद्धिवाला पुत्र तो रैभ्य के यहा नहीं गया ? मुझसे सब समाचार शीघ्र कहो, मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है ॥१।५॥

शूद्र ने कहा—ब्रह्मन् ! आपका बुद्धिहीन पुत्र रैभ्य के यहाँ गया था। वह देखिए, बली राक्षस के हाथों मारा जाकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ है। राक्षस शूल हाथ में लिये आ रहा था, यवक्रीत आकर अग्निहोत्रशाला में घुसना चाहता था। मैंने दोनों हाथ फैलाकर उसे भीतर जाने से रोका। वह अपवित्र था, इसी से घबराकर जल खोज रहा था। इसी बीच राक्षस ने आकर वेग से शूल मारकर उसे मार डाला। महर्षि भरद्वाज इस बड़े भारी अप्रिय समाचार को सुनकर अत्यन्त दुःखित हुए और पुत्र की लाश को गोद में लेकर विलाप करने लगे ॥६।९॥

वे कहने लगे—हाय पुत्र ! तुमने ब्राह्मणों के

द्विजानामनधीता वै वेदाः संप्रतिभान्त्विति ॥ १० ॥
तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥
प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात् ।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम् ॥ १२ ॥
यः स जानन्महातेजा वृद्धस्यैकं ममाऽऽत्मजम् ।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ॥ १३ ॥
पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा ।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान्भुवि ॥ १४ ॥
यथाऽहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी ।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्य हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ॥ १५ ॥
सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते ।
ये पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम् ॥ १६ ॥
ये तु पुत्रकृताच्छोकाद्भृशं व्याकुलचेतसः ।
शपन्तीष्टान्सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः ॥ १७ ॥
परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया ।

हित के लिए ही तप किया था, जिसमें ब्राह्मणों को बिना पढ़े ही वेदों का ज्ञान हो जाय। तुम ब्राह्मणों में बड़े ही अच्छे स्वभाव के थे। तुम्हारा स्वभाव कड़ा अवश्य था, पर तुमने कभी किसी का कुछ अनिष्ट नहीं किया। हाय पुत्र! मैंने तुमको मना किया था कि तुम रैभ्य के आश्रम में न जाना, तो भी तुम उस अपने काल के यहाँ गये। हाय! दुर्मति रैभ्य ने तुमको मेरे इस बुढ़ापे का एक मात्र सहारा जानकर भी क्रोध में आकर यह अनर्थ कर डाला ॥१०।१३॥

मुझे रैभ्य के कारण ही यह पुत्रशोक हुआ। हाय पुत्र! मैं तुम्हारे बिना इन प्यारे प्राणों को त्याग दूँगा। मैं जैसे पुत्रशोक से प्राणत्याग करता हूँ वैसे ही रैभ्य भी, बिना अपराध के अपने बड़े पुत्र के हाथों मारे जायँगे। हाय! इस संसार में जिनके पुत्र नहीं है वे ही सुखी हैं। उन्हें पुत्रशोक का अनुभव नहीं होता और वे सुख से संसार में इच्छानुसार रहते हैं। जो लोग पुत्रशोक से अत्यन्त आकुल होकर परम प्रिय मित्र को भी शाप दे डालते है उनसे बढ़कर पापी और कौन है? मैंने

ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

लोमश उवाच—विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत्सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात्प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

एक ओर पुत्र को मरते देखा, दूसरी ओर अपने प्रिय मित्र को शाप दे दिया। एक साथ ही मुझे पुत्रनाश और मित्रनाश का कष्ट सहना पड़ा। मेरे सिवा कदाचित् और किसी पर ऐसी विपत्ति नहीं पड़ी होगी ॥१४।१८॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इसी प्रकार विलाप करके भरद्वाज ने पुत्र का दाहकर्म किया और फिर वे आप भी अग्नि में जल करके भस्म हो गये ॥१९॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३७॥

अथ अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३८॥

लोमश उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्युम्नो महीपतिः ।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥
तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थं बृहद्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥
तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद्रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥
अथाऽवलोककोऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

एक सौ अड़तीस अध्याय ॥ १३८ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इसी समय महाप्रतापी रैभ्य के पुत्र, यज्ञ करते हुए राजा बृहद्युम्न के यहां, आचार्य का काम कर रहे थे। रैभ्य के पुत्र अर्वावसु और परावसु को राजा ने अपने यज्ञ में आचार्य का काम करने के लिए बुलाया। दोनों ही, पिता से पूछकर, राजा के यहां गये। रैभ्य और परावसु की भार्या, दोनों आश्रम में रहे। ॥१।३॥

एक समय परावसु अँधेरी रात में आश्रम को देखने गये। काली मृगछाला ओढ़े रैभ्य को, गहरी

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥
मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥
तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागम्य तत्सत्रमब्रवीद्भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन ।
मया च हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥
अर्वावसुरुवाच—करोतु वै भवान्सत्रं बृहद्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्मवध्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेंद्रियः ॥ १० ॥
लोमश उवाच—स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ॥
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा दृष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत्त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

नींद में सोते, देखकर परावसु ने उन्हें जङ्गली मृग समझकर मार डाला। जब उन्हें मालूम हुआ कि वे उन्हीं के पिता थे, तब उनका सब क्रिया-कर्म करके परावसु यज्ञभूमि में गये। वहां जाकर उन्होंने अपने भाई अर्वावसु से कहा—हे भाई! मैंने हिरन के धोखे से पिता को मार डाला है। उसके लिए ब्रह्महिंसन व्रत करना होगा। किन्तु तुम अकेले किसी तरह इतने बड़े यज्ञ का काम नहीं सँभाल सकोगे, इस कारण तुम्हीं वह व्रत कर डालो। मैं अकेला यह यज्ञकार्य कर लूँगा ॥४।९॥

अर्वावसु ने कहा—हे भाई! तो फिर आप ही बृहद्युम्न को यज्ञ कराइए। मैं जितेन्द्रिय होकर आप की ओर से नियमपूर्वक ब्रह्महिंसन व्रत का अनुष्ठान करूँगा ॥१०॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! उस व्रत को समाप्त करके जब अर्वावसु फिर यज्ञ-

लोमश उवाच—तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पते ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥
नैव स प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ॥ १६ ॥
स तथा प्रवदन्क्रोधात्तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ॥ १७ ॥
उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाऽऽश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान्सूर्यस्य द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥
मूर्तिमांस्तं ददर्शाऽथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।
लोमश उवाच—प्रीतास्तस्याऽभवन्देवाः कर्मणाऽर्वावसोर्नृप ॥ १९ ॥
तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ॥ २० ॥
स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चाऽस्मरणं वधे ॥ २१ ॥

मण्डप में आये तब परावसु ने उन्हें देखकर बृहद्युम्न से कहा—राजन्! यह ब्रह्मघाती आपके यज्ञ में न आने पावे; क्योंकि इस (हत्यारे) को देखना भी आपके लिए दुःखदायक होगा ॥११।१३॥

यह सुनकर राजा ने अपने नौकरों से कहकर उनको भीतर आने से रोक दिया। अर्वावसु ने बारम्बार कहा कि मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है, पर किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया, और उन्हें सचमुच ब्रह्महत्या करनेवाला समझ लिया। तब अर्वावसु कहने लगे—मैंने स्वयं ब्रह्महत्या नहीं की; मेरे भाई ने ही यह कर्म किया है। मैंने मन का अनुष्ठान करके इन्हें उस पाप से छुड़ाया अवश्य है। क्रोधित होकर उनके यों कहने पर भी नौकरों ने उन्हें यज्ञशाला से बाहर निकाल दिया। तब वे महातपस्वी महर्षि वन में जाकर कठोर तप करते हुए सूर्य के शरणागत हुए। उन्होंने उसी समय सूर्य-रहस्य नामक एक नूतन वेद बनाया। भगवान् भास्कर उनके सामने प्रकट हुए ॥१४।१९॥

हे राजेन्द्र! तब अग्नि आदि सब देवताओं ने अर्वावसु के इस कार्य से प्रसन्न होकर उन्हें यज्ञ के कार्य का आचार्यपद दिया और परावसु को उस कार्य से अलग कर दिया। जब सब देवता वर

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चाऽपि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान्ददुः ॥ २२ ॥
ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाऽब्रवीद्यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ २३ ॥
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ॥ २४ ॥
तथा युक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।
देवा ऊचुः—मैवं कृथा यवक्रीत तथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥
अनेन तु गुरून्दुःखात्तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा ।
कालेन महता क्लेशाद्ब्रह्माऽधिगतमुत्तमम् ॥ २६ ॥
लोमश उवाच—यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ।
सञ्जीवयित्वा तान्सर्वान्पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ २७ ॥
आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः ।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

देने के लिए तैयार हुए तब अर्वावसु ने कहा—हे देवताओ ! मेरे पिता फिर जी उठें; भाई को हत्या का दोष न लगे और अपनी हत्या का वृत्तान्त पिता को स्मरण न रहे । भरद्वाज और यवक्रीत भी फिर जी उठें । मेरे बनाये इस सौर वेद की संसार में सब जगह प्रतिष्ठा हो । देवताओं ने 'तथास्तु' कहकर ये सब वरदान उनको दिये । जब सब लोग जीवित हो उठे तब यवक्रीत ने देवताओं से कहा—हे देवताओ ! मैंने सब वेद पढ़े और सब व्रत किये; तो भी फिर रैभ्य कैसे, विधि के अनुसार, मेरी हत्या करा सके ? देवताओं ने कहा—हे यवक्रीत ! तुम जैसा कह रहे हो वैसा वास्तव में नहीं है । तुमने पहले गुरु की सहायता के बिना सहज ही वेद पढ़ लिये हैं । किन्तु रैभ्य ने अपने कर्त्तव्यपालन से गुरु को सन्तुष्ट करके, क्लेश सहकर, बहुत दिनों में उन वेदों का अध्ययन किया है ॥२०।२६॥

इन्द्र आदि देवता यों कहकर, सबको जिलाकर,

स्वर्ग को चले गये । हे महाराज ! यह उन्हीं यवक्रीत का पवित्र आश्रम है । इसके वृक्ष सदा फूले और फले रहते हैं । यहां रहने से आप सब पापों से छुटकारा पा जायँगे ॥२७।२८॥

वनपर्व का एक सौ अड़तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३८॥

अथ ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

लोमश उवाच—उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥
एषा गंगा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राऽग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥
एतद्वै मानुषेणाऽद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम् ।
समाधिं कुरुताऽव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥
एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम् ।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम् ॥ ४ ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम् ।
यत्र माणिवरो यक्षः कुवेरश्चैव यक्षराट् ॥ ५ ॥
अष्टाशीति सहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः ।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ६ ॥
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ७ ॥

एक सौ उन्तालीस अध्याय ॥ १३९ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! आप उशीरबीज, मैनाक, श्वेतगिरि और कालशैल पर्वतों को लाघ आये । वह देखिए, गङ्गाजी सात धाराओं से शोभायमान हैं । इस निष्पाप पवित्र प्रदेश में अग्निदेव सदा प्रज्वलित रहते हैं । आज तक कोई मनुष्य इस अद्भुत स्थान को नहीं देख सका । अतएव एकाग्र होकर समाधि लगाइए; तभी आपको यहा के सब दृश्य देख पड़ेंगे । हे पार्थ ! आप जिस देवताओं की क्रीड़ाभूमि कालशैल को लाघ आये हैं वह अब तक देख पड़ रहा है ॥१।४॥

अब हम श्वेतगिरि और मन्दराचल के बीच में प्रवेश करेंगे । इस स्थान पर मणिभद्र यक्ष और यक्षराज कुबेर रहते हैं । अट्ठासी हज़ार शीघ्रगामी गन्धर्व, किम्पुरुष और उनसे चौगुने यक्ष अनेक प्रकार

तेषामृद्धिरतीवाऽत्र गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात्प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥
तैस्तात वलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः ।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ९ ॥
कुवेरसचिवाश्चाऽन्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः ।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ॥ १० ॥
कैलासः पर्वतो राजन्पड्योजनसमुच्छ्रितः ।
यत्र देवाः समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ ११ ॥
असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुवेरसदनं प्रति ॥ १२ ॥
तान्विगाहस्व पार्थाऽद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन्भीमसेनवलेन च ॥ १३ ॥
स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः ।
गंगा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १४ ॥
मरुतश्च सहाऽश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च ।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥ १५ ॥

के अस्त्र-शस्त्र लिये, यक्षराज मणिभद्र की सेवा में रहते हैं। वे वेग में वायु के तुल्य और ऐसे तेजस्वी हैं कि इन्द्र को भी परास्त कर सकते हैं ॥५।८॥

एक तो ये पर्वती स्थान योंही दुर्गम हैं, दूसरे बलशाली यक्षों और राक्षसों के द्वारा रक्षित हैं। अतएव आप एकाग्र और मौन हो जाइए। हम लोग यक्षराज के मन्त्री को, रौद्र और मैत्र नाम के राक्षसों को देखेंगे। हे राजेन्द्र! यह छः योजन ऊँचा कैलाश पर्वत देखिए। इस स्थान पर बहुत से देवता लोग असंख्य यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, गरुड़ और गन्धर्वों के साथ कुबेर के भवन में आया करते हैं। हे महाराज! अब आप मेरी तपस्या, दम गुण और भीमसेन के बल से रक्षित होकर उन्हें देखने के लिए जाइए ॥९।१३॥

आज राजा वरुण, युद्धविजयी यमराज, गङ्गा यमुना, पर्वत, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, नदी, सरोवर, देवता, असुर और वसुगण, ये सब आपका मङ्गल करें। हे भगवती गङ्गे! मैं इन्द्र के जाम्बूनद पर्वत से तुम्हारे प्रवाह का शब्द सुन रहा हूँ। हे सुभगे! तुम इन अजमीढ़ राजा के वंशधरों-सहित राजा युधिष्ठिर की गिरिदुर्ग से रक्षा करो। हे शैलसुते! ये राजा दुर्गम पर्वतों के भीतर जाना चाहते हैं,

इन्द्रस्य जांबूनदपर्वनाद्वै शृणोमि घोषं तव देवि गंगे ।
गोपाययेमं सुभगे गिरिभ्यः सर्वाजमीढोपचितं नरेन्द्रम् ॥ १६ ॥
ददस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य ।
उक्त्वा तथा सागरगां सविप्रो यत्तो भवस्वेति शशास पार्थम् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम् ।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य तस्मात्परं शौचमिहाऽऽचरध्वम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततोऽब्रवीद्भीममुदारवीर्यं कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन ।
शून्येऽर्जुनेऽसन्निहिते च तात त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥ १९ ॥
ततो महात्मा स यमौ समेत्य मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे ।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३९ ॥

इसलिए इनका भला करो । गङ्गा से यों कहकर लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर को सावधान रहने की आज्ञा दी । तब युधिष्ठिर ने कहा—लोमशजी की यह व्यग्रता देखने से मुझे जान पड़ता है कि यह स्थान बहुत ही दुर्गम है । इस कारण सब लोग विशेष रूप से पवित्रता और आचार का पालन करते हुए सावधानी के साथ द्रौपदी की रक्षा करो ॥१४।१८॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर ने फिर परम पराक्रमी भीमसेन से कहा कि हे भीम ! अर्जुन के पास रहने पर भी सङ्कट के समय द्रौपदी तुम्हारा ही आसरा लिया करती थी । इसलिए यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करो । फिर नकुल और सहदेव के पास जाकर उनका मस्तक सूँघा और शरीर पर हाथ फेरकर कहा—भाई नकुल और सहदेव ! तुम डरना नहीं । सावधानी के साथ आओ ॥१९।२०॥

—०—

वनपर्व का एक सौ उन्तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१३९॥

अथ चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥१४०॥

युधिष्ठिर उवाच—अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च ।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ॥ १ ॥

एक सौ चालीस अध्याय ॥ १४० ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भीम ! महाबली महाकाय भूतगण यहाँ छिपे रहते हैं । तप और अग्नि की

सन्निवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात् ।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर ॥ २ ॥
ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति ।
बुद्धया प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ॥ ३ ॥
अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः ॥ ४ ॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि ।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वाऽऽयतेक्षण ॥ ५ ॥
त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः ।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ॥ ६ ॥
ममाऽऽगमनमाकांक्षन् गंगाद्वारे समाहितः ।
वसेह द्रौपदीं रक्षन्यावदागमनं मम ॥ ७ ॥
भीम उवाच—राजपुत्री श्रमेणाऽऽर्ता दुःखार्ता चैव भारत ।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ॥ ८ ॥
तत्र चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः ।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ ९ ॥

सहायता के बिना यहां जाना बहुत ही कठिन है। इसलिए अपनी इच्छाशक्ति से भूख और प्यास को रोककर बलपूर्वक चतुरता के साथ रहो। ऋषि ने कैलाश पर्वत के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है सो तुम सुन चुके हो। अब विचार करके यह निश्चय करो कि द्रौपदी यहां किस तरह जायँगी; या यह करो कि तुम्हारे साथ सहदेव, धौम्य ऋषि, सारथी, पुरवासी, नौकर-चाकर, रथ, घोड़े और अन्यान्य ब्राह्मण लोग—जो कि मार्ग का क्लेश नहीं सह सकते—लौट जायँ। मैं, नकुल और महात्मा लोमश हलका भोजन करके, मन धारण करके, जायँगे। मैं जब तक लौट न आऊँ तब तक सावधानी के साथ द्रौपदी की रक्षा करते हुए पवित्रतापूर्वक तुम यहीं गङ्गाद्वार में ठहरो ॥१।७॥

भीमसेन ने कहा—हे राजेन्द्र! द्रौपदी यद्यपि थकी और दुःखित है, तो भी अर्जुन के दर्शनों की इच्छा से अवश्य चलेंगी। आप एक अर्जुन के बिना तो यों उदास और दुःखित हो रहे हैं, फिर जब द्रौपदी सहदेव और मैं भी आपके पास नहीं रहूँगा तब आपकी न जाने क्या दशा होगी। इसलिए ये ब्राह्मण, नौकर, सारथी, पुरवासी, और जिसे आप चाहें वह, यहां से लौट जाय। हम राक्षसों के स्थान, दुर्गम,

किं पुनःसहदेवं च मां च कृष्णां च भारत ।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ॥ १० ॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान् ।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित् ॥ ११ ॥
शैलेऽस्मिन्राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च ।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता ॥ १२ ॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद्विनिवर्तितुम् ।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः ॥ १३ ॥
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै ।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया ॥ १४ ॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद्यास्यामहे सह ।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः ॥ १५ ॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन्विमना भव ।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति ॥ १६ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन्विमना भव ।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ ।
दुर्गे सन्तारयिष्यामि यत्राऽशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाऽभिवर्धताम् ।

पर्वती मार्ग में आपको मैं किसी तरह अकेले नहीं छोड़ सकता ॥८।१२॥

हे पुरुषसिंह! सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी भी आपको छोड़कर कभी लौटकर जाना न चाहेंगी। ये सहदेव भी आपके बहुत ही आज्ञाकारी हैं। मैं इनके हृदय के भाव को अच्छी तरह जानता हूँ। ये भी नहीं लौटेंगे। तात्पर्य यह है कि सभी को अर्जुन के देखने की लालसा है। इसलिए हम सब एक साथ होकर चलेंगे। रथ पर चढ़कर इस बहुत कदराओंवाले पर्वत पर जाना सहज काम नहीं है। इसलिए हम सब पैदल चलेंगे। आप व्याकुल न हों। द्रौपदी जहाँ न चल सकेंगी वहाँ उनको कन्धे पर बिठाकर ले चलूँगा। सुकुमार नकुल-सहदेव को दुर्गम स्थानों में असमर्थ देखूँगा तो इन्हें भी उसी तरह ले चलूँगा। आप व्याकुल न हों ॥१३।१७॥

युधिष्ठिर ने कहा—भाई! तुम यशस्विनी

यत्त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम् ॥ १८ ॥
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ॥ १९ ॥
यत्त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया ।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः कृष्णाऽब्रवीद्वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा ।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत ॥ २१ ॥
लोमश उवाच—तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतं गन्धमादनम् ।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ॥ २२ ॥
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव ।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं संभाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत् ।
ददृशुर्मुदिता राजन्प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २४ ॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम् ।
सुबाहुश्चापि तान्दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ॥ २५ ॥
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम् ।

द्रौपदी और नकुल-सहदेव को लादकर ले चलने के लिए उत्साह प्रकट कर रहे हो; तुम्हारा बल, धर्म, यश और कीर्ति बढ़े। कभी सुस्ती और हार तुम्हारे पास न फटकने पावे ॥१८।२०॥

तब द्रौपदी ने मुसकराकर कहा—हे आर्यपुत्र! मैं भी आप लोगों के साथ चलूँगी। आप मेरे लिए चिन्ता न करें। लोमशजी ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! तपस्या के प्रभाव के बिना गन्धमादन पर्वत पर चढ़ना कठिन है। इसलिए हम सबको तप करना होगा। तब हम सब अर्जुन के दर्शन पा सकेंगे ॥२१।२३॥

वैशम्पायन कहते हैं—इस तरह बातचीत करते हुए वे सब हिमालय के पास सुबाहु-राज्य में पहुँचे। वहां हाथी और घोड़े बहुत होते हैं। किरात, तङ्गण, पुलिन्द आदि पर्वती जातियां वहां बहुतायत से बसती हैं। वहां बहुत से विचित्र पदार्थ देख पड़ते हैं। पुलिन्दराज सुबाहु इन लोगों को देखते ही प्रसन्नतापूर्वक पूजा करके अपने घर ले गया।

ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ॥ २६ ॥
प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान्पौरोगवांस्तथा ॥ २७ ॥
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ॥ २८ ॥
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः ।
ते शनैः प्राद्रवन्सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद्देशात्सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४०॥

वे भी पूजा स्वीकार करके सुख से रात्रि भर वहां रहे। फिर महारथी पाण्डव लोग सूर्योदय के समय इन्द्रसेन आदि नौकरों, रसोइयों और अन्यान्य अनुचरों को पुलिन्दराज के यहां छोड़कर, अर्जुन से मिलने की इच्छा से, द्रौपदी के साथ धीरे-धीरे वहां से हिमालय की ओर पैदल चल दिये ॥२४।२९॥

वनपर्व का एक सौ चालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४० ॥

अथ एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

युधिष्ठिर उवाच—भीमसेन यमौ चोभौ पांचालि च निबोधत ।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यता स्मान्वनेचरान् ॥ १ ॥
दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रुवामेतरेतरम् ।
अशक्येऽपि व्रजामो यद्धनंजयदिदृक्षया ॥ २ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवाऽनलः ।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपांतिकात् ॥ ३ ॥
तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम् ।

एक सौ इकतालीस अध्याय ॥१४१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भाइयो और द्रौपदी ! जो पहले के कर्म हैं उनका नाश नहीं होता, उनका फल भोगना ही पड़ता है। देखो, उसी के कारण हम आज वन-वन फिर रहे हैं। हम लोग थके-मांदे होते हुए भी अर्जुन को देखने की इच्छा से परस्पर सहायता करते हुए इस दुर्गम प्रदेश में चल रहे

याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत ॥ ४ ॥
नकुलात्पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम् ।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ५ ॥
तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च ।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकांक्षया ॥ ६ ॥
पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनंजयम् ।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ७ ॥
तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ८ ॥
कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम् ।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ९ ॥
चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवाऽन्तकम् ।
प्रभिन्नमिव मातंगं सिंहस्कन्धं धनंजयम् ॥ १० ॥
यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च ।
यमयोः पूर्वजः पार्थ श्वेताश्वोऽमितविक्रमः ॥ ११ ॥
दुःखेन महताऽऽविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम् ।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥ १२ ॥

हैं। किन्तु अभी तक अर्जुन को न देख पाने से रुई के ढेर को जैसे अग्नि जलाती है वैसे ही सन्ताप की अग्नि मेरे शरीर को जला रही है ॥१।५॥

एक तो मैं भाइयों के साथ वन में आकर अर्जुन के बिना यों ही व्यथित हो रहा हूँ, उस पर वह द्रौपदी को बाल पकड़कर सभा में खींच लाने की बात मुझे और भी जला रही है। अर्जुन को न देखकर मैं बहुत ही दुःखित हो रहा हूँ। अर्जुन के ही देखने की लालसा से मैं तुम्हारे साथ तीर्थों, वनों और सरोवरों में विचर रहा हूँ। पाँच वर्षों से उन्हें न देख पाने के कारण मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। जो वीर, सत्यसन्ध, अभिमान-शून्य हैं, जिन्होंने यज्ञ के लिए बहुत सा धन लाकर मुझे दिया था जो साँवले, सिंह के समान पराक्रमी, महाबाहु, अस्त्रज्ञ, युद्धचतुर, धनुर्धारियों में श्रेष्ठ और कुरुवंश के शिरोमणि हैं, जो क्रुद्ध काल की तरह—जिसके मद बह रहा हो उस हाथी की तरह—समर में शत्रुओं के बीच विचरते हैं, ॥६।१०॥

जो धन और वीर्य में इन्द्र से कम नहीं हैं,

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा ।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताऽभयस्य च ॥ १३ ॥
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाऽभिजिघांसतः ।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत्कालविषोपमः ॥ १४ ॥
शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान् ।
दाताऽभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता ।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥
रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन्पुरा मम ।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥
यस्य बाहुबलाद्वीर सभा चाऽऽसीत्पुरा मम ।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पांडव ॥ १८ ॥
वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि ।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥
संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमाऽपराजितम् ।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥

उन श्वेतवाहन महापराक्रमी अर्जुन को इस समय न देखने से मैं अत्यन्त दुःखित हो रहा हूं। उन्हें न देख पाने से मुझे चैन नहीं है। मैं उन अजेय उग्रधन्वा अर्जुन को सदा स्मरण किया करता हूँ, इसी से दिन-रात मुझे चिन्ता जलाया करती है। जो क्षुद्र शत्रु के द्वारा अपमानित होने पर भी क्षमा को नहीं छोड़ते; जो न्यायमार्ग पर चलनेवाले लोगों को कल्याण और अभय देते हैं, जो कूरमार्ग पर चलनेवाले हिंसापरायण इन्द्र के लिए भी काल और विष के तुल्य हैं; जो शरणागत शत्रुओं पर भी दया करते हैं, जो प्रतापी, अभय देनेवाले, महाबली और हम सब के लिए आश्रयरूप हैं तथा जो समर में शत्रुओं का संहार करते हैं उन समरविजयी अर्जुन से मेरी भेंट नहीं होती। जिन्होंने सब रत्न लाकर मुझे दिये और जो सबको सुख देते हैं; पहले जिनके पराक्रम से मैंने बहुत से बहुत प्रकार के दिव्य रत्न प्राप्त किये थे; जिनके बाहु-बल से मेरी सभा रत्नमयी और त्रिभुवन में प्रसिद्ध हुई थी; जो वीर्य में श्रीकृष्ण के समान और युद्ध करने में कार्तवीर्य अर्जुन के समान हैं, वे युद्ध में अजेय

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरन्दरः ।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः ।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥
विशाला बदरी-यत्र नरनारायणाश्रमः ।
तं सदाऽध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥
कुवेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम् ।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत्तपः ॥ २४ ॥
न च यानवता शक्यो गंतुं देशो वृकोदर ।
न नृशंसन लुब्धेन नाऽप्रशांतेन भारत ॥ २५ ॥
तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥
मक्षिकादंशमशकान्सिंहान्व्याघ्रान्सरीसृपान् ।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थनियतस्तान्न पश्यति ॥ २७ ॥
ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गंधमादनम् ।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गंधमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

सङ्ग्रामविजयी अर्जुन मुझे नहीं देख पड़ते ॥ १९।२० ॥

हे भीम ! जिनका पराक्रम महावीर बलराम श्रीकृष्ण और तुम्हारे तुल्य है, जिन का बाहु-बल और प्रभाव इन्द्र के समान है, जिनमें वायु के बराबर वेग है—जिनके मुख की सुन्दरता चन्द्रमा के तुल्य है,—जो क्रोध में यमराज के समान हैं, उन अर्जुन को देखने की इच्छा से हम गन्धमादन पर्वत पर जायेंगे। जिस स्थान पर नर-नारायण का आश्रम विशाल बदरीवन है उस यक्षों की बस्ती रमणीक पर्वत को देखो। यहां से हम कठोर तप करके पैदल ही राक्षसगण-सेवित रमणीय कुबेर-सरोवर को जायँगे। हे वीर ! सवारी पर चढ़कर जानेवाले, नीच, क्रूर लोभी व अशान्तचित्त पुरुष इस स्थान में नहीं आ सकते इसलिए हम केवल शस्त्र और खड्ग लेकर, व्रतधारी ब्राह्मणों के साथ, अर्जुन को खोजने वहां जायँगे। उस स्थान पर अजितेन्द्रिय पापोंही मक्खी, डांस,

मच्छड़, सिंह, बाघ, सांप आदि से डरते हैं। जितेन्द्रिय पवित्र व्यक्तियों के लिये कोई खटका नहीं है। इस लिए संयमपूर्वक मिताहारी होकर अर्जुन को देखने हम इस गन्धमादन पर्वत पर जायँगे ॥२१।२८॥

वनपर्व का एक सौ इकतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४१॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४२॥

लोमश उवाच—दृष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः ।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः ॥ १ ॥
पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति ।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः ॥ २ ॥
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति ।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ३ ॥
एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी ।
बदरी प्रभवा राजन्देवर्षिगणसेविता ॥ ४ ॥
एषा वैहायसैर्नित्यं वालखिल्यैर्महात्मभिः ।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः ॥ ५ ॥
अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः ।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाऽगिरास्तथा ॥ ६ ॥

एक सौ बयालीस अध्याय ॥ १४२ ॥

लोमशजी कहते हैं—हे पाण्डवो ! आप लोगों ने सब नगरों, वनों और तीर्थों के दर्शन किये हैं, हाथों से तीर्थों का पवित्र जल छुआ है। अब सब लोग ध्यान लगाकर व्याकुलता को दूर कर दो। यह राह मन्दराचल को गया है। आप लोगों को देवताओं और पुण्यकर्म करनेवाले ऋषियों की निवासभूमि मन्दर पर्वत पर जाना होगा। यह देखो, यही देवर्षिगणसेवित पवित्र जलवाली नदी बह रही है। यह नदी बदरिकाश्रम से निकली है। आकाशविहारी वालखिल्य ऋषि इसकी पूजा करते हैं और महानुभाव गन्धर्व इसके जल में स्नान करते हैं ॥१।५॥

मरीचि, भृगु, पुलह और अङ्गिरा, ऋषियों ने इस स्थान पर पवित्र स्वर से सामगान किया है। देवराज इन्द्र, मरुद्गण के साथ, इस स्थान पर नित्य गायत्री का जप करते हैं। उस समय अश्विनी-कुमार और साध्यगण उनका अनुगमन करते हैं। दिन और रात के विभाग के अनुसार चन्द्रमा, सूर्य

अत्राऽऽह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः ।
साध्याश्चैवाऽश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा ॥ ७ ॥
चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह ।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन् ॥ ८ ॥
एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषांकः पर्यधारयत् ।
गंगाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत् ॥ ९ ॥
एतां भगवतीं देवीं भवंतः सर्व एव हि ।
प्रयतेनाऽऽत्मना तात प्रतिगम्याऽभिवादत ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः ।
आकाशगगां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन् ॥ ११ ॥
अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह ॥ १२ ॥
ततो दूरात्प्रकाशन्तं पांडुरं मेरुसंनिभम् ।
ददृशुस्तं नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम् ॥ १३ ॥
तान्प्रष्टुकामान्विज्ञाय पांडवान्स तु लोमशः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः श्रृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः॥ १४ ॥

और ग्रह-नक्षत्रगण इस नदी की उपासना करते हैं। लोकस्थिती के लिए महादेव ने हरिद्वार में इन्हीं पवित्र नदी गङ्गा के जल को मस्तक पर धारण किया है। अतएव आप सब पवित्र हृदय से जाकर गङ्गाजी को प्रणाम कीजिए ॥६।१०॥

धर्मात्मा पाण्डव लोग महात्मा लोमश के ये वचन सुनकर पवित्र अन्तःकरण से गङ्गाजी को प्रणाम करके फिर ऋषियों के साथ आगे चलने लगे। इसके पश्चात् दूर से सुमेरु के समान सुनहरे रङ्ग का, सब दिशाओं में व्याप्त, एक पदार्थ देख पड़ा ॥११।१४॥

उसके बारे में पूछने पर लोमशजी ने कहा—हे पाडव ! सुनो, यह जो कैलाश पर्वत के शिखर के समान रमणीय विशाल पदार्थ देख पड़ रहा है वह महाबली नरकासुर की हड्डियों का ढेर है। पत्थर पर पड़ा होने से वह ढेर पर्वत के समान जान पड़ता है। सनातन देव विष्णु ने इन्द्र का प्रिय करने के लिए इस नरकासुर को मारा था। महाबली नरकासुर ने दस हजार वर्ष तक तप करके स्वाध्याय पाठ के प्रभाव से इन्द्रपद पाने की इच्छा की थी।

एतद्विकीर्णं सुश्रीमत्कैलासशिखरोपमम् ।
यत्पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ॥ १५ ॥
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः ।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥ १६ ॥
पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना ।
दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ॥ १७ ॥
दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन्महामनाः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ॥ १८ ॥
तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च ।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन्स दितेः सुतः ॥ १९ ॥
स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मं च चरितव्रतम् ।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत्तदाऽनघ ॥ २० ॥
तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः ।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥ २१ ॥
ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः ।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान्हव्यवाहनः ॥ २२ ॥
नष्टतेजाः समभवत्तस्य तेजोभिभर्त्सितः ।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥ २३ ॥

वह बाहुबल और तपोबल से अत्यन्त ही दुर्द्धर्ष हो उठा था। इन्द्र उसके बल और तप के प्रभाव को देखकर बहुत ही भयभीत और व्याकुल हुए ॥१५।२०॥

तब उन्होंने नारायण का स्मरण किया और सर्वव्यापी सनातन नारायण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। सब ऋषि और देवता उनकी स्तुति करने लगे। तेजस्वी भगवान् अग्नि उन्हें देखते ही, उनके तेज के आगे, फीके पड़ गये। देवताओं के ईश्वर वरदानी विष्णु को देख, हाथ जोड़कर प्रणाम करके, इन्द्र ने उनसे अपने भय का कारण कहा ॥२१।२३॥

विष्णु ने कहा—इन्द्र ! मुझे प्रतीत हो चुका है कि तुम नरकासुर से डरे हुए हो। वह तपस्या से सिद्ध हुए कर्म के प्रभाव से इन्द्रपद माँग रहा है। यद्यपि वह तपस्या से सिद्ध हो चुका है तो

प्रांजलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत् ।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥ २४ ॥

विष्णुरुवाच—जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात्ततः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥ २५ ॥
सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम् ।
वियुनज्मि देहाद्देवेन्द्र मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २६ ॥
तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत् ।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाऽऽहतः ॥ २७ ॥
तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै ।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥ २८ ॥
नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता ।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृंगिणा ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—भगवन्विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः ।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥ ३० ॥
योजनानां शतं ब्रह्मन्पुनरुद्धरिता तदा ।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ॥ ३१ ॥
शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी ।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥ ३२ ॥

भी मैं, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए, उसे मारूँगा। तनिक ठहर जाओ। बस, विष्णु ने अपने हाथ से नरकासुर को थप्पड़ मारे। थप्पड़ों की चोट से उसके प्राण निकल गये। वह उसी समय मरकर वज्र की चोट खाये हुए पर्वतराज की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह उसी, माया के द्वारा मारे गये नरकासुर की हड्डियों का ढेर देख पड़ता है। और, भगवान् विष्णु ने एक दातवाले वराह का रूप रखकर पाताल-तल में पहुँच गई पृथ्वी को ऊपर उठाया है। उनकी दूसरी कीर्त्ति यह पृथ्वीमण्डल और जगत् है।२३।२९।

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! देवताओं के स्वामी विष्णु ने पाताल में चली गई इस पृथ्वी को फिर किस प्रकार सौ योजन ऊपर उठाया? सब अन्न जिस पर उत्पन्न होते हैं वह पृथ्वी किस तरह ऊपर आकर जल पर स्थिर हुई? किसके प्रभाव से वह सौ योजन नीचे चली गई थी? किस व्यक्ति ने

केन तद्वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः ।
एतत्सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम ।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥ ३३ ॥

लोमश उवाच—यत्तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर ।
तत्सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥ ३४ ॥
पुरा कृतयुगे तात वर्त्तमाने भयंकरे ।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥ ३५ ॥
यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाऽच्युत ॥ ३६ ॥
वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम् ।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥ ३७ ॥
तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप ।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धंते सलिलं यथा ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्संकुले तात वर्त्तमाने भयंकरे ।
अतिभाराद्वसुमती योजनानां शतं गता ॥ ३९ ॥
सा वै व्यथितसर्वांगी भारेणाऽऽक्रांतचेतना ।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥ ४० ॥

पृथिव्युवाच—भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह ।

परमेश्वर का यह अद्भुत पराक्रम दिखलाया था? मैं यह सब वृत्तान्त आदि से अन्त तक विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। आप ही इस सम्बन्ध में मेरे प्रधान आश्रय हैं ॥३०।३३॥

लोमशजी ने कहा—हे राजेन्द्र! आपके पूछे हुए इस विषय का मैं वर्णन करता हूँ, सुनिए। पूर्व समय में भयङ्कर सत्ययुग उपस्थित होने पर आदिदेव नारायण स्वयं यमराज के पद पर रहकर उनका सब कार्य करते थे। उनके अधिकार के समय कोई मरता नहीं था। हां, लोग जन्म बराबर लेते जा रहे थे। फल यह हुआ कि पशु, पक्षी, राक्षस, मनुष्य, मृग, गाय, बैल आदि सब जीव जल की तरह सहस्रगुन-लक्षगुन होकर बढ़ने लगे। इस प्रकार बेतरह प्राणियों की बढ़ती होने लगी। प्राणियों के बोझ से यह पृथ्वी पीड़ित और अचेत होकर सौ योजन नीचे धंस गई ॥३४।४०॥

भारेणाऽस्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ॥ ४१ ॥
ममेमं भगवन्भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणागताऽस्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ४२ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः ।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥ ४३ ॥
विष्णुरुवाच—न ते महि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणी ।
अयमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ॥ ४४ ॥
लोमश उवाच—स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम् ।
ततो वराहः संवृत्त एकशृंगो महाद्युतिः ॥ ४५ ॥
रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ॥ ४६ ॥
स गृहीत्वा वसुमतीं शृङ्गेणैकेन भास्वता ।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ॥ ४७ ॥
तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ४८ ॥
हाहाभूतमभूत्सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा ।
न पर्यवस्थितः कश्चिद्देवो वा मानुषोऽपि वा ॥ ४९ ॥

तब पृथ्वी ने नारायण की शरण में जाकर कहा—भगवन्! आपकी कृपा से मैं सदा से स्थिर बनी हुई हूँ। किन्तु इस समय प्राणियों के बढ़ते हुए बोझ से दबकर मैं स्थिर नहीं रह सकती। इसलिए आप मेरे इस भार को उतारिए। हे विभो! मैं आपकी शरण में आई हूँ—मुझ पर कृपा कीजिए ॥४१।४३॥

पृथ्वी के कातर वचनों को सुनकर विष्णु भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक मधुर स्वर से कहा—हे वसुन्धरा! भयभीत मत होओ। मैं अभी तुम्हारे इस भार को उतारे देता हूँ। भगवान् ने पर्वतमालाधारिणी पृथ्वी को विदा करके एक दांतवाले वराह का रूप धारण किया। उनकी लाल लाल आँखें देखकर सबको भय लगता था। उनके शरीर का रङ्ग धुएं का सा था। वे उसी स्थान पर बढ़ने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने प्रकाशमान एक दांत की नोक पर पृथ्वी को सौ योजन ऊपर उठा लिया। पृथ्वी को उठाते समय ऐसी हलचल हुई कि देवता, ऋषि, तपस्वी आदि सभी ऐसे विह्वल हो उठे कि स्वर्गलोक, मनुष्यलोक, और अन्तरिक्ष में सर्वत्र

ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ॥ ५० ॥
उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ॥ ५१ ॥
लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम् ।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ॥ ५२ ॥
सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
किमेतत्किंप्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत् ।
आख्यातु नो भवाञ्शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥ ५३ ॥
ब्रह्मोवाच—असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित्कचित् ।
श्रूयतां यत्कृते त्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ॥ ५४ ॥
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः ।
तस्य प्रभावात्संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥ ५५ ॥
यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥ ५६ ॥
तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥ ५७ ॥

हाहाकार मच गया । मनुष्य या देवता कोई भी स्थिर नहीं रह सका ॥४८।४९॥

तब देवता और ऋषिगण लोकसाक्षी, तेज की राशि, ब्रह्मा के पास जाकर हाथ जोड़कर कहने लगे—भगवन् ! सब लोग व्याकुल हो गये हैं और चराचर जगत् व्याकुल हो उठा है । समुद्रों का जल उमड़ चला है । सब पृथ्वी सौ योजन नीचे पाताल को चली गई है । एकाएक यह क्या हो गया ? किसके प्रभाव से सारा संसार इस तरह व्याकुल हो उठा ? बताइए, हम लोग मोह के मारे अचेत से हो रहे हैं ॥५०।५३॥

ब्रह्मा ने कहा—हे देवताओ ! तुम्हें तो असुरों से कहीं कुछ भय नहीं है । जिस कारण यह हलचल मची है, सो सुनो । अव्ययात्मा विष्णु के प्रभाव से ही देवलोक क्षोभ को प्राप्त हो रहा है । सारी पृथ्वी सौ योजन नीचे चली गई थी ; उसे वही भगवान् विष्णु ऊपर उठा लाये हैं । उसको ऊपर लाने में ही यह हलचल मच गई है । हे

पृथिवीं चाऽन्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ॥ ८ ॥
न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत्कर्तुमन्योन्यस्याऽभिभाषणम् ॥ ९ ॥
न चाऽपश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसाऽऽवृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ १० ॥
द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ ११ ॥
द्यौः स्वित्पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ १२ ॥
ते पथाऽनंतरान्वृक्षान्वल्मीकान्विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १३ ॥
ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥ १४ ॥
धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १५ ॥
नकुलो ब्राह्मणाश्चाऽन्ये लोमशश्च महातपाः ।

टुकड़े उड़-उड़कर शरीर पर लगने लगे। वे लोग परस्पर न तो किसी को देख सकते थे और न किसी से बातचीत ही कर सकते थे। वायु के झोंकों से टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिरनेवाले वृक्षों का प्रचण्ड शब्द बारम्बार सुनाई पड़ता था। वायु के घोर शब्द से मोहित से होकर वे लोग सोचने लगे कि शायद आकाश फटा पड़ता है, या पृथ्वी अथवा यह पर्वत ही फटा जा रहा है ॥१।१२॥

इसके पश्चात् वे सब आंधी से डरकर पास के वृक्षों, दूहों और ऊंचे स्थानों को हाथों से टटोल टटोलकर उन्हीं को पकड़कर ठहर गये। महाबली भीमसेन हाथ में धनुष लेकर द्रौपदी को अपने साथ लिये एक वृक्ष के नीचे खड़े हो गये। धर्मराज और पुरोहित धौम्य उस वन में न जाने कहां खो गये। अग्निहोत्र लिये हुए सहदेव, महातेजस्वी लोमश, अन्यान्य ब्राह्मण तथा नकुल, ये सब एक बड़े वृक्ष के नीचे ठहर गये ॥१३।१६॥

धीरे-धीरे जब वायु का ज़ोर कम हुआ और अँधेरा घट गया, तब बड़े ज़ोर से जल बरसने लगा। विकट कड़कड़ाहट के साथ बिजलियाँ चमकने लगीं। आग के साथ पानी की बूंदें, हवा के झोंकों से नाचती और फैलती हुई, लगातार गिरने लगीं। ?

वृक्षानासद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ १६ ॥
मन्दीभूते तु पवने तस्मिन्रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १७ ॥
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ १८ ॥
ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १९ ॥
तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन्सकलुषाः फेनवत्यो विशांपते ॥ २० ॥
वहन्त्यो वारि वहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ २१ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यंभसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २२ ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गंधमादनम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥१४३॥

महाराज ! नदियों का जल इधर-उधर फैल गया, गँदला हो गया; चारों ओर फेना देख पड़ने लगा। फेने से भरा हुआ जल का प्रवाह बड़े-बड़े टूटे हुए वृक्षों को बहाकर ले जाता हुआ ज़ोर से शब्द करता बहने लगा। फिर वह शब्द बन्द हो गया, वायु कम हो गई, नदियों का जल भी अपनी हद पर आ गया, सूर्य निकल आये। अब सब लोग निकलकर एक साथ गन्धमादन पर्वत पर जाने को आगे बढ़े॥ १७२३॥

—o—

वनपर्व का एक सौ तेंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

वैशम्पायन उवाच—क्रोशमात्रं प्रयातेषु पांडवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥

देवा ऊचु —क्व तद्भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत् ।
तं देशं भगवन्ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥
ब्रह्मोवाच—हन्त गच्छत भद्रं वो नंदने पश्यत स्थितम् ।
एषोऽत्र भगवाञ्श्रीमान्सुपर्णः संप्रकाशते ॥ ५९ ॥
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोक भावनः ।
कालानल इवाऽऽभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ॥ ६० ॥
एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते ।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ॥ ६१ ॥
लोमश उवाच—ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चाऽऽमन्त्र्य चाऽमराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ॥ ६२ ॥
वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय ।
लोमशादेशितेनाऽऽशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ॥ ६३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४२ ॥

देवताओ ! जिस कारण यह विषम क्षोभ देख पड़ता है सो तुम जान गये । अब अपने चित्त से संशय को हटा दो ॥५४।५७॥

देवताओं ने कहा—भगवन् ! वे परम पुरुष किस जगह स्थित होकर पृथ्वी का उद्धार कर रहे हैं ? बताइए, हम वहाँ जायँगे । ब्रह्मा ने कहा—हे देवताओ ! तुम लोगों का भला हो । तुम लोग नन्दन वन में जाओ ; वहाँ उनके दर्शन होंगे । वे वराह का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करते हुए, प्रलय काल के अग्नि का सा तेज धारण किये, वहाँ विराजमान हैं । श्रेष्ठ मणि श्रीवत्स उनके हृदय में स्पष्ट रूप से शोभा पा रही है । हे देवताओ ! तुम लोग जाकर उन मङ्गलमय पुरुष के दर्शन करो ॥५८।६१॥

लोमशजी कहते है—तब सब देवता ब्रह्मा को आगे करके नारायण के पास गये और उनके दर्शन करके वहाँ से विदा हो अपने-अपने स्थान को गये। वैशम्पायन कहते हैं कि हे राजा जनमेजय ! इस वृत्तान्त को सुनकर पाण्डव लोग प्रसन्नचित्त हो लोमशजी के साथ शीघ्रता से आगे बढ़ने लगे ॥६२ ६३॥

—०—

वनपर्व का एक सौ बयालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४३॥

वैशम्पायन उवाच—ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।
बद्धगोधांगुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥ १ ॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम् ।
पांचालीसहिता राजन्प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ २ ॥
सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान्ददृशुर्गिरिमूर्धनि ॥ ३ ॥
नित्यपुष्पफलान्देशान्देवर्षिगणसेवितान् ।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥ ४ ॥
चेरुरुच्चावचाकारान्देशान्विषमसंकटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥ ५ ॥
ऋषिसिद्धामरयुतं गंधर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ॥ ६ ॥
प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गंधमादनम् ।
चंडवातं महद्वर्षं प्रादुरासीद्विशांपते ॥ ७ ॥
ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।

एक सौ तेंतालीस अध्याय ॥ १४३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र! इसके पश्चात् वे श्रेष्ठ धनुर्द्धर परम तेजस्वी पाण्डव धनुषबाण, तर्कस ढाल-तलवार आदि लिये, और अंगुलित्राण, शिरस्त्राण आदि पहने, द्रौपदी और ब्राह्मणों को साथ लिये गन्धमादन पर्वत पर गये। उस पर्वत के शिखर पर चढ़ते ही बहुत से पर्वतशिखर, नदी, सरोवर, वन और छायापूर्ण वृक्षों के झुण्ड उन्हें देख पड़े। तब अपने चित्त को एकाग्र करके, फल-मूल का आहार करते हुए वे लोग अनेक प्रकार के मृगों को देखते देखते देवर्षिगणसेवित, नित्य फूलों और फलों से शोभित, तरह-तरह के ऊँचे-नीचे पर्वती स्थानों में घूमने लगे। इस प्रकार वे—देव, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर आदि के झुण्ड जहां घूमा करते हैं उस—गन्धमादन पर्वत पर गये। वहां जाते ही प्रचण्ड आंधी चलने लगी। साथ ही उस आंधी में उड़ते हुए पत्तों से और धूल से स्वर्ग, आकाश और मनुष्य-लोक व्याप्त हो गये। आकाश में धूल ही धूल छा जाने पर कोई भी वस्तु पहचानने का कोई उपाय नहीं रहा। अंधेरे में उन सबने आंखें मूंद लीं। वायु के साथ पत्थरों के बारीक

श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पांचाली संमुमोह तपस्विनी ॥ २ ॥
सा कंपमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलंबत ॥ ३ ॥
आलंबमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपंती कदली यथा ॥ ४ ॥
तां पतंतीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥
नकुल उवाच—राजन्पंचालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रांता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥ ६ ॥
अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—राजा तु वचनात्तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ॥ ८ ॥
तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥ ९ ॥

एक सौ चवालीस अध्याय ॥१४४॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! महात्मा पाण्डव कोस भर गये होंगे कि द्रौपदी पैदल चलते चलते थककर वहीं बैठ गई। वह वायु और वर्षा से पीड़ित हो, सुकुमारता के मारे थककर, बहुत ही दुःखित हो उठी। व्याकुलता के मारे उसका शरीर काँपने लगा। दोनों हाथों से अपने पैर पकड़कर वह बैठ गई। हाथी की सूंड़ के जैसी दोनों जाँघें पकड़े द्रौपदी केले के पेड़ की तरह काँपती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी। महावीर नकुल उसकी यह दशा देखकर दौड़ पड़े और जड़ से उखड़ी हुई लता की तरह पड़ी हुई द्रौपदी को उठाकर उन्होंने युधिष्ठिर से कहा—हे राजेन्द्र! देखिये, पाञ्चालराज की कुमारी सुकुमारी कमलनयनी द्रौपदी ने कभी कोई दुःख नहीं सहा। इस समय थकने और दुःख से विकल होने के कारण ये पृथ्वी पर गिर पड़ी है। इनको आप धीरज दीजिए ॥१।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय!

युधिष्ठिर उवाच—कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ॥ १० ॥
सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥ ११ ॥
किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥
सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान्प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ॥ १३ ॥
तत्सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राऽऽजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥
ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाऽप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मंत्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥

नकुल के य वचन सुनकर युधिष्ठिर बहुत ही दु खित हुए । वे भीमसेन ओर सहदेव क साथ दौड़कर द्रौपदी के पास गये । उमे दुर्बल. शिथिल और उसके चेहरे की कान्ति को मध्यम देखकर युधिष्ठिर ने गोद में उसका सिर रख लिया । फिर वे करुण स्वर से विलाप करने लगे हाय ! जो सुरक्षित भवन में सुकोमल पलँग पर सोती थी वह कैसे इस समय पृथ्वी पर पड़ी हुई है ! आज मेरे ही कारण इस सुन्दरी के कोमल चरण ऐसे शिथिल हो गये हैं और मुखमण्डल ऐसा मलिन हो गया है । हाय ! मैने अज्ञानता से जुए के खेल में आसक्त हो कैसा अनुचित कर्म कर डाला ! मैं द्रौपदी को लेकर कैसे दुर्गम वन में घूम रहा हू, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है ! यही सोचकर राजा द्रुपद ने इसको अपनी प्यारी कन्या दी थी कि पाण्डवों को पति पाकर यह सुन्दरी सब तरह सुखी होगी । किन्तु मेरे ही कारण इसको कोई सुख नहीं मिला और अन्त को श्रम, शोक और राह चलने की थकन से इस समय ऐसी दशा हो गई कि राह में यह इस तरह पड़ी हुई है ॥८।१४॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय युधिष्ठिर का एसा विलाप सुनकर धौम्य आदि पुरोहित ब्राह्मण वहा पर आये और आशीर्वाद देकर उन्हें ढाढ़स बँधाने लगे । साथ ही राक्षसों के भय से छुड़ानेवाले मन्त्रों का जप और अन्य अनेक कर्मों का अनुष्ठान करने लगे । पाडव लोग भी बार-बार कोमल सुख-

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥
सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥
परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥
पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेन मिदं वचः ॥ २१ ॥
बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥
भीमसेन उवाच—त्वां राजन्राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात्ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ॥ २५ ॥

दायक स्पर्शवाले हाथों को द्रौपदी के शरीर पर फेरकर जल से भींगा पङ्खा डुलाकर उसके मुख पर वायु करने लगे । द्रौपदी सुस्थ होकर धीरे धीरे होश में आई । उसे मृगछाला पर लिटाकर सब लोग उसकी राह की थकन मिटाने का उद्योग करने लगे । नकुल और सहदेव दोनों भाई ठट्ठेदार हाथों से द्रौपदी के सुलक्षणसम्पन्न लाल तलवेवाले पैरों को धीरे धीरे दबाने लगे ॥१५।२०॥

धीरे-धीरे द्रौपदी की अवस्था जब ठीक हुई तब युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे महाबाहो! राह में हिम से दुर्गम बड़े-बड़े विषम पर्वत हैं । उन स्थानों में द्रौपदी कैसे चल सकेगी ? भीम ने कहा—राजन् ! मैं अकेला ही आपको, द्रौपदी को और नकुल सहदेव को लादकर ले चलूँगा । अथवा हिडिम्बा राक्षसी का पुत्र घटोत्कच मेरे ही समान बली है, आप आज्ञा देंगे, तो वह आकर सबको

कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याऽथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनंदितः ॥ २६ ॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम् ।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥ २७ ॥
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्ताऽस्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिपस्वजे ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गंधमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

लादकर ले चलेगा। आप चिन्ता न करें। अब युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन ने अपने पुत्र घटोत्कच का स्मरण किया। वह उसी समय वहां पर आ गया। उसने हाथ जोड़कर पाण्डवों को और ब्राह्मणों को प्रणाम किया। सबने जब उसका अभिनन्दन किया तब भीमविक्रम प्रकट करते हुए उसने भीमसेन से कहा—हे पिताजी! स्मरण करते ही मैं आपकी आज्ञा सुननेको शीघ्र यहां पर आगया हूं। आज्ञा कीजिए क्या करूं। मैं आपकी आज्ञाका पालन अच्छी तरह करूँगा। यह सुनकर भीमसेनने उसे गलेसे लगा लिया।२१।२८।

वनपर्व का एक सौ चवालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४४॥

अथ पंचचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४५॥

युधिष्ठिर उवाच—धर्मज्ञो बलवाञ्शूरः सत्यो राक्षसपुंगवः ।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु मा चिरम् ॥ १ ॥
तव बाहुबलेनाऽहमतिभीमपराक्रम ।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम् ।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम् ॥ ३ ॥
भीमसेन उवाच—हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव माताऽपराजिता ।

एक सौ पैंतालीस अध्याय ॥ १४५ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भीम! तुम्हारे वीर्य से उत्पन्न राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच द्रौपदी को लादकर ले चले। मैं तुम्हारे बाहुबल का सहारा पाकर द्रौपदी के साथ बेखटके गन्धमादन पर्वत पर जाऊँगा। भीमसेन ने उनकी आज्ञा पाकर घटोत्कच से कहा—हे वीर! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत ही थक गई

त्वं च कामगमस्तात बलवान्वह तां खग ॥ ४ ॥
स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा ।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ॥ ५ ॥

घटोत्कच उवाच—धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा ।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताऽद्य सहायवान् ॥ ६ ॥
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः ।
सर्वान्वो ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहिताऽनघ ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः ।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥ ८ ॥
लोमशः सिद्धमार्गेण जगामाऽनुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणांश्चापि तान्सर्वान्समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद्राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ १० ॥
एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ ११ ॥
ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।

है; वे चल नहीं सकतीं। तुममें इच्छानुसार जाने की शक्ति है और तुम बलवान् भी हो। इसलिए उन्हें लादकर ले चलो। तुम्हारा भला होगा। तुम कन्धे पर उन्हें लाद लो और ऐसे धीरे-धीरे हमारे साथ-साथ आकाशमार्ग होकर चलो जिसमें इन्हें कष्ट न हो ॥१।५॥

घटोत्कच ने कहा—हे पिताजी! मैं अकेला ही धर्मराज, धौम्य, द्रौपदी, नकुल और सहदेव को लादकर ले चल सकता हूँ। उस पर इस समय तो मेरे कई सहायक भी हैं। इस समय मेरे साथ और भी अनेक आकाशचारी शूर राक्षस हैं। वे ब्राह्मणों-सहित आप सबको लादकर ले चलेंगे। अब घटोत्कच द्रौपदी को कन्धे पर बिठाकर पाण्डवों के साथ-साथ आकाशमार्ग होकर चलने लगा। अन्यान्य राक्षसों ने युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को अपने कन्धों पर बिठा लिया। महातेजस्वी लोमश मुनि अपने तपोबल के प्रभाव से दूसरे सूर्य के समान सिद्धमार्ग से चलने लगे। अन्यान्य पराक्रमी राक्षस लोग राक्षसराज घटोत्कच की आज्ञा पाकर और-और ब्राह्मणों को लेकर चले ॥६।१०॥

इस प्रकार वे परम रमणीय सब वन उपवन आदि को देखते हुए विशाल बदरिकाश्रम में पहुँचे।

उह्यमाना ययुः शीघ्रं महदध्वानमल्पवत् ॥ १२ ॥
देशान्म्लेच्छजनाकीर्णान्नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १३ ॥
विद्याधरसमाकीर्णान्युतान्वानरकिन्नरैः ।
तथा किं पुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समंततः ॥ १४ ॥
मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥ १५ ॥
नदीजालसमाकीर्णान्नानापक्षियुतान्वहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान्वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १६ ॥
समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितांस्तथा ।
तेऽवतीर्य वहून्देशानुत्तरांश्च कुरूनपि ॥ १७ ॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याऽभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥ १८ ॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदा पुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च वदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥ १९ ॥
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।

शीघ्रगामी महावेगशाली राक्षस लोग लादे लिये जाते थे, इससे उनको दूर की राह थोड़ी सी राह के समान जान पड़ने लगी। म्लेच्छों के रहने के स्थान जो अनेक रत्नों से पूर्ण समुद्र-तट के देश हैं उनको और आसपास के छोटे पर्वतों को वे लोग जाते-जाते देखने लगे। उन पर्वतों में अनेक विचित्र धातुएँ देख पड़ रही थीं; विद्याधर, किन्नर, वानर, किम्पुरुष और गन्धर्व विहार कर रहे थे; मोर, चमरी गाय, रुरु, वराह, गवय और भैंसे घूम रहे थे; हिरन, बन्दर और मतवाले पक्षी वहाँ की शोभा बढ़ा रहे थे; नदियाँ बह रही थीं और अनेक फूले-फले वृक्ष लगे हुए थे। इस प्रकार बहुत से देशों को और उत्तरकुरु प्रदेश को लाँघकर उन्होंने अनेक आश्चर्यों से पूर्ण पर्वतराज कैलाश को देखा। उसके पास ही फल-फूल-मूल और दिव्य वृक्षों से शोभित नर-नारायण का आश्रम भी देख पड़ा ॥११।१८॥

फिर उन्होंने मदमत्त गूँजते हुए पक्षियों से पूर्ण घने कोमल नव पल्लवों से शोभित, विशाल शाखाओं से व्याप्त, अतिविस्तीर्ण, और परम रमणीय, शीतल

पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ॥ २० ॥
विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥ २१ ॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ २२ ॥
अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २३ ॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकंटके ॥ २४ ॥
तामुपेत्यमहात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २५ ॥
ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्सहिता द्विजपुंगवैः ॥ २६ ॥
तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः ।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २७ ॥
महर्षिगणसंबाधं ब्राह्मय लक्ष्म्या समन्वितम् ।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मवहिष्कृतैः ॥ २८ ॥

छाँह से मनोहर, मधुर स्वादिष्ट फलों से युक्त, महर्षिगणसेवित, बड़ी-बड़ी डालियों से घिरा हुआ विशाल बदरीवृक्ष देखा। उसके नीचे स्वाभाविक शान्ति थी। वह स्थान समतल था। वहाँ डांस-मच्छड़ और काँटे आदि का नाम भी न था। वहां बहुत प्रकार के फल-मूल और जल की सुविधा थी। वह स्थान देवता, गन्धर्व आदि के रहने से मनोहर था। वहां पर कोमल घास उगी हुई थी। बर्फ के कारण वह भूमि कोमल लगती थी। पाण्डव लोग ब्राह्मणों के साथ वहां पहुंचकर एक-एक करके राक्षसों के कन्धों पर से उतर पड़े। फिर उनके साथ जाकर नर-नारायण के निवासस्थान शोकनाशन रमणीय आश्रम को उन्होंने देखा ॥१९।२६॥

वहां पर सूर्यकिरणों का ताप, भूख-प्यास या जाड़े-गर्मी की बाधा अथवा तमोगुण नाम लेने को भी नहीं है। महर्षिगण सदा उस स्थान के समीप रहते हैं। वहां पर ब्राह्मी शोभा (सत्वगुणी प्रकृति) देख पड़ती है। पापी दुराचारी लोग वहां नहीं जा

वलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम् ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २९ ॥
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ॥ ३० ॥
शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३१ ॥
श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम् ।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥ ३२ ॥
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन्प्रयतः शुचिः ॥ ३४ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः ।
आशीर्वादान्प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३६ ॥
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः ।

सकते । पूजा-पाठ और हवन आदि पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से वह स्थान पवित्र है और देवताओं की उपासना से रमणीय हो रहा है । वह स्थान अच्छी तरह लिपा-पुता हुआ है । मनोहर पुष्पोपहार, बड़े-बड़े अग्निकुण्ड, स्रुक्-स्रुव आदि यज्ञपात्र और जल-भरे कलश चारों ओर उस स्थान में रक्खे हुए हैं ॥२७।३०॥

वह आश्रम सब प्राणियों को शरण और शान्ति देनेवाला, वेद-पाठ के शब्द से पूर्ण, दिव्य, रहने के योग्य और सब प्रकार के श्रम को मिटानेवाला है । फल-मूल खाकर निर्वाह करनेवाले, मृगछाला पहननेवाले, सूर्य और अग्नि के सदृश तेजस्वी, ब्रह्मवादी, जितेन्द्रिय, मोक्ष की इच्छा रखनेवाले, महाभाग, महातेजस्वी महर्षि वहाँ सदा रहते हैं ॥३१।३४॥

महातेजस्वी युधिष्ठिर पवित्र और एकाग्र होकर उस स्थान पर रहनेवाले ऋषियों के पास गये । दिव्यज्ञानी, स्वाध्याय में लगे हुए ऋषि उन्हें देख-

उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३७ ॥
स तैः प्रीत्याऽथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः ।
प्रयतः प्रतिगृह्याऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३९ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहाऽनघ ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥ ४० ॥
तत्राऽपश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम् ।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ४१ ॥
पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ४२ ॥
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन्ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥ ४३ ।
आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च विन्दुसरः शिवम् ॥ ४४ ॥
तस्मिन्विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।
मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ॥ ४५ ॥
पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः ।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥ ४६ ॥

कर प्रसन्नतापूर्वक अशीर्वाद देने लगे। उनके आगे आकर सत्कार के लिए उन्होंने पवित्र फल-मूल, फूल और जल आदि सामग्री उनको दी। महर्षियों के किये हुए उस सत्कार को पाकर धर्मराज अत्यन्त आनन्दित हुए। फिर उन्होंने भाइयों, वेदपारग ब्राह्मणों और द्रौपदी को साथ लिये इन्द्रलोक की सदृश परम रमणीय, पवित्र, इन्द्र के भवन के तुल्य मनोहर, गङ्गातट पर स्थित, देव-देवर्षिगण-पूजित नर-नारायण के स्थान को देखा ॥३५।४०॥

उस ब्रह्मर्षिगण-सेवित, मधुर रसवाले फलों से शोभित, रमणीय स्थान को देखकर वे बहुत ही आनन्दित हुए। फिर ब्राह्मणों के साथ बड़ी ही प्रसन्नता से वे वहां ठहर गये। इस स्थान पर विविध पक्षियों से पूर्ण और सुनहरे शिखरों से शोभित मैनाक

स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥ ४७ ॥
कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४८ ॥
पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः ।
ह्लादयन्पाण्डवान्सर्वान्द्रौपद्या सहितान्प्रभो ॥ ४९ ॥
भागीरथीं सुतीर्थां च सीतां विमलपङ्कजाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ५० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धनीम् ।
वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥ ५१ ॥
तस्मिन्देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे ।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयाञ्चक्रिरे तदा ॥ ५२ ॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः ।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन्पुरुषर्षभाः ।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पंचचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

पर्वत तथा परममङ्गल के स्थान बिन्दुसर तीर्थ को उन्होंने देखा। सब ऋतुओं के फूलों से शोभित उस रमणीय वन में वे द्रौपदी-सहित सैर करने लगे। खिले हुए फूलों से शोभित, कोकिलाओं के शब्द से गूंज रहे उस स्थान को फलों के बोझ से झुके हुए वृक्ष अपने चिकने घने पत्तों से शीतल छाया देते हुए और भी रमणीय बना रहे थे। वहां पर कमल आदि के फूलों से शोभित, निर्मल जलवाले मनोहर सरोवरों को देखकर और पवित्र गन्धवाले सुखस्पर्श वायु का सेवन कर पाण्डव परम प्रसन्न हुए ॥४१।४९॥

फिर उन्होंने विशाल बदरीवृक्ष के समीप, दिव्य पुष्पों से पूर्ण, हृदय को आनन्द देनेवाली गङ्गाजी के दर्शन किये। वहां घाट में मणि-मूंगा आदि जड़े हुए थे। उस देवर्षियों के रहने योग्य दुर्गम स्थान में भागीरथी के पवित्र जल में स्नान,

देव-ऋषि-पितरों का तर्पण, जप आदि करके द्रौपदी को विचित्र क्रीड़ा देखते हुए पाण्डव, ब्राह्मणों के साथ रहकर, असीम आनन्द करने लगे ॥५०।५१॥

—o—

वनपर्व का एक सौ पैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४५॥

अथ षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन्वीरा धनञ्जयदिदृक्षवः ॥ १ ॥
ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ॥ २ ॥
तदवैक्षत पांचाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाऽऽहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ३ ॥
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन्भीमसेनमथाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ५ ॥
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परन्तप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ ६ ॥
यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ७ ॥

एक सौ छियालीस अध्याय ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! इस तरह पुरुषसिंह पाण्डवों ने पवित्र होकर अर्जुन को देखने की इच्छा से वहां छ रात्रियें व्यतीत कीं। इसी समय वायु ने पूर्व-उत्तर कोण से चलकर अचानक एक सूर्यके समान प्रकाशमान सहस्रदलकमल वहां पर पहुँचा दिया। वायु के लाये हुए उस दिव्य-गन्धयुक्त दर्शनीय पुष्प को देखकर और लेकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हुई ॥१।४॥

उसने भीमसेन से कहा—हे पाण्डव! देखो, यह पुष्प कैसा सुगन्धित, रमणीय और सुन्दर प्रतीत होता है! देखते ही इसने मेरे मन को हर लिया है। मैं धर्मराज को यह पुष्प दूँगी। हे पार्थ! जो तुम मुझे प्यार करते हो तो ऐसे बहुत से फूल ला-कर मुझे दो। मैं इन फूलों को काम्यक वन में ले

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत्तदा ॥ ८ ॥
अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद्भीमो महाबलः ॥ ९ ॥
वातं तमेवाऽभिमुखो यतस्तत्पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाऽऽशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १० ॥
रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाऽऽशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ११ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ॥ १२ ॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।
द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन्स बाहुबलमाश्रितः ॥ १३ ॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद्बली ।
स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ॥ १४ ॥
गिरिं चचाराऽरिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ॥ १५ ॥

जाना चाहती हूँ। द्रौपदी भीमसेन से यों कहकर वह फूल लेकर धर्मराज के पास गई। महाबाहु भीमसेन, द्रौपदी की इच्छा जानकर उसका प्रिय करने की इच्छा से, कमल लेने के लिए वहां से चल दिये। सुवर्ण की पीठवाला धनुष और सांप के आकारवाले ज़हरीले बाण लेकर कुपित केशरी और मत्त मातङ्ग की तरह भीमसेन जिधर से वह वायु आ रही थी उधर ही चल पडे ॥५।१०॥

महावीर भीमसेन जिधर जा रहे थे उधर के स्थानों के प्राणी महाधनुष और बाण धारण किये भीमरूप भीमसेन को देखने लगे। राह में उदासी, थकावट, भय या व्याकुलता आदि किसी प्रकार की बाधा उनको इस कार्य में नहीं हुई। वे केवल अपने बाहुबल के भरोसे प्रिया का प्रिय करने की इच्छा से निर्भय होकर पर्वतराज गन्धमादन पर पहुँच गये। वहां उन्होंने देखा कि उस पर्वतराज पर अनेक रङ्ग की धातुएँ, वृक्ष, मृग, पक्षी, लताएँ, गुल्म और नीले रङ्ग की शिलाएं फैली हुई हैं। वह पृथ्वी के सब भूषणों से भूषित हाथ की तरह ऊपर उठा हुआ है। उस पर किन्नर इधर-उधर विचर रहे हैं। कोकिलाएं

सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥ १६ ॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान्हृदयेनाऽनुचिन्तयन् ।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ॥ १७ ॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामाऽमितविक्रमः ।
आजिघ्रन्स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ॥ १८ ॥
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ॥ १९ ॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २० ॥
स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिन्दमः ॥ २१ ॥
विषमच्छदै रचितैरनुलिप्त इवाऽङ्गुलैः ।
वलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ॥ २२ ॥
मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ।

वहां अपनी मीठी बोली सुना रही है। भौंरों के झुण्ड गुञ्जार कर रहे हैं। इस प्रकार के रमणीय गन्धमादन के शिखरों को देखते, अनेक प्रकार के विचार करते और सभी ऋतुओं के फूलों की महक सूँघते हुए भीमसेन चले जा रहे थे। उनके कान वहाँ के विचित्र शब्दों के सुनने में लग गये, आखें वहाँ के दृश्यों को देखने में लीन हो गईं और चित्त में वे वहा के ही दृश्यों के बारे में सोचने लगे। जाते समय तरह-तरह के पुष्पों की सुगन्ध से पूर्ण, शीतल, उस पर्वत का पवन उनके श्रम को दूर कर रहा था। मानों उनके पिता वायु स्नेह के मारे उनके शरीर पर अपना सुखस्पर्श हाथ फेर रहे थे। महाबाहु भीमसेन इस प्रकार अपने पिता पवन की सहायता से श्रमरहित और स्वस्थ होकर प्रसन्नतापूर्वक उस प्रकार के कमलों की खोज में उस यक्ष, गन्धर्व, देवता, ब्रह्मर्षिगण आदि की निवासभूमि पर्वत के शिखरों पर इधर-उधर फिरने लगे ॥ ११।२०॥

भीमसेन ने देखा, वह पर्वत सुनहरे, श्वेत और काले रङ्ग की धातुओं से लिपा हुआ सा है। दोनों ओर मेघों के मँडराते रहने से जान पड़ता है मानों वह पर्वत पंख फैलाये नाच रहा है। झरनों के गिरने से जो जलकण उड़ रहे हैं वे मोतियों के हार की

अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ॥ २३ ॥
अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ॥ २४ ॥
स्रस्तांशुकमिवाऽक्षोभ्यैर्निम्नगाभिः सृतैर्जलैः ।
स शष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ॥ २५ ॥
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ।
चालयानः स्ववेगेन लताजालान्यनेकशः ॥ २६ ॥
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान्वायुसुतो ययौ ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ॥ २७ ॥
प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा ।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान् ॥ २८ ॥
मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः ।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः ॥ २९ ॥
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः ।
नवावतारं रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः ॥ ३० ॥
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ।
संस्मरन्विविधान्क्लेशान्दुर्योधनकृतान्बहून् ॥ ३१ ॥

तरह उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। चारों ओर रमणीय गुफा, कुंज, झरने और बड़ी-बड़ी कन्दराएँ देख पड़ रही हैं। टहलती हुई अप्सराओं के नूपुरों का शब्द सुनकर मोर उसे बादलों का शब्द समझते हुए प्रसन्नता से नाच रहे हैं। वहाँ के शिखर और शिलाएँ जगह-जगह पर गजराजों के दांतों की रगड़ से घिस गई हैं। बहती हुई नदियों का जल इधर-उधर फैला हुआ ऐसा पर्वत के शिथिल वस्त्र की तरह शोभा दे रहा है। मस्त हाथी के समान लाल आँखोंवाले, मस्त हाथी के समान पराक्रमी और वेगशाली भीमसेन, प्रिया का प्रिय करने के लिए, अपने वेग से लताओं को रौंदते चले जा रहे थे। पास ही टहलते हुए, भय को न जाननेवाले मृग, घास का कौर मुँह में दबाये, स्थिर भाव से कौतुक के साथ भीमसेन को देख रहे थे; अपने प्यारों के पास बैठी हुई यक्षों और गन्धर्वों की स्त्रियां एकाग्र भाव से उनकी ओर देख रही थीं; परन्तु भीमसेन उन्हें नहीं देख पाते थे। सुन्दर रूप

द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः ।
सोऽचिन्तयद्गते स्वर्गमर्जुने मयि चाऽऽगते ॥ ३२ ॥
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः ।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद्बलस्य च ॥ ३३ ॥
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः ।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन् ॥ ३४ ॥
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः ।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ॥ ३५ ॥
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ।
कम्पयन्मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु ॥ ३६ ॥
त्रासयन्गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः ।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः ॥ ३७ ॥
उन्मूलयन्महावृक्षान्पोथयंस्तरसा बली ।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन्पाण्डुनन्दनः ॥ ३८ ॥
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः ।
विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः ॥

के नवीन अवतार ऐसे भीमसेन रमणीय गन्धमादन के शिखरों पर घूमने लगे ॥२१।३०॥

दुर्योधन ने जो बहुत क्लेश दिये उन्हें स्मरण करके भीमसेन वनवास के कष्ट सहती हुई द्रौपदी का प्रिय करने के लिए उद्यत हुए थे। वे सोचने लगे कि अर्जुन इन्द्रलोक में हैं, मैं भी इधर फूल लेने चला आया हूँ, आर्य युधिष्ठिर अकेले क्या करेंगे। नकुल-सहदेव उनको बहुत प्यारे हैं, इसी से उन छोटे भाइयों के यथार्थ में महाबली साहसी दूर होने पर भी धर्मराज को उनके बल-विक्रम का विश्वास नहीं है। वे उन्हें अपनी आँखों की ओट कभी न कर सकेंगे। कौन उपाय करूँ कि शीघ्र फूल लेकर यहाँ से चल दूँ? पुरुष-सिंह भीमसेन यों सोचते हुए द्रौपदी का प्रिय करने के लिए पर्वत-शिखरों पर शीघ्रता के साथ जाने लगे ॥३१।३५॥

उनके पैरों की धमक वज्रपात के समान थी। उससे पृथ्वी तक कांप उठती थी। हाथियों के झुण्ड उन्हें देखकर भयभीत हो गये। सिंह, बाघ, मृग आदि को मारते भगाते, वृक्षों को उखाड़-

तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः ॥ ३९ ॥
गुहां सन्तत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः ।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः ॥ ४० ॥
ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम् ।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चाऽवलोकयन् ॥ ४१ ॥
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
तद्वनं सम्परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम् ॥ ४२ ॥
वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥ ४३ ॥
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ४४ ॥
तथाऽन्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।
सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाऽद्रवन् ॥ ४५ ॥
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन्भीषणात्रवान् ॥ ४६ ॥
ततो वायुसुतः क्रोधात्स्वबाहुबलमाश्रितः ।

उखाड़कर फेंकते, वेग से लताओं के जाल खींचते, सीढ़ियों की तरह नीचे ऊँचे शिखरों पर चलते हुए भीमसेन गजराज के समान जान पड़ते थे। बिजली से शोभित मेघ के समान भीमसेन बीच बीचमें भयानक रूप से गरजते भी जाते थे। उनकी उस गम्भीर गर्जना को सुनकर सिंह, व्याघ्र आदि भयानक पशु जागकर कन्दराओं से बाहर निकल पड़े ॥३९।४०॥

वनवासी लोग भय के मारे इधर-उधर छिप रहे। पक्षी उड़ उड़कर भागे। मृगों के झुण्ड डरकर भागने लगे। भालू वृक्षों के नीचे से बेतहाशा भागे। भैंसे व्याकुल हो उठे। डरे हुए हाथियों के झुण्ड हथिनियों के साथ भागकर उस वन से दूसरे वन को चले गये। वराह, मृग, सिंह, भैंसे बाघ, नीलगाय, सियार और लोमड़ी आदि वन के जीव चिल्ला उठे। चक्रवाक, पपीहा, हंस, कारण्डव, प्लव, तोते, कोयल, मैना, क्रौञ्च आदि पक्षी डरकर भाग खड़े हुए। हथिनियों के द्वारा उत्तेजित कोई-कोई हाथी और सिंह-व्याघ्र आदि कुपित होकर भीमसेन की ओर दौड़े। कोई-कोई भय के मारे मल-मूत्र त्याग करते हुए मुँह फैलाकर भयानक शब्द करने लगे। भीमसेन क्रोधित होकर अपने बाहुबल से आक्रमण करके हाथियों से हाथियों को, सिंहों से

गजेनाऽन्यान्गजाञ्श्रीमान्सिंहं सिंहेन वा विभुः॥ ४७ ॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत्पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥ ४८ ॥
भयाद्विसस्रुजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥ ४९ ॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्शब्देनाऽऽपूरयन्दिशः ।
अथाऽपश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५० ॥
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद्वेगेन क्षोभयिष्यन्महाबलः ॥ ५१ ॥
महागज इवाऽऽस्रावी प्रभञ्जन्विविधान्द्रुमान् ।
उत्पाट्य कदलीस्तम्भान्बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥ ५२ ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद्बलिनां वरः ।
विनदन्सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥ ५३ ॥
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद्बहूनि सुमहांति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥ ५४ ॥
तेन शब्देन चैवाऽथ भीमसेनरवेण च ।

सिंहों को और थप्पड़ आदि मारकर अन्य पशुओं को नष्ट करने लगे। भीमसेन के प्रहार से सिंह, व्याघ्र, तेंदुए आदि विह्वल हो गये, वे भय के मारे मलमूत्र त्याग करने लगे। फिर भीमसेन भयङ्कर शब्द करते हुए वन में घुसे। गन्धमादन पर्वत के शिखर पर उन्होंने कई योजन तक फैला हुआ कदली-वन देखा ॥४१।५०॥

उस केले के वन में वे घुस गये। गजराज की तरह वृक्षों को तोड़ते और उखाड़ते हुए भीमसेन वहां इधर-उधर फिरने और क्रोधित नृसिंह भगवान् की तरह गरजने लगे। रुरु, वानर, सिंह और भैंसे आदि बहुत से बड़े बड़े प्राणी प्राणों के भय से जलाशय की ओर भागे। उनके भारी कोलाहल और भीमसेन के सिंहनाद को सुनकर दूसरे वनों के पक्षी और मृग आदि जीव भय के मारे काँप उठे। जल के पास रहनेवाले अन्यान्य पक्षी उस शब्द को सुनकर उड़ने लगे। उनके पर जल से भीग गये थे। उन जल में रहनेवाले पक्षियों को देखकर भीमसेन समझ गये कि यहाँ पास ही कोई जलाशय है। उन्हीं पक्षियों का लक्ष्य करके भीमसेन

वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५५ ॥
तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५६ ॥
तानौदकान्पक्षिगणान्निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवाऽनुसरन्रम्यं ददर्श सुमहत्सरः ॥ ५७ ॥
काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाऽक्षोभ्यं तीरात्तीरविसर्पिभिः ॥ ५८ ॥
तत्सरोऽथाऽवतीर्याऽऽशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद्बली ॥ ५९ ॥
विक्रीड्य तस्मिन्सुचिरमुत्ततारऽमितद्युतिः ।
ततोऽध्यगं तु वेगेन तद्वनं बहुपादपम् ॥ ६० ॥
दध्मौ च शंखं स्वनवत्सर्वप्राणेन पाण्डवः ।
आस्फोटयच्च बलवान्भीमः सन्नादयन्दिशः ॥ ६१ ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः ॥ ६२ ॥
तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ॥ ६३ ॥
सिंहनाद भयत्रस्तैः कुंजरैरपि भारत ।

एक परम रमणीय बड़े भारी सरोवर के पास पहुँचे। सुनहरे रङ्ग के केलों के पेड़ों के पत्ते वायु से हिल रहे थे; जान पड़ता था मानों वे भीमसेन को पङ्खा डुला रहे हैं। पराक्रमी भीमसेन उस कमलों [illegible] पूर्ण सरोवर में घुस पड़े। गजराज की तरह वे उसके भीतर बहुत देर तक जलक्रीड़ा करते रहे। क्रीड़ा करके वे बाहर निकले। फिर वेग से उस बहुत वृक्षोंवाले वन में घुसकर वे ज़ोर [illegible] अपना शङ्ख बजाकर ताल ठोकने लगे ॥५९।६०॥

वह शब्द चारों ओर गूंज उठा। उनकी शङ्खध्वनी, सिंहनाद और ताल ठोकने के शब्द से कन्दराएं गूंजने लगीं। कन्दराओं में सोये हुए सिंह उस वज्रपात के समान ताल ठोकने के शब्द को सुनकर जोर से गरजने लगे। हाथियों के झुण्ड भी सिंहनाद से डरकर भयङ्कर शब्द करने लगे। ये सब शब्द पर्वत भर में भर गये। वानरराज

मुक्तो विरावः सुमहान्पर्वतो येन पूरितः ॥ ६४ ॥
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः ।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान्कपिः ॥ ६५ ॥
दिवङ्गमं रुरोधाऽथ मार्गं भीमस्य कारणात् ।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः ॥ ६६ ॥
आस्त एकायने मार्गे कदलीपण्डमण्डिते ।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै ॥ ६७ ॥
माऽत्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः ।
कदलीपण्डमध्यस्थो ह्येवं सञ्चिन्त्य वानरः ॥ ६८ ॥
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान्नाम वानरः ।
कदलीपण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ॥ ६९ ॥
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
आस्फोटयच्च लांगूलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ७० ॥
तस्य लांगूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः ।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः ॥ ७१ ॥
लांगूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः ।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात्पर्यशीर्यत ॥ ७२ ॥

हनुमान् भी उसी स्थान पर थे। वे हाथियों की घोर चिल्लाहट से भीमसेन के आने का समाचार जानकर उसी राह को रोककर बैठ गये जो उस वन से स्वर्ग को जाती थी। वे चाहते थे कि भीमसेन उस राह में जाकर शापग्रस्त न होने पावें, या किसी प्रकार की हानि न उठाने पावें। वहां बैठकर वे अलसाये हुए भाव से बारबार जँभाने और पूँछ को पटकने लगे जिससे वज्र के समान शब्द होता था ॥६१।७०॥

गरजते हुए साड़ के ऐसे उस पूँछ को पटकने के शब्द को वह पर्वतराज मानों कन्दरारूपी मुंह से प्रकट कर रहा था। पूँछ पटकने के शब्द से वह पर्वतराज चलायमान हो उठा। सब शिखर हिलने और फटने से लगे। वह पूँछ पटकने का शब्द इतना बढ़ा कि हाथियों की चिंघाड़ छिप गई। पर्वत के शिखरों पर वह शब्द गूँज उठा। उस शब्द को सुनने से भीमसेन के रोंगटे खड़े हो आये। वे उस शब्द के कारण को खोजते हुए उस

स लांगूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ॥ ७३ ॥
स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ॥ ७४ ॥
कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ॥ ७५ ॥
विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात्तनुमध्यकटीतटम् ॥ ७७ ॥
किञ्चिच्चाऽभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लांगूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ७८ ॥
ह्रस्वोष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तवर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥ ७९ ॥
अपश्यद्वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ॥ ८० ॥
केसरोत्करसंमिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥ ८१ ॥
दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवाऽनलम् ।

कदली-वन में फिरने लगे। कुछ देर के पश्चात् उसी वन में उन्होंने देखा कि एक शिला के ऊपर वज्रपात के से भयानक शब्द से गरजते हुए, चपल, पिङ्गलवर्ण, कपिराज हनुमान् लेटे हुए हैं। उनकी मोटी और नाटी गर्दन हाथ के सहारे पर है, पूँछ का सिरा कुछ टेढ़ा है। वह पूँछ लम्बी और रोमपूर्ण होने के कारण ध्वजा के दण्ड के समान जान पड़ती है। उनके कन्धे चौड़े हैं। कमर पतली है। ओंठ छोटे हैं। दाढ़ें बाहर निकली हुई हैं। चमकते हुए दाँतों से उनका मुख किरणयुक्त चन्द्र-मण्डल के समान जान पड़ता है ॥७१।८०॥

वे सुनहरे केले के पेड़ों के बीच बैठे हुए हैं। उनका प्रभापूर्ण शरीर प्रज्वलित अग्नि के समान तेज से पूर्ण है। शहद के रङ्ग के पिङ्गलवर्ण नेत्रों

निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ८२ ॥
तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ ८३ ॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन्महावने ।
अथोपसृत्य तरसा बिभीर्भीमस्ततो बली ॥ ८४ ॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ८५ ॥
हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८६ ॥
हनूमानुवाच—किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।
ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ॥ ८७ ॥
वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः ।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ॥ ८८ ॥
क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ८९ ॥
न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया ।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान् ॥ ९० ॥

से वे भीमसेन की ओर ताक रहे थे। वानरराज हनुमान् को इस तरह स्वर्ग की राह रोके लेटे देखकर भीमसेन बेधड़क वेग से उनके पास आकर वज्रपात के समान गम्भीर सिंहनाद करने लगे। उनका वह शब्द सुनते ही सब मृग और पक्षी शङ्कित हो गये। महाबली हनुमान् किंचित् आँखें खोलकर उनकी ओर लापरवाही से देखकर मुसकाते हुए कहने लगे—मैं बीमार हूँ; इस जगह सुख से पड़ा सो रहा था; तुमने क्यों आकर मुझे जगा दिया? तुम बुद्धिमान् हो, इसलिए तुम्हें सब पर दया करनी चाहिए। हम लोग पशुयोनि में उत्पन्न हुए हैं। इस कारण धर्म के विषय में कुछ नहीं जानते। मनुष्य बुद्धिमान् हैं, वे सब प्राणियों पर दया करते हैं। तुम ऐसे लोग वैसे कार्य नहीं करते जिससे शरीर, मन और वाणी दूषित हो, या धर्म को हानि पहुँचे। तुम शायद धर्म के विषय को

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः ।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ॥ ९१ ॥
क्व च त्वयाऽद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ॥ ९२ ॥
विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते ।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ॥ ९३ ॥
कारुण्यात्त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे ।
नाऽतः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ॥ ९४ ॥
स्वागतं सर्वथैवेह तवाऽद्य मनुजर्षभ ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ॥ ९५ ॥
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम् ।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ॥ ९६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीखंडप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

बिलकुल नहीं जानते, तुमने पण्डितों की संगति भी नहीं की है ॥८१।९०॥

इसी से लड़कपन और अज्ञानता के कारण पशुओं को सताते हो। तुम कौन हो? किसलिए इस निर्जन वन में आये हो? आगे अब कहाँ जाओगे? इस वन के बाद ही वह अगम्य और बड़ी ही कठिनता से चढ़ने योग्य पर्वत का शिखर देख पड़ता है। सिद्धि प्राप्त किये बिना उस पर जाना सहज नहीं है। यह देवलोक का मार्ग है। मनुष्य उधर नहीं जा सकता। मैं करुणा-वश तुमको रोकता हूँ; तुम लौट जाओ। अब आगे नहीं जा सकोगे। हे नरश्रेष्ठ! यदि मेरी यह बात हित की जान पड़े तो आगे न जाकर यहीं ठहरो; ये अमृत के समान स्वादिष्ट फल खाओ और लौट जाओ। इसी में तुम्हारा भला है। वृथा मौत के मुँह में न जाओ ॥९१।९६॥

वनपर्व का एक सौ छियालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचाऽमित्रकर्षणः ॥ १ ॥

भीम उवाच—को भवान् किंनिमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥ २ ॥
कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥ ३ ॥
स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान्वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥
हनूमानुवाच—वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम्।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥ ५ ॥
भीमसेन उवाच—वैशसं वाऽस्तु यद्वाऽन्यन्न त्वां पृच्छामि वानर।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम् ॥ ६ ॥
हनूमान उवाच—नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥ ७ ॥
भीम उवाच—निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्याऽवतिष्ठते ।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नाऽवमन्ये न लङ्घये ॥ ८ ॥

एक सौ सैंतालीस अध्याय ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! हनुमान् के ये वाक्य सुनकर भीमसेन कहने लगे—तुम कौन हो ? वानर का रूप रखकर यहाँ किसलिए पड़े हो ? मैं क्षत्रिय महाराज पाण्डु का पुत्र हूँ। मै सोमवंशी हूँ। वायु के वीर्य से कुरुकुल में कुन्ती के गर्भ से मेरा जन्म हुआ है। मेरा नाम भीमसेन है। भीमसेन के ये वाक्य सुनकर कपिराज हनुमान् ने मुसकाकर कहा—मैं वानर हूँ। तुम जिधर जाना चाहते हो, उधर जाने की राह मैं तुमको न दूँगा। तुम यहाँ से लौट जाओ। जान-बूझकर मौत को न बुलाओ ॥१।५॥

भीमसेन ने कहा—चाहे मेरी मृत्यु हो चाहे कुछ और, उसके लिए मै तुमसे नहीं पूछता। तुम उठकर मुझे राह दो। निरर्थक मुझसे बैर ठानकर कष्ट पाने का उपाय न करो ॥६॥

हनुमान् ने कहा—मैं बीमार और सुस्त होकर यहाँ पड़ा हूँ, मुझमें उठने तक की शक्ति नहीं है। जो तुम जाना ही चाहते हो, नहीं मानते, तो मुझे लाँघकर चले जाओ ॥७॥

भीमसेन ने कहा—निर्गुण परमात्मा सभी के शरीर में विद्यमान हैं। मैं जान-बूझकर, उसे लाँघकर, उसका अपमान नहीं कर सकता। जो मैं शास्त्र पढ़कर उस परमात्मा को न जानता तो हनुमान् के समुद्र लाँघ जाने के समान तुमको और

यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम् ।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम् ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच—क एष हनुमान्नाम सागरो येन लंघितः ।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

भीम उवाच—भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः ।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान्वानरपुङ्गवः ॥ ११ ॥
रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः ।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥ १२ ॥
स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा ।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥
उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाऽद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम् ।
हृदयेनाऽवहस्यैनं हनूमान्वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

हनूमानुवाच—प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयाऽनघ ।
ममाऽनुकम्पया त्वेतत्पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥

इस पर्वत को लांघ जाता ॥८।९॥

हनुमान् ने कहा—जो समुद्र लांघ गये थे। उन हनुमान् को यदि जानते हो तो बतलाओ ॥१०॥

भीमसेन ने कहा—हनुमान् मेरे भाई हैं। उनमें प्रशंसनीय गुण हैं। उनमें अमित बुद्धि और पराक्रम है और वे रामायण में परम प्रसिद्ध हैं। वे राम की स्त्री जानकी के लिये सौ योजन लम्बे समुद्र को एक छलांग में फांद गये थे। मैं भी बल-पराक्रम और वीर्य में, युद्ध करने में, उन्हीं महापराक्रमी भाई के समान हूं। मैं सहज ही तुमको परास्त कर सकता हूं। इसलिए उठकर मुझे राह दे दो, नहीं तो मेरे पौरुष को देखो; अभी मैं तुम को यमलोक भेज दूंगा ॥११।१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब महावीर हनुमान् भीमसेन को बल के मद से उन्मत्त और बाहुबल के घमण्ड में चूर देखकर मन ही मन हंसकर कहने लगे—हे वीर! प्रसन्न होओ। मैं बुढ़ापे के कारण उठ नहीं सकता। इसलिए कृपा करके मेरी यह पूँछ हटा दो। हनुमान् के यों कहने पर बाहुबल के घमण्ड से भरे हुए भीमसेन सोचने लगे कि यह वानर बिल्कुल ही पराक्रम-वीर्य से हीन है। इसकी पूँछ पकड़कर मैं इसे अभी यमलोक को

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाऽचिन्तयद्भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १७ ॥
पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥ १८ ॥
सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाऽशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १९ ॥
उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद्भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ २० ॥
उत्क्षिप्त भ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद्भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम् ॥ २१ ॥
यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लांगूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥ २२ ॥
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्रांजलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २३ ॥
सिद्धो वा यदि वा देवो गंधर्वो वाऽथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन्कामया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २४ ॥
न चेद्गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद्भवेन्मम ।
शिष्यवत्त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ ॥ २५ ॥

भेज दूगा । यह सोचकर उन्होंने अनादरपूर्वक बायें हाथ से हनुमान् की पूछ पकड़ी, किन्तु वे किसी तरह उसे उस जगह से हटा नहीं सके ॥१५।१९॥

फिर दोनों हाथों से वह इन्द्र की ध्वजा के समान उठी हुई हनुमान् की पूछ उन्होंने पकडी; किन्तु फिर भी किसी तरह उसको वे हिला नहीं सके। यद्यपि भीमसेन की भौंहें टेढ़ी हो गईं, आखें निकल सी पड़ीं और शरीर थकन के पसीने से तर हो गया; तो भी वे उस पूँछ को इधर से उधर नहीं कर सके। इस तरह बहुत यत्न करने पर भी जब वे उस पूँछ को हिला नहीं सके तब लज्जित भाव से सिर नीचा करके हनुमान् के पास खड़े हो गये और प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहने लगे—हे वानरराज! प्रसन्न हूजिए। मैंने जो कटु वचन तुमको कहे हैं उनके लिए क्षमा कीजिए। तुम

हनूमानुवाच—यत्ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
तत्सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनंदन ॥ २६ ॥
अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुना ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान्नाम वानरः ॥ २७ ॥
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥ २८ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चाऽमित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाऽभवत्प्रीतिरनिलस्याऽग्निना यथा ॥ २९ ॥
निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित्कारणांतरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ ३० ॥
अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥ ३१ ॥
स पितुः प्रियमन्विच्छन्सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दंडकारण्यमाश्रितः ॥ ३२ ॥
तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनाऽपहृता बलात् ।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना ॥ ३३ ॥

वानर का रूप धारण किये हुए कौन हो ? क्या सिद्ध देवता, गन्धर्व या यक्ष हो ? मै शिष्य की तरह तुमसे पूछता हू । जो तुम्हारा वृत्तान्त छिपाने योग्य न हो, मेरे सुनने योग्य हो, तो मुझसे सब कहो ॥२०।२५॥

हनुमान् ने कहा—हे शत्रुदमन ! मेरा परिचय पाने के लिए तुमको कौतूहल हुआ है तो मैं विस्तार के साथ कहता हूँ, सुनो । मैं केसरी की स्त्री अंजना के गर्भ से वायु के अंश से उत्पन्न हुआ हू, मेरा नाम हनुमान् है । वानरराज और वानरयूथपगण जिन सूर्यपुत्र सुग्रीव और इन्द्रपुत्र बाली के आज्ञाकारी थे उनका मैं मन्त्री था । अग्नि और वायु की जैसी मित्रता है वैसी ही मित्रता मुझसे और सुग्रीव से थी ॥ २६।२९॥

किसी कारण भाई बाली के अपमान करने पर सुग्रीव मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहने लगे । उसी समय दशरथ के पुत्र विष्णु के अवतार रामचन्द्र, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए, अपने भाई और स्त्री के साथ दण्डकारण्य को गये । वहां राक्षसेन्द्र महाबली रावण पापी ने, सुवर्णमृगरूप

सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा ।
वंचयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदाऽनघ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

मारीच की सहायता से, राम को आश्रम से दूर भेज दिया और आप जनस्थान में सूने आश्रम से सीता को चुरा ले गया ॥३०।३४॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४७ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

हनूमानुवाच—हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन्स राघवः ।
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ १ ॥
तेन तस्याऽभवत्सख्यं राघवस्य महात्मनः ।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान् ॥ २ ॥
स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे ।
वानरान्प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३ ॥
ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ ।
सीतां मार्गन्महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ ४ ॥
ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना ।
संपातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने ॥ ५ ॥
ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
शतयोजनविस्तारमर्णवं सहसा प्लुतः ॥ ६ ॥

एक सौ अड़तालीस अध्याय ॥१४८॥

हनुमान् ने कहा—हे वीर ! इस प्रकार सीता के हरे जाने पर महावीर रामचन्द्र भाई के साथ उन्हें खोजते हुए चले। राह में पर्वत के शिखर पर उनकी वानरराज सुग्रीव से भेंट हुई। फिर सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता हो जाने पर उन्होंने बाली को मारा और सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा दिया। सुग्रीव ने राज्य पाकर सीता को खोजने के लिए सैंकड़ों हज़ारों वानरों को इधर-उधर भेजा। मैं भी करोड़ों वानरों के साथ सीता को खोजने के लिये दक्षिण दिशा को गया ॥१।४॥

इसके पश्चात् राह में गिद्धों के राजा सम्पाति के मुँह से रावण के घर सीता के रहने की सूचना

अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम् ।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ ७ ॥
दृष्टवान्भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने ।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम् ॥ ८ ॥
दग्ध्वा लंकामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम् ।
प्रत्यागतश्चाऽस्य पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ॥ ९ ॥
मद्वाक्यं चाऽवधार्याऽऽशु रामो राजीवलोचनः ।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बध्वा सेतुं महोदधौ ॥ १० ॥
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम् ।
ततो रामेण वीर्येण हत्वा तान्सर्वराक्षसान् ॥ ११ ॥
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम् ।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम् ॥ १२ ॥
राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ॥ १३ ॥
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः ॥ १४ ॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः ।
अध्यावसत्ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः ॥ १५ ॥

पाकर, महात्मा रामचन्द्र का काम सिद्ध करने के लिए, मैं सौ योजन लम्बे समुद्र को लांघकर रावण के घर गया। वहां जाकर मैंने देवकन्या के समान सुन्दरी राम की पत्नी सीता को देखा। फिर उनसे मिलकर मैंने महल, फाटक, दीवार आदि सहित सारी लङ्का को आग लगाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार अपना परिचय देकर मैं वहां से फिर लौट आया ॥५।९॥

रामचन्द्रजी ने मुझसे समाचार पाते ही सोच-कर रावण पर चढ़ाई कर दी; समुद्र पर पुल बांधा और वानरों के साथ वे समुद्र के उस पार पहुँच गये। फिर युद्ध में भाई, पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि बहुत राक्षसों के साथ राक्षसेन्द्र रावण को रामचन्द्र ने मारा। अपने आज्ञाकारी, भक्त, धर्मात्मा विभीषण को लङ्का के राजसिंघासन पर बिठाकर रामचन्द्र ने खोई हुई श्रुति (वेद) के समान सीता को प्राप्त किया। वहां से वे अयोध्यापुरी को लौट आये और राजसिंघासन पर बैठे ॥१०।१५॥

ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥ १६ ॥
यावद्राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथाऽस्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिन्दम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ॥ १८ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान्रामस्ततः स्वभवनं गतः ॥ १९ ॥
तदिहाऽप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदाऽनघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ २० ॥
अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान्मार्गं तवेमं देवसेवितम् । २१ ॥
धर्षयेद्वा शपेद्वाऽपि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नाऽत्र गच्छन्ति मानुषाः ॥
यदर्थमागतश्चाऽसि अत एव सरश्च तत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४८॥

तब मैंने रामचन्द्रजी से वरदान माँगकर कहा — हे शत्रुदमन ! जब तक आपकी कथा इस संसार में रहे तब तक मैं जीता रहूँ । उन्होंने मेरी बात मान ली । हे भीम ! सीता के प्रसाद से मैं यहीं रहकर इच्छा के अनुसार सब दिव्य भोगों को पाता हूँ । भगवान् विष्णु के अवतार रामचन्द्र ग्यारह हज़ार वर्ष तक राज्य-सुख भोगकर परम धाम को चले गये ॥१६।१९॥

हे निष्पाप ! अप्सराएँ और गन्धर्व इस स्थान पर बराबर रामचरित्र गाकर मुझे सन्तुष्ट किया करते हैं । यह मार्ग मनुष्यों के लिए अगम्य है । कोई तुम्हें शाप न दे दे, या तुम्हें किसी से परास्त न होना पड़े, इसी लिए मैं यह स्वर्ग की राह रोककर बैठा था । इस राह से देवता लोग आते-जाते हैं । यहां मनुष्य का अधिकार नहीं है । तुम जिसके लिए आये हो वह सरोवर इसी जगह है ॥२०।२२॥

वनपर्व का एक सौ अड़तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥१४८॥

अथ ऊनपचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४९॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥ १ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नाऽस्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ॥ २ ॥
अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।
एवं तु कृत मिच्छामि त्वयाऽद्य प्रियमात्मनः ॥ ३ ॥
यत्त्वेतदासीत्प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ४ ॥
एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ५ ॥
न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नाऽन्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या न सा वर्तति सांप्रतम् ॥ ६ ॥
अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाऽद्य तद्रूपमस्ति मे ॥ ७ ॥
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्तंते यथा भावा युगे युगे ॥ ८ ॥

एक सौ उनपचास अध्याय ॥ १४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! हनुमान् के यों कहने पर महाबली भीमसेन ने प्रसन्नतापूर्वक उससे कहा—हे वानरराज ! आज मैं आपके दर्शन पाकर धन्य अनुगृहीत और सन्तुष्ट हुआ। इस समय आपको मेरा एक प्रिय कार्य करना होगा। समुद्र को लाँघते समय आपने जो विशाल रूप धारण किया था उसे मैं इस समय देखना चाहता हूँ। आप अपना वह रूप दिखावेंगे तो अत्यन्त सन्तुष्ट होऊँगा और आपके वचनों पर श्रद्धा करूँगा ॥१-५॥

तब हनुमान् ने हँसकर कहा—हे भीमसेन ! तुम या और कोई मेरे उस पहले के भीमरूप को नहीं देख सकता; क्योंकि तब समय और था, और अब समय और है। सत्ययुग में समय दूसरे प्रकार का होता है। त्रेतायुग में और प्रकार का और द्वापरयुग में और प्रकार का होता है। इस समय सब

बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयंत्युद्भवंति च ।
तदलं बत तद्रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥
भीम उवाच—युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थ भावांश्च कर्मवीर्यं भवाभवौ ॥ १० ॥
हनूमानुवाच—कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन्काले युगोत्तमे ॥ ११ ॥
न तत्र धर्माः सीदंति क्षीयंते न च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ १२ ॥
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
नाऽऽसन्कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ॥ १३ ॥
न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नाऽऽसीच्च मानवी ।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १४ ॥
न तस्मिन्युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ।
नाऽसूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ॥ १५ ॥

प्रकार से हीन समय है । अब मेरा वह रूप नहीं है । भूमि, नदी, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि प्रत्येक युग में काल के अनुगामी होते है । बल, शरीर और प्रभाव, सभी का कम हो जाता है । इस लिए अब मेरा वह पहला रूप देखने की आवश्यकता नहीं । मैं इस समय युग का अनुगामी हूँ । काल के प्रभाव से कोई नहीं बच सकता । भीमसेन ने कहा—हे वीर ! आप प्रत्येक युग की संख्या, आचार, धर्म, अर्थ, काम, तत्त्व. कर्म, वीर्य, उत्पत्ति और विनाश का पूरा वर्णन कीजिये ॥९।१०॥

हनुमान् ने कहा—हे भीम ! पहले सत्युग है। इस युग में सनातन धर्म प्रचलित था । कोई कार्य भी करने के लिये रह नहीं जाता था, अर्थात् सभी कार्य हो जाते थे । उस युग में धर्म की हानि या प्रजा का क्षय नहीं होता था । इसी कारण उसको कृतयुग भी कहते है । अब समय के प्रभाव से उस की प्रधानता नहीं रही । सत्यपुग में देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि जातियों के विभाग नहीं थे। कोई उपद्रव नहीं था । किसी प्रकार का क्रय विक्रय नहीं था । चार वेद नहीं थे; एक ही वेद था । खेती आदि मनुष्यों के कार्य भी नहीं थे । संकल्प से ही सब कार्य सिद्ध हो जाते थे । सन्यास ही एक मात्र धर्म था ॥११।१४॥

इस युग में कोई व्याधि या बुढ़ापा नहीं था ।

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम् ।
न भयं नापि सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥ १६ ॥
ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा ।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १७ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ।
कृते युगे समभवन्स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १८ ॥
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम् ।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १९ ॥
एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ २० ॥
चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना ।
अकामफलसंयोगात्प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २१ ॥
आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः ।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २२ ॥
एतत्कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम् ।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन्सत्रं प्रवर्तते ॥ २३ ॥
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाऽच्युतः ।

ईर्ष्या, रोना, घमण्ड, चित्तविकार, लड़ाई-झगड़ा, आलस्य, द्वेष, छल, भय, सन्ताप, डाह आदि दुर्गुण या बुरी बातों का नाम भी न सुन पड़ता था। एकमात्र परब्रह्म ही योगियों की परमगति थे। शुक्ल-वर्ण नारायण ही सब प्राणियों के आत्मा थे। अपने-अपने कर्म में लगे हुए अपने-अपने धर्म का पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, प्रजाजन थे। आचार, आश्रय, ज्ञान, कर्म, धर्म, सब बातें सबकी समान थीं। क्रिया, मन्त्र, विधि आदि सब बातें एक थीं। सब लोग एक ही देवता की आराधना किया करते थे ॥१५।२०॥

आश्रम आदि भिन्न-भिन्न धर्मों का पालन करते हुए भी सब एक सनातन धर्म के अनुगामी थे। समयानुकूल चारों आश्रमों के कर्त्तव्य का पालन करते हुए सब लोग एक वेद के अनुगामी होकर सद्गति प्राप्त करते थे। ब्रह्मयोगसम्पन्न धर्म ही सत्ययुग का लक्षण है। सत्ययुग में चारों वर्णों का धर्म चार चरण का अर्थात् पूरा था। उस युग में

सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २४ ॥
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः ।
त्रेतायां भावसङ्कल्पाः क्रियादानफलोपगाः ॥ २५ ॥
प्रचलन्ति न वै धर्मात्तपोदानपरायणाः ।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २६ ॥
द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते ।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २७ ॥
ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथाऽपरे ।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाऽप्यनृचश्च तथाऽपरे ॥ २८ ॥
एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया ।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २९ ॥
एकवेदस्य चाऽज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्वस्य चेह विभ्रंशात्सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३० ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन् ।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ॥ ३१ ॥

माया के तीन गुणों का भेदभाव नहीं था । अब त्रेतायुग का वर्णन सुनो । त्रेतायुग में यज्ञ की विधि प्रचलित हुई । धर्म का एक चरण घट गया । विष्णु का वर्ण लाल हो गया । सब लोग कर्मकाण्डी और सत्य को सर्वोपरि माननेवाले हुए । अनेक धर्मों और कर्मों का चलन तभी से हुआ । भाव और संकल्प से ही क्रिया और दान सफल होते थे । उस युग में सभी लोग तपस्वी, दानी, स्वधर्मनिष्ठ और कर्मनिरत थे । कोई धर्म के मार्ग का उलङ्घन नहीं करता था ॥२१।२६॥

द्वापर युग में धर्म के दो ही चरण रह गये । वेद के चार भाग हो गये । विष्णु का वर्ण पीला हुआ । इस युग में कोई चारों वेदों को, कोई तीन वेदों को, कोई दो ही वेदों को और कोई एक ही वेद को पढ़ता था । कोई-कोई बिलकुल ही वेद नहीं पढ़ते थे । इस प्रकार अनेक शास्त्र बनने पर कर्म-काण्ड के भी बहुत से विभाग हो गये । सब प्रजा तप और दान में श्रद्धा रखती थी । लोगों की प्रकृति अधिकतर रजोगुणी थी । एक वेद का ज्ञान कठिन समझने के कारण एक वेद के बहुत से विभाग उपविभाग हो गये । इस युग में सत्वगुण का एक प्रकार से लोप ही हो गया । कोई-कोई सत्यवादी देख पड़ता था ॥२७।३०॥

सत्वगुण से भ्रष्ट होने के कारण बहुत सी

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः ।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चाऽपरे ॥ ३२ ॥
एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ॥ ३३ ॥
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥ ३४ ॥
ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा ।
उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ॥ ३५ ॥
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ॥ ३६ ॥
लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः ।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ॥ ३७ ॥
एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।
युगानुवर्तनं त्वेतत्कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ ३८ ॥
यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ॥ ३९ ॥

व्याधियों ने घेर लिया। दैव के द्वारा अनेक प्रकार की इच्छाओं के साथ उपद्रव भी बढ़ने लगे। इस प्रकार मनुष्यों के पीड़ित होने पर कोई उनसे छुटकारे के लिए कठोर तप और कोई कामभोग तथा स्वर्ग-लाभ की इच्छा से यज्ञ करने लगा। इस प्रकार द्वापर युग में अधर्म की बढ़ती से प्रजा का क्षय होने लगता है। हे भीमसेन ! इस समय कलियुग है। इस युग में तमोगुण की प्रधानता है। धर्म का एक ही चरण रह गया है। नारायण का कृष्ण रूप है। वे वेद, आचार, धर्म, यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि अब लुप्त हो गये हैं ॥३१-३४॥

ईति, तन्द्रा, क्रोध आदि दोष और व्याधि, भूख-प्यास आदि के उपद्रव प्रकट हो रहे हैं। यह युग विनाश का युग है, इस कारण धर्म का क्षय पहले होता है। धर्म के क्षय से लोकक्षय, लोकक्षय से लोकों की स्थिति का कारण जो धर्म का ज्ञान है वह नष्ट हो जाता है। लोकक्षय, के कारणरूप जो भाव हैं उनसे मनुष्यों की इच्छा के विपरीत घटनाएँ होती हैं; अर्थात् वे चाहते कुछ हैं और होता कुछ है। हे पवनपुत्र ! यही कलियुग का लक्षण हैं; जो लोग चिरजीवी हैं, बड़ी आयुवाले हैं, वे प्रत्येक युग में उसी युग का अनुसरण करते हैं।

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनूमद्भीमसंवादे ऊनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

मेरा परिचय प्राप्त करने के लिए तुम्हारा यह कौतूहल व्यर्थ है। ऐसी निरर्थक बातों में बुद्धिमान् लोग समय नहीं नष्ट करते। तुमने मुझसे युगों के सम्बन्ध में जो पूछा था सो सब मैंने तुमसे कह दिया। अब तुम सकुशल अपने स्थान को लौट जाओ ॥३५।४०॥

—०—

वनपर्व का एक सौ उनपचास अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४९ ॥

अथ पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

भीमसेन उवाच—पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथञ्चन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयाऽऽत्मानमात्मना ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवङ्गमः ।
तद्रूपं दर्शयामास यद्वै सागरलङ्घने ॥ २ ॥
भ्रातुः प्रियमभीप्सन्वै चकार सुमहद्वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ॥ ३ ॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरिश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ॥ ४ ॥
समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भृकुटीकुटिलाननः ॥ ५ ॥
दीर्घलांगूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः।
तद्रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥ ६ ॥

एक सौ पचास अध्याय ॥१५०॥

भीमसेन ने कहा—हे महाभाग ! मैं आपका पूर्वरूप देखे बिना किसी तरह यहा से न जाऊँगा। इसलिए यदि आप मुझ पर कृपा करते हैं तो अपना पहला रूप दिखाइए। तब हनुमान् ने हँसकर अपने भाई का प्रिय करने के लिए वही विशाल भयानक रूप धारण किया जो समुद्र लाघने के समय धारण किया था। उन्होंने अपने शरीर को ऐसा बढ़ाया कि उसने अपनी लम्बाई-चौड़ाई से सारे कदली-वन को ढक लिया। उनका वह बड़ा शरीर दूसरे पर्वत के समान जान पड़ने लगा। उनकी आखें लाल,

विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः ।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥ ७ ॥
प्रदीप्तमिव चाऽऽकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत् ।
आबभाषे च हनुमान्भीमसेनं स्मयन्निव ॥ ८ ॥
एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममाऽनघ ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम् ।
भीम शत्रुषु चाऽत्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसन्निभम् ।
दृष्ट्वा हनुमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥
दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्याऽस्य ते विभो ।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥
न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥
विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान्मनसोऽद्य वै ।
यद्रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥

दाढ़ें तीक्ष्ण, मुखमण्डल टेढ़ी भौंहों से भयानक और पूँछ लम्बी थी। भीमसेन को उनका वह भयानक रूप देखने से बार-बार हर्ष और आश्चर्य हुआ। हनुमान् को सूर्य के समान तेजस्वी और सुमेरु तथा आकाश के समान उज्ज्वल देखकर भीमसेन ने आँखें बन्द कर लीं। यह देखकर हनुमान् ने मुसकराकर कहा—हे भीम! मैं जितना चाहूँ उतना बढ़ सकता हूँ। किन्तु तुम केवल मेरा ऐसा रूप ही देख सकते हो। हे निष्पाप! मैं शत्रुओं के बीच में इससे बहुत अधिक बढ़ सकता हूँ ॥१।९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! हनुमान् की वह विन्ध्याचल के समान अत्यन्त अद्भुत भयानक मूर्त्ति देखकर भीमसेन ने हाथ जोड़े। उनको रोमाञ्च हो आया। उन्होंने व्याकुलतासे कहा-विभो! मैंने आपका विशाल शरीर देख लिया। अब इसे छोटा कर लीजिए। उदय हुए सूर्य और उठे हुए मैनाक पर्वत के समान आपके इस अप्रमेय, अधर्षणीय शरीर को मैं अब नहीं देख सकता।

त्वमेव शक्तस्तां लंकां सयोधां सहवाहनाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥
न हि ते किञ्चिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते ।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥
हनूमानुवाच—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
भीमसेन न पर्याप्तो ममाऽसौ राक्षसाधमः ॥ १८ ॥
मया तु निहते तस्मिन्रावणे लोककण्टके ।
कीर्तिर्नश्येद्राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ॥ १९ ॥
तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम् ।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाऽऽख्यापिता नृपु॥ २० ॥
तद्गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ॥ २१ ॥
एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते ।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ॥ २२ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि जब आप रामचन्द्र जी के पास उपस्थित थे तब उन्होंने स्वयं रावण को क्यों मारा ! क्योंकि आप तो अकेले ही, अपने बाहुबल से योद्धा और वाहन आदि सहित रावण की लङ्कापुरी को नष्ट कर सकते थे । हे पवन-पुत्र ! आपके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । अपनी सेना समेत रावण आपका सामना नहीं कर सकता था ॥१०।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीमसेन की बात को सुनकर हनुमान् ने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वर से कहा—हे भाई ! तुम जो कहते हो, सो सत्य है । संदेह नहीं कि वह राक्षसाधम रावण किसी तरह मेरा सामना नहीं कर सकता था; किन्तु जो मैं उस लोक-कण्टक रावण को मारता तो श्री रामचन्द्रजी की कीर्ति में दोष लग जाता; इसी से मैंने अपने हाथ से उसे नहीं मारा । रघुवीर ने स्वयं उस राक्षसाधम को, उसके भाई-बन्धुओं सहित, मार डाला और अपनी पत्नी को वे अयोध्यापुरी में ले आये । इसी से संसार में उनकी इतनी कीर्ति फैली हुई है ॥१७।२०॥

हे भीम ! मैं तुमको बहुत प्यार करता हूँ; मैं तुम्हारा सदा हितैषी हूँ । अब तुम निर्विघ्न मार्ग से

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम् ।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ॥ २३ ॥
वलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ॥ २४ ॥
मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय ।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ॥ २५ ॥
न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ २६ ॥
अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाऽऽधर्मसंज्ञितः ।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ॥ २७ ॥
आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥
वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः ।
बृहस्पत्युशनः प्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः ॥ २९ ॥
पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोऽजाविपोषणैः ।
वार्तया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥ ३० ॥

लौट जाओ। राह में तुम्हारा कुछ अनिष्ट न होगा। वायुदेव तुम्हारी रक्षा करेंगे। हे वीर! इस राह से जाने मे सौगन्धिक वन मिलता है। इधर जाने से तुमको कुबेर का बाग देखने को मिलेगा। यक्ष और राक्षस उसकी रक्षा किया करते हैं। वहा के फूल बल-पूर्वक न तोड़ना मनुष्यों के लिए देवगण सदा सर्वथा माननीय हैं। वे बलि-पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्र और भक्ति से प्रसन्न हुआ करते हैं। हे भाई! साहस के काम छोड़कर अपने धर्म का पालन करो। अपने धर्म में दृढ़ रहकर उसी को श्रेष्ठ समझो और करते रहो ॥२१।२५॥

बृहस्पति के समान चतुर व्यक्ति भी धर्म के ज्ञान और बड़े-बूढ़ों की सेवा के बिना धर्म और अर्थ के मर्म को नहीं जान सकते। जिस जगह अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म कहा जाता हो वहा विचारपूर्वक धर्म का निर्णय करना चाहिए। मूढ़ लोग ऐसी जगह पर धोखा खा जाते हैं। आचार से धर्म की उत्पत्ति हुई है। धर्म में ही सब वेद प्रतिष्ठित हैं। सब यज्ञ वेदों से ही प्रकट हुए हैं। देवताओं की स्थिति यज्ञों से ही है। वेदोक्त आचार और विधियुक्त यज्ञ देवताओं के आधार हैं। बृहस्पति और भृगु की कही नीति के आधार पर मनुष्य

त्रयी वार्ता दंडनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम् ।
ताभिः सम्यक्प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ॥ ३१ ॥
सा चेद्धर्मकृता न स्यात्त्रयधिर्मभृते भुवि ।
दंडनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ॥ ३२ ॥
वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयंति वै प्रजाः ॥ ३३ ॥
द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकवर्णिकः ।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥
याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः ।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ॥ ३५ ॥
शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते ।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्मोऽत्र कौंतेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम् ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेंद्रियः ॥ ३७ ॥
वृद्धैः संमंत्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः ।
आस्थितः शास्ति दंडेन व्यसनी परिभूयते ॥ ३८ ॥

चलते हैं । सेवा, वाणिज्य, खेती, गाय आदि पशुओं का पालन, यही सब मनुष्यों की जीविका के उपाय है । इन्हीं जीविकाओं से अपना पालन करते हुए द्विजाती के लोग धर्म का पालन करते हैं ॥२६।३०॥

ब्राह्मण की याजन-अध्यापन आदि त्रयी विद्या, क्षत्रिय की दण्डनीति और वैश्य की सौदागरी, खेती आदि ये तीन प्रकार की विद्याएँ हैं । इन्हीं को जानकर तीनों वर्णों के लोग इन्हीं के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं । धर्म के बिना त्रयी विद्या का होना असम्भव है । जो दण्डनीति न होती तो संसार नियमहीन होने से मर्यादाहीन हो जाता । वैश्यों की व्यापारनीति धर्मसंगत न होती तो प्रजा का नाश हो जाता । तात्पर्य यह है कि ये तीनों धर्म यथोचित रूप से पाले जाते हैं तो प्रजा की भलाई और अभ्युदय होता है ॥३१।३३॥

अमृतज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान ब्राह्मणों का एकमात्र धर्म है; इस पर अन्य वर्ण का अधिकार नहीं है । दान, अध्ययन और यज्ञ करना, ये धर्म तीनों वर्णों के साधारण धर्म है । यज्ञ करना, पढ़ाना और दान लेना, ये भी ब्राह्मणों के ही धर्म हैं । पालन क्षत्रियों का धर्म है।पोषण वैश्यों का धर्म है । ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा ही शूद्रों का धर्म है । गुरु अर्थात

निग्रहानुग्रहैः सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवंति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥
तस्माद्देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रवलेषु च ।
नित्यं चारेण वोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ॥ ४० ॥
राज्ञामुपायश्चारश्च वुद्धिमन्त्रपराक्रमाः ।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ॥ ४१ ॥
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ॥ ४२ ॥
मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥
स्त्रिया मूढेन वालेन लुब्धेन लघुनाऽपि वा ।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ॥ ४४ ॥
मन्त्रयेत्सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान्मूर्खान्सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

त्रिवर्ण के वीच रहने वाल शूद्रों को भिक्षा (दानलेने) मागने का, हवन करने का और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का अधिकार नहीं है । हे भीम ! रक्षा करना ही क्षत्रियों का एकमात्र धर्म है । इसलिए उसका पालन तुम्हें भी करना चाहिए । विनयपूर्ण और जितेन्द्रिय होकर तुम अपने धर्म को ग्रहण करो । मनुष्य वुद्धिमान् होता है तो वह शास्त्र के ज्ञाता, सज्जन और वृद्ध पुरुषों से सलाह लेकर, लोगों का कृपापात्र बनकर, दण्ड के द्वारा शासन करता है । जो किसी व्यसन में लिप्त होता है उसका अपमान होता है ॥३४।३८॥

राजा यदि अच्छी तरह अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखकर दण्ड देता और कृपा करता है तो लोक में धर्म की मर्यादा ठीक वनी रहती है । इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपने जासूसों के द्वारा सदा अपने देश और दुर्ग का तथा शत्रु के देश और दुर्ग का हाल जानता रहे । मित्रों के भी बल को जानता रहे । जो प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा का ध्यान रक्खे । शत्रु-मित्र की वृद्धि और क्षय पर भी दृष्टि रक्खे । जासूस, बुद्धि, सम्मति, पराक्रम, दण्ड और कृपा, ये राजाओं के उपाय हैं । और, निपुणता से ही सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं । साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा, ये नीतिया एक-एक करके या सब मिलकर राजाओं के कार्यों को सिद्ध करती हैं ॥३९।४२॥

हे भरतश्रेष्ठ ! नीति और जासूस ; इन दोनों

धार्मिकान्धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान्क्रूरेषु कर्मसु ॥ ४६ ॥
स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा ।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ॥ ४७ ॥
बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात्साधुष्वनुग्रहम् ।
निग्रहं चाऽप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥
निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥
एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥
तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।
सम्यक्प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः ॥
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यांति सलोकताम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

की जड़ सम्मति है। अच्छी तरह सम्मति करके जो कार्य करना होगा उसके बारे में ब्राह्मणों के साथ एकान्त में सम्मति करनी चाहिए। स्त्री, मूढ़, बालक, लोभी, नीच या पागल के साथ कभी किसी गुप्त विषय के सम्बन्ध में सम्मति न करनी चाहिए। विद्वान् के साथ सम्मति, चतुर के द्वारा कार्य सिद्ध कराना और हितैषी पुरुष के साथ नीति की चर्चा करना श्रेष्ठ होता है। मूर्खों से सब जगह सदा बचता रहे। धार्मिकों को धर्म-कार्य में, पण्डितों को धन के कार्य में, हिजड़ों को रनिवास में और क्रूरों को क्रूर कर्मों में नियुक्त करना चाहिए। सदा अपने और पराये लोगों से मिलकर कार्य-अकार्य के बारे में निश्चय करना उचित है। शत्रुओं के बलाबल को भी सदा जानते रहना योग्य है ॥४३।४७॥

विचारपूर्वक शरणागत सज्जन पर कृपा करना और मर्यादाहीन उद्दण्ड व्यक्ति को दण्ड देना चाहिए। इस प्रकार राजा यदि अच्छी तरह सोच-विचा कर दण्ड देने और कृपा करने में प्रवृत्त होता है तो संसार की मर्यादा बनी रहती है। हे भीम! मैंने यह तुमसे कठिन राजधर्म कह दिया। अब

तुम विनयधारणपूर्वक अपनी जाति के धर्म का पालन करो। ब्राह्मण लोग जैसे तप, धर्म, दम और यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को जाते हैं और वैश्य जैसे दान, अतिथिसेवा आदि धर्मों का पालन करके सद्गति को प्राप्त होते हैं वैसे ही क्षत्रिय लोग भी काम, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि को छोड़कर यथार्थ रूप से दण्ड का प्रयोग करके, निग्रह और प्रजापालन करते हुए, स्वर्ग और साधु पुरुषों के लोकों को प्राप्त होते हैं ॥४८।५२॥

—०—

वनपर्व का एक सौ पचास अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५० ॥

अथ एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः संहृत्य विपुलं तद्वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥
परिष्वक्तस्य तस्याऽऽशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत्सर्वं चाऽऽसीत्प्रदक्षिणम् ॥ २ ॥
बलं चाऽतिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ॥ ३ ॥
भीममाभाष्य सौहार्दाद्बाष्पगद्गदया गिरा ।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥ ४ ॥
इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।
धनदस्याऽऽलयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ॥ ५ ॥
देशकाल इहाऽऽयातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममाऽपि सफलं चक्षुः स्मारितश्चाऽस्मि राघवम् ॥ ६ ॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।

एक सौ इक्यावन अध्याय ॥१५१॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! तब हनुमान् ने अपनी इच्छा से बढ़ाये हुए शरीर को छोटा कर लिया और दोनों हाथ फैलाकर भीमसेन को गले से लगा लिया। भीमसेन की सारी थकन दूर हो गई। सब बातें इच्छा के अनुकूल हो गईं। तब उन्होंने अपने को महाबली और अद्वितीय प्रतापी समझा। हनुमान्‌जी स्नेहवश आनन्द के आँसू बहाते हुए गद्गद स्वर से बोले—हे भाई भीमसेन! तुम अब अपने निवासस्थान को जाओ। जब कभी यह मेरी चर्चा चले तब मुझे स्मरण करना, और मेरे यहाँ रहने का समाचार किसी के आगे मत कहना। गन्धर्वों की स्त्रियाँ कुबेर के भवन से यहाँ

सीतावक्त्रारविंदार्कं दशास्यध्वान्त भास्करम् ॥ ७ ॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयाऽमोघमस्तु ते ॥ ८ ॥
भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा निहंतव्या यावदेतत्करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वाऽपि मर्दितव्यं मया यदि ॥ १० ॥
बध्वा दुर्योधनं चाऽद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत्करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच—भीमसेनस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमंतं प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ १२ ॥
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुंगव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥ १३ ॥
सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान्विजेष्यामो वयं परान् ॥ १४ ॥
एवमुक्तस्तु हनुमान्भीमसेनमभाषत ।

पर आया करती हैं। उनके आने का समय हो गया है। इसलिए तुम शीघ्र यहां से चल दो। हे वीर! तुमको देखकर मैं अपने नेत्रों को सफल समझता हूँ। तुम्हारे मनुष्य-शरीर का स्पर्श करने से मुझे उन्हीं सीता के मुख-कमल के भ्रमर, रावण-रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले रघुकुल-सूर्य, लोक-हृदयानन्दन रामरूपी विष्णु का स्मरण हो आया है। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी यह मुझसे भेंट निष्फल न हो। तुम भाई के स्नेह का विचार करके मुझसे वरदान मांगो। यदि अभी हस्तिनापुर में जाकर दुष्ट धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने और शिला-वृष्टि से सारे नगर को चूर्ण करने के लिए तुम कहो तो मैं वह भी करने को तैयार हूँ। कहो तो दुर्योधन को बांधकर अभी तुम्हारे पास ले आऊँ ॥१।११॥

हनुमान् के यह वचन सुनकर भीमसेन बहुत प्रसन्न हुए। अब उन्होंने कहा—हे वानरश्रेष्ठ! आप मेरा सब कार्य कर चुके। आपका मङ्गल हो। मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ पर प्रसन्न हों। हे महाबाहो! आज पाण्डव लोग आपकी सहायता पाकर सनाथ हुए। इसमें सन्देह नहीं कि हम आपके तेज के प्रभाव से ही अपने सब शत्रुओं को जीत लेंगे ॥१२।१४॥

भ्रातृत्वात्सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥ १५ ॥
चमूं विगाह्य शत्रूणां परशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥ १६ ॥
तदाऽहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान् ॥ १७ ॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनूमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ॥ १८ ॥
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनूमद्भीमसंवादे एकपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

भीम के ये वचन सुनकर हनुमान् ने कहा-हे वीर ! मैं भ्रातृस्नेह और सौहार्द के कारण तुम्हारा यह प्रिय करूँगा कि तुम शत्रुओं की सेना में घुसकर जब सिंहनाद करोगे तब मैं अपने शब्द से तुम्हारे उस शब्द को बढ़ा दूँगा। और, अर्जुन की ध्वजा के ऊपर रहकर युद्ध-भूमि में मैं ऐसा भयङ्कर शब्द करूँगा कि उसी शब्द से शत्रुओं के — निकल जायँगे। फिर तुम लोग सहज ही उन्हें मार लोगे। इस प्रकार भीमसेन से बातचीत करके और रात्रि व्यतीत कर वानरराज हनुमान् वहीं पर अन्तर्द्धान हो गये ॥१५।१९॥

—०—

वनपर्व का एक सौ इक्यावन अध्याय समाप्त हुआ ॥१५१॥

अथ द्विपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५२॥

वैशम्पायन उवाच—गते तस्मिन्हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः ।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद्गन्धमादनम् ॥ १ ॥
अनुस्मरन्वपुस्तस्य श्रियं चाऽप्रतिमां भुवि ।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन्दाशरथेर्ययौ ॥ २ ॥

एक सौ बावन अध्याय ॥ १५२ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! महावीर हनुमान् के चले जाने पर भीमसेन, उनकी बताई राह से गन्धमादन पर्वत पर आगे बढ़े। हनुमान् के विशाल शरीर, निरूपम शोभा और रामचन्द्र के माहात्म्य-बल-विक्रम आदि को वे राह में स्मरण करते जाते थे। इस प्रकार सौगन्धिक वन की खोज

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ॥ ३ ॥
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा ।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ॥ ४ ॥
मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत ।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ॥ ५ ॥
हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम् ।
सशष्पकवलैः श्रीमान्पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ॥ ६ ॥
महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम् ।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद्भीमसेनो व्यगाहत ॥ ७ ॥
कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः ।
याच्यमान इवाऽऽरण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ॥ ८ ॥
कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः ।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥
मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥ १० ॥

करते-करते भीमसेन ने देखा कि एक स्थान पर रमणीय वन और उपवन अनेक प्रकार के विचित्र फूलों से शोभित हो रहे हैं। वहां किसी जगह पर फूले हुए वृक्षों से शोभित सरोवर मन को हर रहे हैं। किसी स्थान पर वैसी ही शोभायमान नद और नदियां बह रही हैं। कहीं पर कीचड़ से सने हुए मस्त हाथी मेघमाला के समान इधर-उधर विचर रहे हैं। किसी जगह चञ्चल दृष्टिवाले मृग घास के कौर मुँह में दबाये हुए मृगियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। कहीं पर वराह, भैंसे, सिंह आदि के झुण्ड विचर रहे हैं। यह सब देखते हुए भीमसेन अपनी वीरता और विक्रम के भरोसे बेखटके पर्वत के भीतरी भाग में घुसे ॥१।७॥

वहां अनेक प्रकार के प्रफुल्लित सुगन्धपूर्ण वृक्ष वायु से हिलकर, अपने लाल-लाल नव पल्लवों को हाथ की तरह फैलाकर मानों भीमसेन को अपनी ओर बुला रहे थे, उन्होंने देखा, राह में मस्त भौंरे जिन पर मँडरा रहे हैं वे कमल के वृक्ष मुकुलित पद्मपुष्परूप हाथ जोड़े खड़े हैं। द्रौपदी की प्रेरणा से जाते हुए भीमसेन फूले हुए वृक्षों से शोभित शिखरों पर के वृक्षों को देखते और प्रसन्न होते हुए शीघ्र से आगे बढ़ने लगे ॥८।१०॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने ।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥ ११ ॥
हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
रचितामिव तस्याऽद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ॥ १२ ॥
तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत् ।
अपश्यत्प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ॥ १३ ॥
तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः ।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगंधिकाहरणे द्विपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

दूसरे दिन प्रात काल महाबली भीमसेन उस मृगों से पूर्ण वन में विचरते-विचरते ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहा एक बड़ी भारी नदी देख पड़ी। उस में सुनहरे कमल के वृक्ष लगे हुए थे। हंस, कारण्डव, चकवाक आदि विविध जलचर पक्षी उस नदी में थे। वह नदी पर्वतके गले में पड़ी हुई कमलों की माला के समान जान पड़ती थी। भीमसेन ने खोजते-खोजते उसी के जल में प्रातःकाल के सूर्य के समान प्रभावाला प्रीतिप्रद सौगन्धिक वन देखा। देखते ही मनोरथ सिद्ध होने से मन ही मन उन्होंने वनवास के क्लेशों को सहती हुई अपनी प्यारी द्रौपदी का स्मरण किया ॥ ११-१४॥

वनपर्व का एक सौ बावन अध्याय समाप्त हुआ ॥१५२॥

अथ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

वैशम्पायन उवाच—स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ॥ १ ॥
कुबेरभुवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरैः ।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥ २ ॥
हरिताम्बुजसञ्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम् ।

एक सौ तिरपन अध्याय ॥ १५३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्द्र ! इस प्रकार जाते-जाते भीमसेन कमलिनी के सरोवर के पास जा पहुँचे। कैलासशिखर पर, कमलिनी के भवन के पास, पहाड़ी झरनों से यह सरोवर बना हुआ है। उसकी रक्षा राक्षस ही किया करते हैं। उसमें हरे और सुनहरे कमल छाये हुए हैं। घनी छाया-

नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ३ ॥
अतीव रम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु ।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ४ ॥
तत्राऽमृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम् ।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥ ५ ॥
तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम् ।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ६ ॥
वैडूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः ।
हंसकारण्डवोद्भूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥ ७ ॥
आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ८ ॥
सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ९ ॥
तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत्सरः ॥ १० ॥
तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात् ।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ ११ ॥

वाली लताएँ और अनेक प्रकार के पक्षी उस स्थान की शोभा को बढ़ा रहे हैं। उसके किनारे के स्थान बड़े ही मनोरम हैं। उसमें कीचड़ का नाम तक भी नहीं है। वह सरोवर पर्वतशिखर पर है। उसमें निर्मल जल भरा हुआ है। वह अद्भुत और सुहावना प्रतीत होता है। उसका जल शीतल, हलका और अमृत के समान स्वादिष्ट है। भीमसेन ने वहाँ पहुँचकर उसका निर्मल जल पिया ॥१।५॥

फिर देखा कि वैडूर्य की डंडी और सुवर्ण के पत्तेवाले बहुत से विचित्र मनोहर सुगन्धित कमल उसमें खिल रहे हैं। हंस, कारण्डव आदि पक्षियों के इधर-उधर विचरने से कमलों का विमल सुगन्धित पराग बराबर उड़ा करता है। महात्मा कुबेर उसमें जलविहार किया करते हैं। देवता, गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, यक्ष, किन्नर, किम्पुरुष, राक्षस आदि वहाँ रहते हैं। उस सरोवर और सौगन्धिक वन को देखते ही भीमसेन बहुत प्रसन्न हुए ॥६।१०॥

महाराज कुबेर की आज्ञा से हजारों क्रोधवश

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम् ।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १२ ॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिन्दमम् ।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १३ ॥
अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः ।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत्सम्प्रष्टुमिहाऽर्हथ ॥ १४ ॥
ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम् ।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १५ ॥
मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे ।
यदर्थमभिसंप्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

नाम के राक्षस विचित्र शस्त्र लिये, विचित्र वस्त्र पहने उस स्थान की रक्षा किया करते हैं। वे सुवर्ण के गहने और मृगचर्म पहने, शस्त्र धारण किये, खड्ग लिये, कमलों के फूल लेने को बेखटके चले आ रहे भीमसेन को देखकर परस्पर कहने लगे—ये मृगचर्मधारी सशस्त्र पुरुषसिंह क्या करने के लिए यहां आये हैं, इनसे अवश्य पूछना चाहिए। अब उस सरोवर के रक्षक लोग भीमसेन के पास आकर पूछने लगे—हे तेजस्वी पुरुष! तुम कौन हो? तुम्हारा वेष मुनियों का सा होने पर भी तुम क्षत्रियों की तरह शस्त्र बांधे हुए देख पड़ते हो। बतलाओ, तुम किसलिए यहां आये हो ॥११।१६॥

वनपर्व का एक सौ तिरपन अध्याय समाप्त हुआ ॥१५३॥

अथ चतुष्पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५४॥

भीम उवाच—पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥
अपश्यत्तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥

एक सौ चौवन अध्याय ॥१५४॥

भीमसेन ने कहा—हे राक्षसो! मैं महात्मा पाण्डु का पुत्र और युधिष्ठिर का छोटा भाई हूँ। मेरा नाम भीमसेन है। मैं भाइयों के साथ यहाँ विशाल बदरिकाश्रम में आया हूँ। एक समय हमारी

तस्या मामनवद्यांग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम् ।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥
राक्षसा ऊचु —आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ॥ ४ ॥
देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चाऽत्र वृकोदर ।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥
अन्यायेनेह यः कश्चिदवमन्य धनेश्वरम् ।
विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ॥ ६ ॥
तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादृतः ।
धर्मराजस्य चाऽऽत्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥
आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च ।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित्पुष्करमीक्षितुम् ॥ ८ ॥
भीमसेन उवाच—राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहाऽन्तिके ।
दृष्ट्वाऽपि च महाराजं नाऽहं याचितुमुत्सहे ॥ ९ ॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाऽहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथञ्चन ॥ १० ॥

धर्मपत्नी द्रौपदी ने वहाँ पर एक बहुत ही उत्तम सुगन्धित कमल का फूल देखा। ऐसा जान पड़ता है कि वह यहीं से वायु में उड़कर वहाँ गया होगा। द्रौपदी ने उस तरह के बहुत से फूलों की इच्छा प्रकट की। उन्हीं के लिए फूल लेने को मैं यहाँ आया हूँ ॥१।३॥

राक्षसों ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह स्थान यक्षराज कुबेर की प्यारी क्रीड़ाभूमि है। मरणशील मनुष्य इस स्थान पर नहीं आ सकते। हे भीम ! देवता, देवर्षि, यक्ष, अप्सराएँ और गन्धर्व यक्षराज कुबेर से पूछकर इस सरोवर का जल पीते और यहाँ विचरते हैं। जो कोई ढिठाई के मारे यक्षराज का अनादर करके यहाँ आना चाहता है वह अन्यायी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। तुम यक्षराज का अनादर करके बलपूर्वक कमल के फूल ले जाना चाहते हो ; फिर भी अपने को धर्मराज युधिष्ठिर का भाई बता रहे हो ! पहले कुबेरजी से पूछ आओ ; फिर यहाँ जल पियो और फूल ले जाओ। कमलों के फूल ले जाना तो दूर रहा, तुम इधर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते ॥४।८॥

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरैः ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥
तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा राक्षसान्सर्वान्भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥ १३ ॥
ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मामैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १४ ॥
कदर्थीकृत्य तु स तान्राक्षसान्भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १५ ॥
गृह्णीत बध्नीत विकर्ततेमं पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥ १६ ॥
ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत्तरस्वी ततोऽब्रवीत्तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १७ ॥
ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यैर्व्याविद्ध शस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा भीमं समन्तात्परिवव्रुरुग्राः ॥ १८ ॥

भीमसेन ने कहा—हे राक्षसो ! इस समय धनपति कुबेर मुझे यहां देख नहीं पड़ते। जो वे देख भी पड़ें तो मैं उनके आगे माँगने की दीनता नहीं प्रकट कर सकता। क्योंकि सदा से प्रचलित सनातन धर्म के अनुसार राजा लोग कभी किसी के आगे हाथ नहीं पसारते। मैं किसी तरह अपनी क्षत्रिय जाति के धर्म को नहीं छोड़ सकता। यह सरोवर भी पहाड़ी झरने से उत्पन्न हुआ है—कुबेर के भवन में नहीं है। इस कारण इस पर कुबेर का जैसा अधिकार है वैसा ही अधिकार सब प्राणियों का है। ऐसी दशा में कौन किससे माँगे ? ॥९।१२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! महाबली भीमसेन, राक्षसों से यों कहकर, उस सरोवर के भीतर घुस पड़े। तब वे रक्षक राक्षस चारों ओर से मना करते चिल्लाते हुए उनकी ओर दौड़ पड़े। भीमसेन ने जब उनके चिल्लाने और मना करने पर भी ध्यान नहीं दिया तब वे राक्षस लोग कुपित होकर "पकड़ो, मारो, काटो, पकाओ, खा डालो" कहते, शस्त्र उठाये, लाल-लाल नेत्र निकाले भीमसेन पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हुए ॥१३।१६॥

तब सुवर्ण-मण्डित, यमदण्ड सी भारी गदा उठाकर ठहरो ! ठहरो ! कहते हुए भीमसेन ने भी

वातेन कुन्त्यां बलवान्सुजातः शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः स चैव पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १९ ॥
तेषां स मार्गान्विविधान्महात्मा विहन्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथा प्रवीरान्निजघान भीमः परं शतं पुष्करिणीसमीपे ॥ २० ॥
ते तस्य वीर्यं च बलं दृष्ट्वा विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद् हतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥ २१ ॥
विदीर्यमाणास्तत एव हन्तुमाकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ॥ २२ ॥
स शक्रवद्दानवदैत्यसङ्घान्विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि २३ ॥
ततः स पीत्वाऽमृतकल्पमम्भो भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ॥ २४ ॥
ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये यथावदाचख्युरतीव भीताः ॥ २५ ॥
तेषां वचस्तत्तु निशम्य देवः प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ॥ २६ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः ।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

बड़े वेग से शत्रु-दल पर आक्रमण किया। क्रोध के मारे किटकिटाये हुए वे राक्षस लोग भीमसेन को मारने के लिए चारों ओर से घेरकर उन पर तोमर, पट्टिश, त्रिशूल आदि अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे। भीमसेन कुन्ती के गर्भ से वायु के अंश से उत्पन्न, शूर, तपस्वी, बली, शत्रुनाशन, सत्यवादी और धर्मात्मा थे। इसी कारण शत्रु उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। वे रणभूमि में शत्रुओं का नाश करते हुए इधर-उधर विचरने लगे। रखवालों के अस्त्र-शस्त्रों को सहज ही नष्ट करते हुए भीमसेन ने बात की बात में सैकड़ों राक्षसों को यमपुरी भेज दिया ॥१७।२०॥

उन राक्षसों ने महाबली भीमसेन का बाहुबल विद्या और वीरता देखकर एकाएक युद्ध रोक दिया।

वे भीमसेन के भीम वेग को नहीं सह सके। भीमसेन के प्रचण्ड प्रहार से पीड़ित और परास्त होकर वे राक्षस आकाशमार्ग से भागकर कैलाश पर्वत के शिखर पर पहुँचे। इन्द्र जैसे पराक्रमपूर्वक दानवों का संहार करें वैसे ही शत्रुओं का संहार करके भीमसेन ने सरोवर के भीतर जाकर मनमाने कमल के फूल तोड़े और उसका अमृत तुल्य जल पिया। फिर हरे होकर भीमसेन सौगन्धिक वन के कमलों को फिर भी तोड़ने लगे ॥२१।२४॥

उधर भीमसेन के मारे-पीटे, खिसियाये हुए राक्षस डरकर कुबेर के पास पहुँचे। उन्होंने कुबेर से सब हाल कहा और भीमसेन के बल का वर्णन किया। उनके वचन सुनकर यक्षराज हँसे। उन्होंने कहा—हे राक्षसो! वहां कमल लेने के लिए भीमसेन के आने की बात मुझे पहले से ही मालूम है। वे द्रौपदी को प्रसन्न करने के लिए यह कार्य करने आये हैं। इसलिए उन्हें इच्छानुसार कमल के फूल चुन लेने दो। तब कुबेर की अनुमति पाकर वे राक्षस शान्त भाव से भीमसेन के पास लौट आये। वहां आकर उन्होंने देखा कि भीमसेन उसी सरोवर में क्रीड़ा कर रहे हैं ॥२५।२७॥

—०—

वनपर्व का एक सौ चौवन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५४ ॥

अथ पंचपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥ १ ॥
ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीत्खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ॥ २ ॥
पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाऽभवत्सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥ ३ ॥
निर्घातश्चाऽभवद्भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ॥ ४ ॥
सलोहिता दिशश्चाऽऽसन्खरवाचो मृगद्विजाः ।

एक सौ पचपन अध्याय ॥१५५॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! भीमसेन ने मूल्यवान्, बहुरूप, विचित्र कमल के फूल तोड़कर एकत्र किये। इधर बदरिकाश्रम में, जहां युधिष्ठिर थे, संग्राम-सूचक कठिन स्पर्श-वाला पवन, धूल बरसाता हुआ, वेग से चलने लगा। उल्कापात और बिजली की कड़क से चारों ओर सब लोग भय से व्याकुल हो उठे। सूर्य फीके पड़कर अँधेरे में छिप गये। भूकम्प और धूल की वर्षा

तमोवृतमभूत्सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥
अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षांचक्रे समन्ततः ॥ ८ ॥
अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिन्दमः ॥ ९ ॥
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित्क भीमः पाञ्चालि किंचित्कृत्यं चिकीर्षति ॥ १० ॥
कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ॥ ११ ॥
दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ।
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥ १२ ॥
द्रौपद्युवाच— यत्तत्सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।

होने लगी। दिशाओं में लाली छा गई। मृग और पक्षी कर्कश शब्द करते हुए दिखाई पड़ने लगे। सब ओर अँधेरा ही अँधेरा छा गया। कुछ भी सूझ या समझ नहीं पड़ता था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक भयानक उत्पात दिखाई पड़ने लगे ॥१।६॥

इन अद्भुत घटनाओं को देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव से कहा—भाइयो! जान पड़ता है कि कोई हमें परास्त करने का या हम पर आक्रमण करने का विचार कर रहा है। इसलिए तुम भी तैयार हो जाओ। तुम्हारा भला हो। मुझे ऐसा देख पड़ता है कि हमारे पराक्रम प्रकट करने का यह ठीक समय आ पहुँचा है। अब युधिष्ठिर ने इधर-उधर देखा, और जब कहीं भीमसेन को न देख पाया तब द्रौपदी से कहा—हे पाञ्चाली! भीमसेन कहाँ है? वे क्या कोई कार्य करने गये हैं? जान पड़ता है, साहस-प्रिय भीम ने ही कोई साहस का कार्य किया है। इसी से यह महायुद्ध की सूचना देनेवाली भयानक उत्पातपरम्परा अकस्मात् चारों ओर दिखाई देने लगा है ॥७।१२॥

तब द्रौपदी ने राजा को अपनी मन्द मुसकान

तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाऽद्योपपादितम् ॥ १३ ॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥ १४ ॥
स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ॥ १५ ॥
उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाऽब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥ १६ ॥
वहन्तु राक्षसा विप्रान्यथाश्रान्तान्यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ॥ १७ ॥
व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ॥ १८ ॥
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ।
उत्पतेदपि चाऽऽकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ॥ १९ ॥
तमन्वियाम भवतां प्रभावाद्रजनीचराः ।
पुरा स नाऽपराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ॥ २० ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।

से प्रसन्न करके कहा—राजन्! वह जो विचित्र सुगन्धवाला सुवर्णकमल वायु से उड़कर यहाँ आ गया था उसे मैंने भीमसेन को दिखाकर कहा था कि जो तुम इस तरह के बहुत से फूल यहां कहीं पर पा जाओ तो वे सब मेरे लिए तोड़ लाओ। जान पड़ता है कि वे मेरा प्रिय करने के लिए उसी कार्य से पूर्व-उत्तर कोने को गये हैं ॥१३।१५॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव से कहा—चलो, भीमसेन जिस ओर गये हैं उसी ओर हम भी चलें। राक्षस लोग इन थके हुए और दुर्बल ब्राह्मणों को लादकर ले चलें। हे देवसदृश पुत्र घटोत्कच! तुम द्रौपदी को ले चलो। भीमसेन वायु के समान फुर्तीले और पृथ्वी को लांघने में गरुड़ के समान वेगशाली हैं। ये सहज ही आकाश में जा सकते हैं, यथेष्ट भ्रमण कर सकते हैं। उन्हें जब इतनी देर हुई तब स्पष्ट ही जान पड़ता है कि वे किसी दूसरी ओर बहुत दूर चले गये हैं। हे निशाचरो! वे ब्रह्मवादी सिद्धों का कोई अपराध न करने पावें; उससे पहले ही हम लोग तुम्हारे प्रभाव से उनके पास पहुंच जायँ ॥१६।२०॥

घटोत्कच आदि निशाचर उस कुबेर के सरोवर के समीप के स्थान को जानते ही थे। इसी लिए

उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ॥ २१ ॥
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ॥ २२ ॥
ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ॥ २३ ॥
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ॥ २४ ॥
भिन्नकायाक्षिबाहूरून्संचूर्णितशिरोधरान् ।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ॥ २५ ॥
सक्रोधं स्तब्धनयनं सन्दष्टदशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरे व्यवस्थितम् ॥ २६ ॥
प्रजासंक्षेपसमये दंडहस्तमिवाऽन्तकम् ।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २७ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।
साहसं वत भद्रं ते देवानामथ चाऽप्रियम् ॥ २८ ॥
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ॥ २९ ॥
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ।

प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवों और सब ब्राह्मणों को लादकर लोमशजी के साथ शीघ्रता से उसी सौगन्धिक कमलों से शोभित, सुन्दर वनोंवाले उस परम रमणीय कुबेर के सरोवर के पास पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन सबने देखा कि महात्मा भीमसेन, प्रलयकाल के समय दण्ड हाथ में लिये खड़े यमराज के समान, क्रोध से होंठ चबाते, भीषण गदा लिये सरोवर के किनारे खड़े हुए हैं। सैकड़ों यक्ष और राक्षस मरे हुए पड़े हैं। किसी का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया है, किसी का हाथ टूट गया है, किसी के नेत्र निकल पड़े हैं, किसी की जाँघ टूट गई है, किसी की गर्दन दो टुकड़े हो गई है। यह देखते ही धर्मराज ने शीघ्रता से जाकर भीमसेन को गले से लगा लिया। फिर मधुर स्वर से कहा—हे भाई! यह तुमने क्या किया! खैर जो हुआ सो हुआ, अब फिर ऐसा साहस और देवताओं का अप्रिय कर्म

एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ॥ ३० ॥
प्रादुरासन्महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चाऽपि लोमशम् ॥ ३१ ॥
नकुलं सहदेवं च तथाऽन्यान्ब्राह्मणर्षभान् ।
विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत ॥ ३२ ॥
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ ३३ ॥
ऊषुर्नाऽतिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे पंचपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

न करना; नहीं तो मैं तुमसे बहुत अप्रसन्न होऊँगा। भीमसेन को यों उपदेश करके देवतुल्य पाण्डव उस सरोवर के वे फूल लेकर वहीं जलविहार करने लगे ॥२१।३०॥

इसी बीच में वहां के रक्षक, शस्त्र हाथ में लिये, कुबेर के पास से लौटकर वहां आये। वहां धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल, सहदेव, और अन्यान्य ब्राह्मणों को देखकर नम्रता के साथ उन्होंने प्रणाम किया। धर्मराज ने सान्त्वना देकर उनको प्रसन्न कर दिया। फिर वे पाण्डव, कुबेर जी की आज्ञा लेकर, अर्जुन के आने की राह देखते हुए कुछ दिन तक उसी गन्धमादन के शिखर पर ठहर गये ॥३१।३४॥

—०—

वनपर्व का एक सौ पचपन अध्याय समाप्त हुआ ॥१५५॥

अथ षट्पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५६॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृष्णया सहितान्भ्रातॄनित्युवाच सह द्विजान् ॥ १ ॥
दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च।
मनसोऽह्लादनीयानि वनानि च पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

एक सौ छप्पन अध्याय ॥ १५६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! एक दिन युधिष्ठिर ने द्रौपदी से, ब्राह्मणों से और भाइयों से कहा—देवता और ऋषि जहाँ की यात्रा कर चुके हैं उन रमणीय वनों और पवित्र मङ्गलमय

देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः ।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः संपूजितानि च ॥ ३ ॥
ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्मविचेष्टितम् ।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः ॥ ४ ॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च ।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः ॥ ५ ॥
अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः ।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ६ ॥
पर्वतेषु च रम्येषु च सर्वेषु च सरस्सु च ।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः ॥ ७ ॥
इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा ।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः ॥ ८ ॥
गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः ।
हिमवान्पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः ॥ ९ ॥
विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः ।
दिव्यपुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता ॥ १० ॥
यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च ।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना ॥ ११ ॥

तीर्थों को हम देख चुके; ऋषियों और राजर्षियों के अनेक मनोहर उपाख्यान भी हम सुन चुके। उन तीर्थों और आश्रमों में जाकर ब्राह्मणों के साथ हमने स्नान भी किया, जल-पुष्प आदि सामग्री से देवताओं की पूजा भी की, फल-मूल आदि से पितरों का तर्पण-श्राद्ध और अतिथियों का यथाशक्ति सत्कार भी किया। हमने महात्मा ब्राह्मणों के साथ रमणीय पर्वत, सरोवर, समुद्र, इला, सरस्वती, सिन्धु, यमुना, नर्मदा आदि पवित्र तीर्थों में स्नान दान आदि पुण्यकर्म भी किये हैं। हरिद्वार को लाँघकर अनेक प्रकार के रमणीय पर्वत, विविध पक्षियों से पूर्ण हिमालय, नर-नारायण का आश्रम विशाल बदरीवन और सिद्ध-देवर्षि-पूजित सब दिव्य सरोवर भी हम देख चुके ॥१।१०॥

हे ब्राह्मणो! इस प्रकार महात्मा लोमश ने हमको क्रमपूर्वक सब पुण्यस्थानों के दर्शन करा दिये

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाऽशरीरिणी ।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात् ॥ १३ ॥
अनेनैव पथा राजन्प्रतिगच्छ यथागतम् ।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम् ॥ १४ ॥
तस्माद्यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः ॥ १५ ॥
अतिक्रम्य च तं पार्थ त्वार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः ।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च ॥ १६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः ।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद्वाचं सर्वे विसिस्मियुः ।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ॥ १८ ॥
श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत्तदा ।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥ १९ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद्वचः ।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ॥ २० ॥

हैं। अब हम इस सिद्धसेवित पवित्र कुबेर के भवन को किस तरह जाकर देखें, इसका कोई उपाय सोचिए। धर्मराज यों कह ही रहे थे कि एकाएक यह आकाशवाणी सुन पड़ी—"राजन्! जिस राह से कुबेर के भवन को जाना होता है वह बहुत ही दुर्गम है। उधर तुम न जा सकोगे। इस लिए जिस राह से आये हो उसी राह से बदरिकाश्रम को लौट जाओ। हे महाराज युधिष्ठिर! वहाँ से सिद्ध-चारण सेवित फूलों और फलों से पूर्ण रमणीय वृषपर्वा के आश्रम को जाना। वहाँ से आर्ष्टिषेण के आश्रम मे जाकर रहना" ॥११।१६॥

इसी अवसर में मन को प्रसन्न करने वाली सुगन्धित वायु के चलने से फूलों की वर्षा हुई। ऋषि, विप्र और राजा युधिष्ठिर उस आकाशवाणी को सुनकर बहुत हैरान हुए। धौम्य ने कहा—हे युधिष्ठिर! अब हम उत्तर दिशा में यहा से आगे

भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
पांचाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसंत सुखं तदा ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नारायणाश्रमागमने षट्पचाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५६ ॥

नहीं जा सकते, आओ लौट चलें। धौम्य का कहा मानकर भीमसेन आदि भाइयों और लोमश आदि ब्राह्मणों के साथ द्रौपदी को लेकर महाराज युधिष्ठिर लौट पड़े और बदरिकाश्रम में आकर सुखपूर्वक रहन लगे ॥१७।२१

—०—

वनपर्व का एक सौ छप्पन अध्याय समाप्त हुआ ॥१५६॥

अथ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तान्परिविश्वस्तान्वसतस्तत्र पाण्डवान् ।
पर्वतेंद्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकांक्षया ॥ १ ॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च ।
रहितान्भीमसेनेन कदाचित्तान्यदृच्छया ॥ २ ॥
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः ।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥ ३ ॥
इति ब्रुवन्पाण्डवेयान्पर्युपास्ते स्म नित्यदा ।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥ ४ ॥
अंतरं संपरिप्रेप्सुर्द्रौपद्यां हरणं प्रति ।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥ ५ ॥

एक सौ सत्तावन अध्याय ॥ १५७ ॥

वैशम्पायन के कहा—हे राजा जनमेजय! फिर भीमसेन के पुत्र घटोत्कच और अन्यान्य राक्षस युधिष्ठिर से विदा होकर वहा से चल दिये। पाण्डव लोग अर्जुन के आने की राह देखते हुए उन ब्राह्मणों के साथ बेखटके बदरिकाश्रम के पास पर्वतराज पर रहने लगे। एक समय, जब भीमसेन नहीं थ, एक राक्षस आया और पाण्डवों-सहित द्रौपदी को उठाकर वहा से ले जाने के लिए उद्यत हुआ। अपने को अच्छा सलाहकार और अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण बताकर वह जटासुर वहां, पाण्डवों के पास, पहले से ही रहता था और पाण्डवों के तरकस, धनुष तथा द्रौपदी को हर ले जाने की घात में था। उस दुष्ट पापी राक्षस को युधिष्ठिर ने अपने पास रक्खा और उसका पालन किया था। वे नहीं जानते

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः ।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवाऽनलम् ॥ ६ ॥
स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिंदम ।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥ ७ ॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान् ।
स्नातुं विनिर्गतान्दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान् ॥ ८ ॥
रूपमन्यत्समास्थाय विकृतं भैरवं महत् ।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥ ९ ॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन्गृहीत्वा च पाण्डवान् ।
सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ॥ १० ॥
विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः।
आक्रन्दद्भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ११ ॥
तमब्रवीद्धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥ १२ ॥
येऽन्ये केचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मं ते समवेक्षंते रक्षांसि च विशेषतः ॥ १३ ॥
धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।

थे कि यह राख में छिपी हुई आग है। जब भीमसेन शिकार करने चले गये और घटोत्कच अपने अनुचरों-सहित दूर निकल गया तथा लोमश आदि तपस्वी महर्षि भी स्नान करने और फूल समिधा आदि लेने के लिए आश्रम से दूर चले गये तब, अवसर पाकर उस कपटवेषधारी राक्षस ने अपना अत्यन्त भयानक असली रूप धारण कर लिया। फिर वह सब शस्त्रों, तीनों पाण्डवों और द्रौपदी को लेकर वहा से चल दिया। सहदेव ने यत्न करके अपने को उस दुष्ट के हाथ से छुड़ा लिया और अपना कौशिक नाम का खड्ग भी उससे छीन लिया। फिर वे उस खड्ग को घुमाते हुए उस राह पर चले जिधर भीमसेन गये थे। सहदेव बारम्बार भीमसेन को पुकारने लगे ॥१।११॥

युधिष्ठिर को राक्षस हरे लिये जा रहा था। युधिष्ठिर ने उससे कहा—अरे मूढ़! तेरा धर्म नष्ट हो रहा है, तू उसे नहीं देखता। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि, विशेषकर राक्षस, सभी धर्म की रक्षा करते हैं। धर्म का मूल राक्षस है, वे उत्तम रीति से धर्म को

एतत्परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ॥ १४ ॥
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चाऽपि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ १५ ॥
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ॥ १६ ॥
समृद्धया यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमं च लोक शोचंतमनुशोचंति देवताः ॥ १७ ॥
पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥ १८ ॥
राष्ट्रस्याऽरक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजाऽवमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ॥ १९ ॥
अणुरप्यपचारश्च नाऽस्त्यस्माकं नराशन ।
विघसाशान्यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ॥ २० ॥
गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रमाणप्रवणाः सदा ।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

जानते हैं। यह सब विचारकर धर्म का पालन करते हुए तुझको हमारे पास रहना चाहिए। हे राक्षस! देवता, पितर, ऋषि, गन्धर्व, नाग, राक्षस पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि अन्यान्य प्राणी मनुष्यों के आश्रम से अपनी जीविका चलाते हैं ॥१२।१६॥

वैसे ही हमारे पास रहने से तेरी भी जीविका चलती थी। मनुष्यों की समृद्धि में ही तुम लोगों की वृद्धि होती है। मनुष्य ही हव्य-कव्य आदि के द्वारा देवताओं की पूजा करते हैं और उसी से देवताओं की वृद्धि होती है। मनुष्य जब शोकाकुल होते हैं तब देवताओं को भी शोक होता है। हे राक्षस! हम लोग राष्ट्र (देश) का पालन और रक्षा करते हैं। जिस राष्ट्र की रक्षा नहीं होती वहां सुख-सम्पत्ति कहां? बिना किसी अपराध के राजा का अपमान करना कदापि राक्षसों का कर्त्तव्य नहीं है। हे मनुष्याहारी राक्षस! हमने कभी किसी का अपकार नहीं किया। हम तो यथाशक्ति देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करके उनके भोजन करने पर जो शेष रह जाता है वही अन्न खाते हैं; ॥१७।२०॥

गुरुओं और ब्राह्मणों को सदा नमस्कार करते हैं। मित्र के साथ, जो अपने ऊपर विश्वास रखता हो उसके साथ, जिसका अन्न खाय और जिसके आश्रय में रहे उसके साथ, कभी विश्वासघात या

येषां चाऽन्नानि भुंजीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥ २२ ॥
भुक्त्वा चाऽन्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्माञ्जिहीर्षसि ।
एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥ २३ ॥
वृथामरणमर्हश्च वृथाऽद्य न भविष्यसि ।
अथ चेद्दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ॥ २४ ॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ।
अथ चेत्त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
अधर्मं चाऽप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम् ।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥ २६ ॥
विषमेतत्समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥ २७ ॥
स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत् ।
अथाऽब्रवीद्द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद्गतिरस्य मया हृता ।
नाऽतिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥ २९ ॥

विद्रोह न करना चाहिए । हे राक्षस ! तू हमारे पास सुख और सम्मान के साथ रहा, हमारा अन्न तूने खाया ; अब हमें हरकर ले जाना चाहता है ! हे दुर्बुद्धि दानव ! तेरे इस कुकर्म में कभी तेरा भला नहीं हो सकता । ऐसा कर्म करनेवाले का आचार, बुद्धि और बड़प्पन सब वृथा होता है । तू मरने के ही योग्य है । तू अपनी करतूत की बदौलत अब वृथा मारा जायगा । और जो तेरी बुद्धि ऐसी ही दुष्ट है तो हमारे अस्त्र-शस्त्र हमको देकर युद्ध कर ; युद्ध में हमको हराकर द्रौपदी को ले जा । और जो तू अज्ञानवश होकर यह कार्य करने पर उतारू हुआ है तो केवल अधर्म और संसार में अयश ही तेरे हाथ लगेगा । हे राक्षस ! तूने द्रौपदी को छूकर आज वैसा ही काम किया है जैसे कोई घड़े में विष घोलकर उसे पिये ॥२१।२६॥

अब युधिष्ठिर ने अपने शरीर को बहुत भारी कर लिया । बोझ से दब जाने के कारण वह राक्षस पहले की तरह तेज़ी से चलने में असमर्थ हो गया । तब युधिष्ठिर ने नकुल, सहदेव और द्रौपदी से कहा—तुम अब डरो मत ; मैंने इस अधम राक्षस की तेज़ भागने की शक्ति को हर लिया है और पवनपुत्र भीमसेन भी समीप आ गये हैं । वे अभी

अस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते न भविष्यति राक्षसः ।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतसम् ॥ ३० ॥
उवाच वचनं राजन्कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
राजन्किंनाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्याऽस्त्यतोऽधिकम् ॥ ३१ ॥
यद्युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा ।
एष चाऽस्मान्वयं चैनं युध्यमानाः परंतप ॥ ३२ ॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप ।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ॥ ३३ ॥
जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम् ।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद्यदि ॥ ३४ ॥
नाऽहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पांडवः ॥ ३५ ॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाऽद्येह स्वप्स्यसि ।
तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यद्गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ।
सोऽपश्यद्भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ॥ ३७ ॥

आते होंगे; उनके आते ही यह दुष्ट जीता न बचेगा । महाबली सहदेव ने उस राक्षस को मोहाभिभूत देखकर युधिष्ठिर से कहा—॥२७।३०॥

हे महाराज ! क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर श्रेष्ठ काम और क्या होगा ? उसे चाहिए कि सामने युद्ध में लड़कर शत्रु को जीते अथवा अपने प्राण दे दे । राजन् ! यह समय और देश युद्ध के लिए उपयुक्त है; यह हमें मार डालेगा या हम इसे मार डालेंगे । हे सत्यपराक्रमी ! क्षत्रिय-धर्म प्रकट करने का यह उपयुक्त अवसर हमें मिला है । इसलिए हम युद्ध करके या तो मर जायँगे और या विजयी होंगे । हम दोनों तरह सद्गति पावेंगे । हे महाराज ! राक्षस जीता रहा और सूर्य अस्त हो गये तो फिर मैं अपने को क्षत्रिय न कहूँगा—यह प्रतिज्ञा करता हूँ । अरे राक्षस ! ठहर जा; मैं पाण्डु का पुत्र सहदेव हूँ । या तो तू हमें मारकर द्रौपदी को ले जायगा या हमारे हाथों से मारा जायगा ॥३१।३६॥

सहदेव इस तरह उस राक्षस से कह ही रहे थे, कि इसी समय महाबाहु भीमसेन वज्रपाणि इन्द्र की तरह गदा हाथ में लिये टहलते हुए वहां पहुँच गये । उन्होंने देखा कि एक राक्षस द्रौपदी, युधिष्ठिर और नकुल को हर ले जाने के लिए तैयार है ।

क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा ।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ॥ ३८ ॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम् ।
भ्रातृंस्तान्ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ॥ ३९ ॥
क्रोधमाहारयद्भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥ ४० ॥
आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा ।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाऽप्रियम् ॥ ४१ ॥
प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाऽप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ॥ ४२ ॥
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ॥ ४३ ॥
नूनमद्याऽसि संपक्वो यथा ते मतिरीदृशी ।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाऽद्भुतकर्मणा ॥ ४४ ॥
बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः ।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि ॥ ४५ ॥

किन्तु कालवश होने के कारण दैव की प्रेरणा से वह सबको लिये वहीं पर चक्कर लगा रहा है, जाता नहीं है; और सहदेव उसे डाँटफटकार रहे हैं। यह देखकर क्रोधित भीमसेन ने जटासुर से कहा—अरे पापबुद्धि राक्षस! तुझे पहले ही शस्त्रों की परीक्षा करने की चेष्टा करते देखकर जान लिया था कि तू कोई छिपा हुआ राक्षस है। तुझे घास-फूस की तरह तुच्छ जानकर ही मैंने उस समय नहीं मारा। उस समय तू ब्राह्मण का वेष धारण किये, प्रियवादी और प्रिय कार्य किया करता था। तूने कभी हमारा अप्रिय नहीं किया ॥३७।४१॥

विशेषकर उस समय तू ब्राह्मणवेषधारी निरपराध अतिथि था। इसी से मैंने तुझे नहीं मारा। उस दशा में राक्षस जानकर भी तेरी हत्या करने से मुझे नरकगामी होना पड़ता। इसके अतिरिक्त जब तक काल नहीं आता तब तक कोई किसी को मार नहीं सकता। अब तेरा काल आ गया है। जो ऐसा न होता तो तू द्रौपदी को हर ले जाने की दुर्बुद्धि के वश में न हो जाता। जल में विचरनेवाली मछली की तरह काल-सूत्र में लगे हुए द्रौपदी-

यं चाऽसि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते ।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥ ४६ ॥
एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः ।
भीत उत्सृज्य तान्सर्वान्युद्धाय समुपस्थितः ॥ ४७ ॥
अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात्प्रस्फुरिताधरः ।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलंबितम् ॥ ४८ ॥
श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे ।
तेषामद्य करिष्यामि तवाऽस्रेणोदकक्रियाम् ॥ ४९ ॥
एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
स्मयमान इव क्रोधात्साक्षात्कालान्तकोपमः ॥ ५० ॥
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम् ।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ॥ ५१ ॥
मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा ॥ ५२ ॥
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे ।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥ ५३ ॥

रूप काँटे को तू निगल गया है। फिर अब किस तरह जीता रह सकता है? तू जहाँ जाना चाहता था वहाँ तेरा मन ही जा सका है, तू न जा सकेगा। तू उसी राह को जायगा जिस राह पर बकासुर और हिडिम्बासुर गये हैं ॥४२।४६॥

काल से प्रेरित वह राक्षस भीमसेन के यों कहने पर भय के मारे पाण्डवों को और द्रौपदी को छोड़कर युद्ध के लिए तैयार हुआ। क्रोध के मारे उसके होंठ फड़कने लगे। उसने भीमसेन से कहा—हे पापी ! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ। मैं तेरी ही बाट देख रहा था। मैंने सुना है कि तूने अनेक राक्षसों को मारा है। तूने अब तक जितने राक्षसों को मारा है उनके सन्तोष के लिए आज तेरे रक्त से मैं उनका तर्पण करूँगा। जटासुर के यों कहने पर भीमसेन क्रोध से होंठ चबाते हुए बाहु युद्ध करने के लिए यमराज के समान उसकी ओर झपटे। राक्षस भी क्रोधित होकर बारम्बार होंठों को चबाता हुआ, मुँह फैलाकर, बलि असुर जैसे इन्द्र पर झपटा था वैसे ही युद्ध की इच्छा से भीमसेन पर झपटा ॥४७।५२॥

अब वे दोनों घोर बाहुयुद्ध करने लगे। नकुल और सहदेव भी अत्यन्त क्रोधित होकर जटासुर

न्यवारयत्तौ प्रहसन्कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥
आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च ।
इष्टेन च शपे राजन्सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ५५ ॥
इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम् ।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ५६ ॥
तयोरासीत्संप्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः ।
अमृष्यमाणयोः संख्ये देवदानवयोरिव ॥ ५७ ॥
आरुज्याऽऽरुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
जीमूताविव गर्जंतौ निनदन्तौ महाबलौ ॥ ५८ ॥
बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ ।
अन्योन्येनाऽभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ५९ ॥
तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकांक्षिणोर्यथा ॥ ६० ॥
आविध्याऽऽविध्य तौ वृक्षान्मुहूर्तमितरेतरम् ।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

की ओर दौड़े। तब हँसकर भीमसेन ने उनको रोक दिया और कहा—देखो, मैं अकेला ही इस राक्षस के लिए बहुत हूँ, तुम खड़े खड़े तमाशा देखो। फिर युधिष्ठिर से भीमसेन ने कहा—राजन्! मैं अपनी, भाइयों की, धर्म की, सत्य की, कर्म की, इष्ट वस्तुओं की सौगन्द खाता हूँ, कि इस राक्षस को मारे बिना मैं न रहूँगा ॥५३।५५॥

इस प्रकार परस्पर कहकर भीमसेन और जटासुर लाग-डाँट दिखाते हुए बाहुयुद्ध करने लगे। दोनों ही क्रोध के मारे एक दूसरे की बातों को न सह सके और परस्पर प्रहार करने लगे। बड़े-बड़े वृक्षों को तोड़कर बादलों की तरह गरजते हुए वे एक दूसरे पर चोट करने लगे। वे बड़े बलवान् दोनों वीर एक दूसरे को मारने के लिए घुटनों की चोट से पेड़ों को तोड़ डालते थे। पूर्व समय में स्त्री के लिए बाली और सुग्रीव का जैसा युद्ध हुआ था वैसा ही वृक्षों को उजाड़नेवाला महाभयानक यह युद्ध भी हुआ ॥५६।६०॥

दोनों बार बार गरजते हुए वृक्षों को घुमा-घुमाकर परस्पर चलाते थे। राजन्! इस प्रकार जब

तस्मिन्देशे यदा वृक्षाः सर्वे एव निपातिताः ।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ६२ ॥
ततः शिला समादाय मुहूर्तमिव भारत ।
महाभ्रैरिव शैलेंद्रो युयुधाते महाबलौ ॥ ६३ ॥
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम् ।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ६४ ॥
अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यबलदर्पितौ ।
भुजाभ्यां परिगृह्याऽथ चकर्षाते गजाविव ॥ ६५ ॥
मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतु· ।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ६६ ॥
ततः संहृत्य मुष्टिं तु पंचशीर्षमिवोरगम् ।
वेगेनाऽभ्यहनद्भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ६७ ॥
ततः श्रांतं तु तद्रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रांतमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥
तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपम· ।
समुत्क्षिप्य बलाद्भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥ ६९ ॥
तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डव. ।
अरत्निना चाऽभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७० ॥

सब वृक्ष उजड़ गये तब उन वीरों ने घड़ी भर शिलाओं से युद्ध किया । उस समय वे मेघमाला से ढके हुए पर्वतों के समान जान पड़ते थे ॥६१।६३॥

क्रोधवश होकर बड़े वेग से वे एक दूसरे पर शिलाओं के प्रहार कर रहे थे । उनका शब्द वज्र गिरने के समान भयङ्कर होता था । बल के घमण्ड में भरे हुए वे दोनों वीर फिर हाथों से हाथ भिड़ाकर दो गजराजों के समान भिड़ गये । दोनों परस्पर अपनी अपनी ओर खींचकर महाघोर घूँमे चलाने लगे । दोनों के घूँमों की चटचटाहट चारों ओर दूर दूर तक सुन पड़ने लगी । पाँच सिरवाले साँप के समान पाँचों उँगलियोंवाला एक घूसा भीमसेन ने बड़े जोर से राक्षस की गर्दन पर मारा । वह घूँमा लगने से उसकी आँखों के आगे अँधेरा सा छा गया । भीमसेन ने देख लिया कि शत्रु थक गया है । चट लपककर उन्होंने उसे उठाकर दे मारा और खूब रगड़ा ॥६४।६९॥

घूँमों की मार से उसकी हड्डी-हड्डी चूर करके

संदष्टोष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनवलाद्धतम् ॥ ७१ ॥
पपात रुधिरादिग्धं सन्दष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ॥
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥ ७२ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसप्तपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः।१५७।
समाप्तं च जटासुरवधपर्व ॥

भीमसेन ने [पशु की तरह उमेठकर] उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उसका भयानक मुख, होंठ चबाये हुए था और आँखें बाहर निकली हुई थीं। रक्त से भीगा हुआ वह सिर किसी वृक्ष से टपके हुए पके फल की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। महाबली भीमसेन इस तरह जटासुर को मारकर युधिष्ठिर के पास आ गये। तब मरुद्गण जैसे इन्द्र की स्तुति किया करते हैं वैसे ही ब्राह्मण लोग भी भीमसेन की प्रशंसा करने लगे ॥७०।७२॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सत्तावन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५७ ॥

अथ यक्षयुद्धपर्व ।

अथ अष्टपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

वैशम्पायन उवाच—निहते राक्षसे तस्मिन्पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौंतेयो निवासमकरोत्प्रभुः ॥ १ ॥
स समानीय तान्सर्वान्भ्रातॄनित्यब्रवीद्वचः ।
द्रौपद्या सहितान्काले संस्मरन्भ्रातरं जयम् ॥ २ ॥
समाश्चतस्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने ।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पंचमीमभितः समाम् ॥ ३ ॥
प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम् ।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ॥ ४ ॥

एक सौ अट्ठावन अध्याय ॥१५८॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! जटासुर के मारे जाने पर महाराज युधिष्ठिर फिर नर-नारायण के आश्रम बदरीवन में आकर रहने लगे। यहां एक समय उन्हें अर्जुन का स्मरण हो आया। उन्होंने भाइयों को और द्रौपदी को अपने पास बुलाकर कहा—हम चार वर्ष के लगभग कुशल-

मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम् ।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा ॥ ५ ॥
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ॥ ६ ॥
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि ।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम् ॥ ७ ॥
तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः ।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनाऽमिततेजसा ॥ ८ ॥
पञ्च वर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि ।
अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम् ॥ ९ ॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान्सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः ॥ १० ॥
कारणं चैव तत्तेषामाचचक्षे तपस्विनाम् ।
तानुग्रतपसः प्रीतान्कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणाम् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च ।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद्भरतर्षभ ॥ १२ ॥

पूर्वक वनों में विचरते रह । अर्जुन कह गये थे कि पांचवां वर्ष व्यतीत होने पर—जहां देवता और असुर रहते हैं; नीले कमल, और तरह-तरह के कमल खिले हुए हैं; बाघ, वराह, भैंसे, गवय, हरिण, रुरु, साप आदि जीव-जन्तु घूमा करते हैं; चातक, मोर, कोयल, भौंरे आदि शब्द किया करते हैं; फूले और फले वृक्ष चारों ओर देख पड़ते हैं; उस— पर्वतराज श्वेतगिरि पर मैं तुमसे मिलूँगा । उस पवित्र पर्वत पर सदा उत्सव सा हुआ करता है । उनसे मिलने के लिए ही हम लोग यहां आये हैं । महातेजस्वी अर्जुन यह भी कह गये थे कि मैं विद्या सीखने के लिए पांच वर्ष तक [इन्द्रलोक में] रहूँगा । हम लोग इसी पर्वत पर देवलोक से अस्त्रविद्या सीखकर आये हुए शत्रुदमन गाण्डीवधन्वा अर्जुन को देखेंगे । राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी और भाइयों से यों कहकर ब्राह्मणों को अपने पास बुलाया और उनकी पूजा करके सब वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया ॥१।१०॥

"हे पाण्डव, तुम्हारा कल्याण हो", यह कहकर ब्राह्मणों ने उनके कथन का अनुमोदन किया । लोमश आदि ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर से कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! आप शीघ्र ही क्षात्रधर्म के प्रभाव से वर्तमान क्लेश से छुटकारा पाकर सुखी होंगे और पृथ्वी का पालन करेंगे । राजा युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों के अभिनन्दन को सादर ग्रहण किया । महर्षि

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि ।
तत्तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः ।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाऽभिरक्षितः ॥ १४ ॥
क्वचित्पद्भ्यां ततोऽगच्छद्राक्षसैरुह्यते कचित् ।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ॥ १५ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा बहून्क्लेशान्विचिन्तयन् ।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥ १६ ॥
अवेक्ष्यमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥ १७ ॥
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥ १८ ॥
ददृशुः पांडवा राजन्गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥ १९ ॥
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥ २० ॥
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवदन्त गतक्लमाः ॥ २१ ॥

लोमश के द्वारा सुरक्षित राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ वहाँ से चल दिये। घटोत्कच आदि राक्षस भी सहायकरूप से उनके साथ चले। महातेजस्वी युधिष्ठिर किसी-किसी स्थान पर पैदल चलते थे और कहीं पर राक्षसों के कन्धे पर बैठकर चलना होता था। राजा युधिष्ठिर इस प्रकार अपने पिछले क्लेशों का स्मरण करते हुए सिंह, बाघ, गजगज आदि से पूर्ण उत्तर ओर ही आगे बढ़े। कैलाश, गन्धमादन पर्वत के आस-पास के सब पर्वत, श्वेतगिरि और अन्य पर्वतों के ऊपर पवित्र नदियों के दर्शन करते हुए पाण्डव सत्रह दिन में पवित्र हिमालय पर पहुँचे। हे राजेन्द्र ! पाण्डवों ने वहां जाकर, गन्धमादन के पास ही, अनेक वृक्षों और लताओं से पूर्ण पवित्र हिमालय पर वृषपर्वा का पवित्र आश्रम देखा। वह आश्रम फूले-फले अनेक पेड़ों से छाया हुआ सा था। उसमें बहुत से जलाशय थे ॥११।२०॥

अभ्यनन्दत्स राजर्षिः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
पूजितास्त्वाऽवसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥ २२ ॥
अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥ २३ ॥
एकैकशश्च तान्विप्रान्निवेश्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान्यथाकालं बंधूनिव सुसत्कृतान् ॥ २४ ॥
परिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥ २५ ॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।
अतीतानागते विद्वान्कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ २६ ॥
अन्वशासत्स धर्मज्ञः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥ २७ ॥
तान्प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पांडवांस्तदा ॥ २८ ॥
अनुसंसार्य कौंतेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ॥ २९ ॥
नाना मृगगणैर्जुष्टं कौंतेयः सत्यविक्रमः ।

अपनी थकन मिटाकर विश्राम कर चुकने पर सब लोग धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वा के पास गये। प्रणाम ग्रहण करके उन्होंने भी पुत्र का सा स्नेह प्रकट करके सबका अभिनन्दन किया। पाण्डव आदर से सन्तुष्ट होकर सात दिन वहां रहे। आठवें दिन युधिष्ठिर ने वृषपर्वा से अपना वहां से चलने का विचार प्रकट किया। फिर अपने साथ रहकर बहुत दिनों से भाई-बन्धुओं का सा सत्कार पानेवाले अनेक ब्राह्मणों को वृषपर्वा के पास, कुछ समय के लिए, छोड़ दिया। यज्ञपात्र, रत्न, आभूषण, [रथ, वाहन] आदि जो कुछ अपने साथ था, सब उन्होंने वृषपर्वा के आश्रम में रख दिया ॥२१।२६॥

इसके पश्चात् भूत और भविष्य के बारे में पूरा ज्ञान रखनेवाले और सब धर्मों के ज्ञाता वृषपर्वा ने पुत्रों की तरह पाण्डवों को आवश्यक बातों का उपदेश किया। फिर महात्मा पाण्डव उनसे अनुमति लेकर उत्तर दिशा को चले। राजर्षि वृषपर्वा भी कुछ दूर तक उनको पहुँचाने के लिए उनके साथ गये। फिर आशीर्वाद देकर, अभिनन्दन करके, लोमश-धौम्य आदि के हाथ में पाण्डवों को सौंपकर वृषपर्वा

पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥
नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु ।
पर्वतं विविशुस्ते तं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम् ।
मणिकांचनरूपस्य शिलानां च समुच्चयान् ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा ।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ॥ ३३ ॥
उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः ।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून्सुखेनैवाऽभिचक्रमुः ॥ ३४ ॥
धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः ।
अगच्छन्सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ॥ ३५ ॥
ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥ ३६ ॥
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम् ।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥ ३७ ॥
ततः किंपुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम् ।

लौट गये ॥२७।२९॥

भाइयों के साथ सत्यपराक्रमी महाराज युधिष्ठिर उसी राह से पैदल जाने लगे जिसमें मृग आदि बहुत से जङ्गली पशु विचर रहे थे। वृक्षों के कुञ्जों से पूर्ण पहाड़ी चोटियों पर चलते हुए पाण्डव चौथे दिन श्वेतपर्वत पर पहुचे। उस पर्वत पर जलाशय भरे हुए थे। वे दूर से जल भरे बादलों की घटाओं के समान जान पड़ते थे। उस पर्वत के शिखर मणियों के, सुवर्ण के, चादी के और श्वेत शिलाओं के थे। उसको लाघकर अनेक प्रकार के छोटे-बड़े पर्वतों की श्रेणियां देखते हुए पाण्डव वृषपर्वा के बताये हुए मार्ग पर ही लगातार चले जा रहे थे। पर्वत के ऊपर बनी हुई दुर्गम गुफाओं और गढ्ढों को ये लोग सहज में ही लाघे जाते थे ॥३०।३४॥

पुरोहित धौम्य, महर्षि लोमश, द्रौपदी और पाण्डव, सब साथ साथ चले जा रहे थे। कोई उदास या थका हुआ नहीं जान पड़ता था। इसी प्रकार चलते-चलते पाण्डव पर्वतराज माल्यवान् के ऊपर पहुँचे। वहाँ कहीं पर मृगों के झुण्ड इधर-उधर चौकड़ियाँ भर रहे थे; कहीं पर पक्षी मनोहर

ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३८ ॥
विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च ।
गजसंघसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥ ३९ ॥
शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम् ।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥ ४० ॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनंदनम् ।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ ४१ ॥
द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः ।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान्वल्गून्मदकलाञ्शुभान् ॥ ४२ ॥
श्रोत्ररम्यान्सुमधुराञ्शब्दान्खगमुखेरितान् ।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान्सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥ ४३ ॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान् ।
आम्रानाम्रातकान्भव्यान्नारिकेलान्सतिन्दुकान् ॥ ४४ ॥
मुञ्जातकांस्तथाजीरान्दाडिमान्बीजपूरकान् ।
पनसाँल्लकुचान्मोचान्खर्जूरानम्लवेतसान् ॥ ४५ ॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान्नीपांश्चापि मनोरमान् ।

बोलियाँ बोल रहे थे; कहीं पर पद्मपुष्पपूर्ण सरोवर थे और वृक्ष-लता शोभित, वानर आदि जीव-जन्तुओं के रहने के स्थान महावन दूर-दूर तक फैले हुए थे। आगे चलकर इन लोगों ने गन्धमादन पर्वत को देखा जहाँ सिद्ध और चारण विचर रहे थे तथा किंपुरुष आदि देवयोनियां विहार कर रही थीं। उस पर्वत को देखते ही सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। वीर पुरुष पाण्डव द्रौपदी को अपने साथ लिये महात्मा ब्राह्मणों के साथ धीरे-धीरे उस नन्दनवन-सदृश परमानन्दजनक गन्धमादन पर्वत [के भीतरी भाग] में घुसने लगे जिसमें स्थान-स्थान पर विद्याधर और विद्याधरिया, किन्नर और किन्नरियां चारों ओर विचरते रहते हैं—सिंह, व्याघ्र, शरभ, मृग आदि जीव-जन्तु चारों ओर तरह तरह के शब्द किया करते हैं ॥३५।४०॥

सुनते ही हृदय को हरनेवाले, सुखदायक, मनोरम पक्षियों के मधुर शब्द चारों ओर गूंज से रहे थे। उस पर्वत पर अनेक प्रकार के रङ्गीन फूलों से शोभित और फलों के बोझ से झुके हुए आम, आम्रातक, नारियल, तिन्दुक, मूज, अंजीर, अनार, कटहल, लकुच, केला, खजूर अमिलतास, पारावत, चम्पक, कदम्ब, बेल, कैथ, जामुन, कुंकुम,

बिल्वान्कपित्थान्जंबूंश्च काश्मरीर्वदरीस्तथा ॥ ४६ ॥
प्लक्षानुदुम्बरवटानश्वत्थान्क्षीरिकास्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबि भीतकान् ॥ ४७ ॥
इंगुदान्करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाबलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान्गन्धमादनसानुषु ॥ ४८ ॥
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान्स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चंपकाशोकान्केतकान्बकुलांस्तथा ॥ ४९ ॥
पुन्नागान्सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान्सकेतकान् ।
पाटलान्कुटजान्रम्यान्मन्दारेन्दीवरांस्तथा ॥ ५० ॥
पारिजातान्कोविदारान्देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान्हिंगुकांस्तथा ॥ ५१ ॥
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्शिंशपाः सरलांस्तथा ।
चकोरैः शतपत्रैश्च भृंगराजैस्तथा शुकैः ॥ ५२ ॥
कोकिलैः कलविंकैश्च हारितैर्जीवजीवकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथाऽन्यैर्विविधैः खगैः ॥ ५३ ॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाऽप्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५४ ॥
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कल्हारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥ ५५ ॥

बेर, पकरिया, गूलर, बरगद, पीपल, दूधी, भल्लातक, आंवला, हड़, बहेड़ा, इंगुदी, करमर्द और अन्य अनेक प्रकार के वृक्ष थे। ऐसे भी वृक्ष थे कि जिनके फलों का स्वाद अमृत के समान था ॥४१।४९॥

इसी तरह चम्पा, अशोक, केतकी, मौलसिरी, पुन्नाग, सप्तपर्ण, कनैर, पाटल, कुटज, मन्दार, इन्दीवर, हरसिंगार, कचनार, देवदार, शाल, ताल, तमाल, पीपल, हींग, सेमर, ढाक, इमली आदि के भी वृक्ष देख पड़ रहे थे। चकोर, शतपत्र, भौंर, तोते, कोकिला, कलविंक, हरियल, जीवंजीवक, प्रियक, चातक और अन्य अनेक पक्षी भी वृक्षों की डालियों पर बैठे हुए मनोहर शब्द सुना रहे थे। कहीं पर कुमुद, पुण्डरीक, लाल कमल आदि असंख्य फूल फूले हुए थे। कहीं पर हंस, कारण्डव, चक्रवाक,

कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥ ५६ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥ ५७ ॥
पद्मोदरच्युतरजः किञ्जल्कारुणरञ्जितैः ।
मंजुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान्कमलाकरान् ॥ ५८ ॥
अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥ ५९ ॥
शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान्भृशम् ॥ ६० ॥
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान्कलापान्विस्तीर्य सविलासान्मदालसान् ॥ ६१ ॥
मयूरान्ददृशुर्हृष्टान्नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित्प्रियाभिः सहितान्रममाणाकलापिनः ॥ ६२ ॥
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच्च कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ॥ ६३ ॥
कलापरुचिराटोपनिचितान्मुकुटानिव ।
विवरेषु तरूणां च रुचिरान्ददृशुश्च ते ॥ ६४ ॥
सिन्धुवारांस्तथोदारान्मन्मथस्येव तोमरान् ।

कुरर, जलकुक्कुट, प्लव, बगले आदि जलचर जीव इधर-उधर चर-फिर कर जलाशयों की शोभा बढ़ा रहे थे। कमल के मधु को पाकर मस्त, कमल के पराग से सनकर पीले बने हुए भौंरे फूलों पर घूम-घूमकर गुनगुना रहे थे ॥५०।५९॥

आनन्द से मस्त धीमी चाल से चलनेवाले मोर, मोरनियों के साथ, टहल रहे थे। वे मेघों का गर्जना सुनकर कामदेव से व्याकुल हो, अपनी विचित्र पूँछें फैलाकर, मधुर शब्द करते हुए नाच रहे थे। कुछ मोर, मोरनियों के साथ, लता-कुञ्जों में घूम रहे थे। कुछ मोर कुटजवृक्षों की डालियों पर बैठे हुए थे। उनके माथे पर पूँछ का घेरा मुकुट के समान जान पड़ता था। वृक्षों के भीतर के बड़े-बड़े छेदों में कुछ मोर बैठे हुए थे॥६०।६४॥

सुवर्णवर्णकुसुमान्गिरीणां शिखरेषु च ॥ ६५ ॥
कर्णिकारान्विकसितान्कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
तथाऽपश्यन्कुरवकान्वनराजिषु पुष्पितान् ॥ ६६ ॥
कामवश्यौत्सुक्यकरान्कामस्येव शरोत्करान् ।
तथैव वनराजीनामुदारान्रचितानिव ॥ ६७ ॥
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथाऽनङ्गशराकारान्सहकारान्मनोरमान् ॥ ६८ ॥
अपश्यन्भ्रमराराबान्मञ्जरीभिर्विराजितान् ।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥ ६९ ॥
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ७० ॥
तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान्बकुलानपि ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ७१ ॥
विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ७२ ॥
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु ।

पर्वत के शिखर पर सुनहरे रङ्ग के फूलों से शोभित सिन्धुवार (एक प्रकार के कमल) के वृक्ष कामदेव के तोमर-शस्त्र के समान जान पड़ते थे। कहीं पर फूले हुए कनैर कानफूलों के समान देख पड़ रहे थे। कहीं पर फूले हुए कुरुवक के वृक्ष कामदेव के बाणों के समान कामियों के हृदय में विषम वेदना उत्पन्न कर रहे थे। कहीं पर तिलक के वृक्षों की कतारें देखकर जान पड़ता था कि महावन के मस्तक पर तिलक लगा है। भौंरे जिन पर गूंज रहे हैं ऐसे मञ्जरी मण्डित आम के पेड़ों की पाँक्तियां भी कामदेव के बाणों के समान जान पड़ती थीं ॥६५।६९॥

वृक्षों में कहीं पर सुनहरे रङ्ग के, कहीं पर जलती हुई अग्नि के रङ्ग के, कहीं पर अञ्जन के रङ्ग के और कहीं पर वैदूर्य मणि के रङ्ग के फूल खिल रहे थे। शाल, ताल, तमाल, पाटल और बकुल आदि के फूले हुए वृक्ष माला की तरह उस पर्वतशिखर की शोभा बढ़ा रहे थे। कहीं पर बिल्लौर के समान निर्मल जलवाले, कमलपुष्प-पूर्ण सरोवर देख पड़ते थे, उनमें सारस, कलहंस आदि पक्षी मनोहर शब्द कर रहे थे। कमल, उत्पल, कल्हार, पुण्डरीक आदि

पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥ ७३ ॥
एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ७४ ॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चाऽतिमनोरमान् ।
विविशुः पांडवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ७५ ॥
कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन्सुखस्पर्शेन वायुना ॥ ७६ ॥
ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद्वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ॥ ७७ ॥
वने ह्यस्मिन्मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७८ ॥
भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नाऽत्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ॥ ७९ ॥
स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥ ८० ॥
विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चाऽन्यां कमलोत्पलमालिनीम् ॥ ८१ ॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवाऽपराम् ।

अनेक प्रकार के फूलों की सुगन्ध सूंघते हुए पाण्डव क्रमशः आगे बढ़ते जाते थे । वे आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से चारों ओर, सुगन्धित फूलों और स्वादिष्ट फलों से भरे-पुरे, मनोहर वृक्षों और सुन्दर सरोवर आदि की सैर करते हुए उस वन के भीतर घुसे । तब युधिष्ठिर ने प्रिय भाई भीमसेन से मधुर स्वर में कहा—हे भीम ! देखो, यह गन्धमादन पर्वत का वन कैसा ही विचित्र देख पड़ रहा है ! इसमें मनोहर जङ्गली वृक्ष फूले और फले हुए हैं । इधर-उधर कोयल आदि पक्षी भरे पड़े हैं । इसके भीतर कंटीला या बिना फूलों का कोई वृक्ष नहीं देख पड़ता । इस पर्वत की चोटियों पर वृक्षों के पत्ते चिकने-चिकने हैं । वह देखो, हाथियों के झुण्ड के झुण्ड हथिनियों के साथ भ्रमर-परिपूर्ण कमलवन के भीतर घुसकर उसे मथ रहे हैं ॥७०।८१॥

वह देखो, कमल-उत्पल आदि फूलों की माला

नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥ ८२ ॥
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान्देशान्देवाक्रीडान्समन्ततः ॥ ८३ ॥
अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ॥ ८४ ॥
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।
शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ॥ ८५ ॥
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।
चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ८६ ॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान्सम्पतन्ति महाद्रुमान् ।
रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥ ८७ ॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।
हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥ ८८ ॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।
वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥ ८९ ॥
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्रिणः ।

सी पहने हुए साक्षात् लक्ष्मी के समान एक ओर सरोवर शोभायमान हो रहा है। इस महावन के सुगन्ध-पूर्ण पुष्पयुक्त वृक्षों पर भौरों के झुण्ड गुन-गुना रहे हैं। हे भीम! वह देखो, देवताओं के विहार करने के शुभ स्थान देख पड़ते हैं। हम यहा आकर अमानुषी गति को (अर्थात् देवभाव को) प्राप्त हो गये; हम सिद्ध हो गये। हे पार्थ! मनोहर पुष्पपूर्ण वृक्षों की चोटियों पर छाई हुई प्रफुलित लताओं से गन्धमादन पर्वत के इन शिखरों की कैसी शोभा हो रही है। सुनो, पर्वत के कुञ्जों में मोरनियों के साथ ये मोर कैसे प्रसन्न होकर बोल रहे हैं ॥८२।८६॥

वह देखो, चकोर, शतपत्र, कोकिला, मैना आदि पक्षी कैसे फूले हुए वृक्षों की एक डाली से दूसरी डाली पर उड़कर जाते हैं। लाल, पीले और गुलाबी रङ्ग के जीवंजीवक पक्षी परस्पर निहार रहे हैं। पर्वती झरनों और हरे रङ्ग की नई घास से सुहावने मैदानों के पास सारस पक्षी देख पड़ते हैं। भृङ्गराज, उपचक्र और लोहपृष्ठ आदि पक्षी मधुर ध्वनि सुनाकर मन को प्रसन्न कर रहे हैं। वैडूर्य मणि के रङ्ग के जल से पूर्ण बड़े बड़े सरोवरों के भीतर घुसकर ये चार दांतोंवाले श्वेत हाथी हथिनियों

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकेरणवः ॥ ९० ॥
एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत्सरः ।
बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गपरिच्युताः ॥ ९१ ॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।
भास्कराभप्रभा भीमाः शारदाभ्रघनोपमाः ॥ ९२ ॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।
क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित्काञ्चनसन्निभाः ॥ ९३ ॥
धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिंगुलकस्य च ।
मनः शिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥ ९४ ॥
शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ॥ ९५ ॥
एते बहुविधाः शैलं शोभयंति महाप्रभाः ।
गन्धर्वाः सह कांताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ॥ ९६ ॥
दृश्यंते शैलशृंगेषु पार्थ किंपुरुषैः सह ।
गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ॥ ९७ ॥
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागंगामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ॥ ९८ ॥

के साथ जल क्रीड़ा कर रहे हैं। पर्वती झरनों का जल ताड़ के पेड़ के बराबर ऊँचा होकर शिलाओं पर वेग से गिर रहा है ॥८७।९१॥

वह देखो, सूर्य के रङ्ग की और शरद ऋतु के बादलों के रङ्ग की सुनहरी, रुपहली धातुएँ पर्वत पर चमक रही हैं। कहीं पर मैनसिल की बनी कन्दराएँ देख पड़ती हैं। कहीं पर काले रङ्ग की, कहीं पर सुवर्ण के रङ्ग की, कहीं पर हरताल के रङ्ग की, कहीं पर हींग के रङ्ग की, कहीं लोध्रवृक्ष के काठ के रङ्ग की, कहीं गेरू के रङ्ग की, कहीं काले और श्वेत मेघों के रङ्ग की, कहीं प्रातःकाल के बाल-सूर्य के रङ्ग की चमकीली धातुएँ पर्वतराज की शोभा को दर्शनीय बना रही हैं। हे पार्थ! महात्मा वृषपर्वा ने हमको जो बताया था वही हम यहाँ देख रहे हैं। वह देखो, गन्धर्व और किम्पुरुष अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ पर्वत के ऊँचे शिखरों पर दिखाई दे रहे हैं। यहां पर तान-लय में शुद्ध मनोहर सङ्गीत और पवित्र साम-गान सुन पड़ रहा

कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ॥ ९९ ॥
गंधर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समंततः ॥१००॥
उपेतं पश्य कौंतेय शैलराजमरिंदम ।
वैशम्पायन उवाच—ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ १०१ ॥
नाऽतृप्यन्पर्वतेंद्रस्य दर्शनेन परंतपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ॥ १०२॥
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।
ततस्ते निग्मतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥ १०३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गंधमादनप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५८॥

है । हे भीम ! ऋषि और किन्नर जिसके किनारों पर रहते हैं और हंस विचरते हैं उस परमपवित्र महानदी गंगा के दर्शन करो । हे शत्रुदमन ! इस पर्वतराज पर धातु, नदी, किन्नर, मृग, पशु पक्षी गन्धर्व, अप्सरा और अनेक प्रकार के कीड़े-मकोड़े की कमी नहीं है । यह अपने वनों की विशेष शोभा से बड़ा ही दर्शनीय है ॥९२।१००॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! परमतपस्वी शूरवीर, पाण्डव द्रौपदी और महात्मा ऋषियों के साथ उस स्थान पर पहुँचकर, श्रेष्ठ गति पाकर, बहुत ही आनन्दित हुए । पर्वतराज गन्धमादन की शोभा देखकर उनके नेत्रों को किसी प्रकार तृप्ति ही न होती थी । चलते-चलते वे पुष्पों और वृक्षों से शोभित राजर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम में पहुँचे । वहां पहुचकर सब लोग तपस्वी, दुर्बल-शरीर, धर्मशास्त्र के बड़े भारी विद्वान् महर्षि आर्ष्टिषेण के पास गये ॥१०१।१०३॥

—०—

वनपर्व का एक सौ अट्ठावन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५८ ॥

अथ ऊनषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१५९॥

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन् ॥ १ ॥
ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे ॥ २ ॥

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पांडवानां पुरोहितः ।
यथान्यायमुपाक्रांतस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ ३ ॥
अन्वजानात्स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
पांडोः पुत्रान्कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः ।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ५ ॥
नाऽनृते कुरुषे भावं कच्चिद्धर्मे प्रवर्तसे ।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित्पार्थ न सीदति ॥ ६ ॥
कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः ।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ॥ ७ ॥
सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम् ।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे ॥ ८ ॥
यथार्हं मानिताः कच्चित्त्वया नन्दन्ति साधवः ।
वनेष्वपि वसन्कच्चिद्धर्ममेवाऽनुवर्तसे ॥ ९ ॥

एक सौ उनसठ अध्याय ॥१५९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! तपस्या की अग्नि में जिनके सब मल जल चुके हैं उन महर्षि-श्रेष्ठ आर्ष्टिषेण के पास जाकर युधिष्ठिर ने अपना नाम लिया और सिर झुकाकर उनको प्रणाम किया। फिर द्रौपदी, भीम, नकुल और सहदेव भी उनको प्रणाम करके युधिष्ठिर के पास खड़े हो गये। पाण्डवों के पुरोहित धर्मज्ञ धौम्य ऋषि ने भी पास जाकर आर्ष्टिषेण को अभिवादन किया। दिव्य दृष्टि से पाण्डवों का समाचार जानकर महर्षि आर्ष्टिषेण ने आदरपूर्वक युधिष्ठिर से बैठने के लिए कहा। राजा युधिष्ठिर जब बैठ गये तब द्रौपदी और अन्य पाण्डव भी बैठे। अतिथि-सत्कार की रीति से युधिष्ठिर की पूजा करके महर्षि ने उनसे उनकी कुशल पूछी ॥१।४॥

ऋषि ने कहा—हे कुन्तीनन्दन ! तुम अपने मन को असत्य की ओर तो नहीं ले जाते हो ? धर्म-पालन में तुम्हारा ध्यान तो लगा हुआ है न ? माता पिता की भक्ति तो उचित रूप से करते रहते हो ? गुरु, वृद्धजन और वेदज्ञ पण्डित तो सदा तुम्हारे यहा पूजा पाते रहते हैं ? हे धर्मराज ! पापकर्मों में तुम्हारी वृत्ति तो नहीं है ? तुम न्याय के मार्ग पर चलकर पुण्य में प्रवृत्त और पाप से अलग रहते हो न ? हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम न्याय के अनुसार धर्म करके कहते तो नहीं हो ? तुमसे यथार्थ पूजित होकर साधुलोग प्रसन्न तो रहते हैं ? कहो वन में रहकर

कच्चिद्धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते ।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ॥ १० ॥
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित्पार्थाऽनुवर्तसे ।
कच्चिद्राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव ॥ ११ ॥
स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः ।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचंति च हसंति च ॥ १२ ॥
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः संप्राप्तव्यं भविष्यति ।
किं चाऽस्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम्॥ १३ ॥
पिता माता तथैवाऽग्निर्गुरुरात्मा च पंचमः ।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवानार्य माऽऽहैतद्यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया ॥ १५ ॥
आर्ष्टिषेण उवाच—अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा ।
जुषंते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ॥ १६ ॥
कामिनः सह कांताभिः परस्परमनुव्रताः ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ॥ १७ ॥

धर्म तो करते हो ? ॥५।९॥

हे कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे आचार-व्यवहार से पुरोहित धौम्य को तो किसी तरह की असुविधा नहीं होती ? तुम अपने बाप दादों की तरह दान, धर्म, तप, शौच और सरलता आदि को ग्रहण किये हुए हो न ? तुम उसी राह पर चलते हो, जिस पर श्रेष्ठ राजर्षि लोग चलते रहे हैं ? हे कुन्तीनन्दन ! पितर पितृलोक में रहते हैं । वे अपने कुल में पुत्र या पौत्र उत्पन्न होने पर हसते और शोक भी करते हैं । वे मन में कहते हैं कि या तो यह अपने अच्छे कामों से हमारा नाम चलावेगा और उससे हमारे कुल का शुभ होगा; और या बुरे आचरणों से हमारा नाम डुबावेगा और उससे हमारे कुल का अशुभ होगा । हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष, माता, पिता, गुरु, अग्नि और अपने आत्मा की पूजा या प्रतिष्ठा करता है उसके दोनों (पिता के और माता के) कुलों की कीर्त्ति बढ़ती है ॥१०।१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! आपने मुझ से जिन धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रश्न किये उन सबका निर्वाह मैं अपनी शक्ति भर करता रहता हूँ । फिर प्रसन्न होकर आर्ष्टिषेण ऋषि ने कहा—राजन् ! केवल जल पीकर या वायु ही खाकर तपस्या

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च ।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १८ ॥
विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः ।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥ १९ ॥
अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु ।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः ॥ २० ॥
इहस्थैरेव तत्सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः ।
न कार्या वः कथंचित्स्यात्तत्राऽभिगमने मतिः ॥ २१ ॥
न चाऽप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः ।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ॥ २२ ॥
ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत ।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः ॥ २३ ॥
अस्याऽतिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर ।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते ॥ २४ ॥
चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम् ।
अय शूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ॥ २५ ॥

करनेवाले ऋषि लोग पर्व आदि के अवसर पर, आकाश-मार्ग से, इस पर्वतराज पर आते हैं। इसके शिखरों पर अपनी प्यारी स्त्रियों के साथ किंपुरुष आदि देवगण कामभोग करने आते हैं। बढ़िया रेशमी वस्त्र पहने गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड यहाँ दिखाई दिया करते हैं। माला पहने, सुन्दर रूपवाले विद्याधर, नाग, सुपर्ण, चारण आदि भी इस पर विचरा करते हैं ॥१५।१९॥

पर्व-उत्सव आदि के अवसर पर इस पर्वत के ऊपर नगाड़े, झाँझ, शङ्ख, मृदङ्ग आदि बाजों का शब्द सुन पड़ता है। हे कुरुश्रेष्ठ! तुम लोग इसी स्थान पर रहकर इन बातों को देख सुन सकते हो। आगे जाने का विचार कभी मत करना। इसके आगे देवताओं की विहार-भूमि है। वहाँ मनुष्य की गति नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! यहाँ जो कोई कुछ भी चञ्चलता या ऊधम मचाता है उसका यहाँ के सब प्राणी अनिष्ट करते हैं, उसे राक्षस सताते हैं ॥२०।२३॥

हे युधिष्ठिर! इस कैलाश पर्वत का शिखर लाँघने पर सिद्धों और देवर्षियों की गति मिलती है। यदि कोई कैलाश शिखर को लाँघकर उस मार्ग में जाता है तो राक्षस उसे लोहे के शूल आदि से मार डालते हैं। हे युधिष्ठिर! पर्व के अवसर पर

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्धया नरवाहनः ।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसन्धिषु दृश्यते ॥ २६ ॥
शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम् ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥ २७ ॥
देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च ।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥ २८ ॥
उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु ।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥ २९ ॥
एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसन्धिषु ॥ ३० ॥
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥ ३१ ॥
न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे ऊनषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः१५९

समृद्धिशाली महाराज कुबेर पालकी पर चढ़कर अप्सराओं के साथ इस स्थान पर आते हैं। यहां के सब प्राणी पर्वत शिखर पर बैठे उदय हुए सूर्य के समान तेजस्वी कुबेर के दर्शन करते हैं ॥२४।२७॥

हे कुन्तीनन्दन ! यह पर्वत का शिखर देव, दानव, सिद्ध आदि का और कुबेर का उद्यान (बाग) है। पर्व आदि के अवसर पर तुम्बुरु गन्धर्व आकर यहां कुबेर को गाना सुनाता है। [उस समय उसका सामगान सुन पड़ता है।] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पर्व के अवसर पर इस पर्वत के ऊपर अनेक अद्भुत घटनाएं और विचित्र दृश्य देख पड़ते हैं। हे पाण्डवो ! जब तक तुमसे अर्जुन की भेंट न हो तब तक मुनियों के आहार फल-मूल आदि खाकर यहीं रहो। पुत्रो ! इस स्थान पर रहकर किसी तरह की ढिठाई मत करना। यहां इच्छानुसार रहो और श्रद्धापूर्वक यहां की सैर करो। अन्त को तुम शस्त्र-बल से पृथ्वी को जीतकर राज्यपालन करोगे ॥२८।३२॥

वनपर्व का एक सौ उनसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५९॥

अथ षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

जनमेजय उवाच—आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन्मम पूर्वपितामहाः ।
पांडोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ॥ १ ॥
कियन्तं कालमवसन्पर्वते गन्धमादने ।
किं च चक्रुर्महावीर्याः सर्वेऽतिबलपौरुषाः ॥ २ ॥
कानि चाऽभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ॥ ३ ॥
विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यद्यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन्हैमवते गिरौ ॥ ४ ॥
न खल्वासीत्पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ।
कच्चित्समागमस्तेषामासीद्वैश्रवणस्य च ॥ ५ ॥
तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाऽब्रवीत् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याऽप्रतिमतेजसः ।
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवंति फलानि च ।

एक सौ साठ अध्याय ॥ १६० ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन् ! मेरे पूर्व-पितामह दिव्य बल और पराक्रम रखनेवाले महात्मा पाण्डव उस गन्धमादन पर्वत पर [आर्ष्टिषेण मुनि के आश्रम में] कितने दिनों तक रहे ? उन परम तेजस्वी वीरों ने वहां रहकर क्या-क्या कार्य किये ? वहां वे क्या खाते-पीते थे ? उस हिमवान् पर्वत पर रहकर भीमसेन ने जो-जो पुरुषार्थ के कार्य किये हों उनका वर्णन कीजिए । मैं इस कथा को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ । हे भगवन् ! वहां यक्षों के साथ भीमसेन का युद्ध तो नहीं हुआ ! आर्ष्टिषेण ने कहा था कि पर्व के समय पर कुबेर वहां आते हैं । उनसे क्या पाण्डवों की भेंट हुई थी ? हे तपोधन ! मैं यह सब वृत्तान्त विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ । महात्मा पाण्डवों के चरित्र सुनने से मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥१।६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कुरुवंश

शुद्धबाणहतानां च मृगाणां पिशितान्यपि ॥ ८ ॥
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च ।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पांडवा भरतर्षभाः ॥ ९ ॥
तथा निवसतां तेषां पंचमं वर्षमभ्यगात् ।
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ॥ १० ॥
कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः ।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्वमेव गतः प्रभो ॥ ११ ॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन्बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ॥ १२ ॥
तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पांडवैः ।
प्रीतिमंतो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ॥ १३ ॥
आजग्मुः पांडवान्द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः ।
ते तैः सह कथां चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ॥ १४ ॥
ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ।
ऋद्धिमंतं महानागं सुपर्णः सहसाऽहरत् ॥ १५ ॥
प्राकंपत महाशैलः प्रामृद्यंत महाद्रुमाः ।
ददृशुः सर्वभूतानि पांडवाश्च तदद्भुतम् ॥ १६ ॥

में श्रेष्ठ पाण्डव अपने हितकारी परम तेजस्वी महर्षि आर्ष्टिषेण के मङ्गलमय उपदेश को सुनकर वहीं रहकर तपस्या करने लगे। वहां रहकर वे मुनियों के आहार, रसीले फल और सादे बाणों से मारे गये मृगों का मांस खाते थे; अनेक प्रकार के स्वच्छ मधु (शहद) पीते थे और लोमश आदि मुनियों के मुँह से पवित्र विचित्र कथाएँ सुनते थे। इस प्रकार वे हिमालय पर्वत पर रहने लगे। वहां रहकर उन्होंने पांचवां वर्ष भी व्यतीत कर दिया। यहीं पर घटोत्कच यह कहकर चला गया कि काम पड़ने पर [मुझे स्मरण करना;] मैं आ जाऊँगा ॥७।११॥

पाण्डव लोग आर्ष्टिषेण के आश्रम में अनेक अद्भुत दृश्यों और घटनाओं को देखते हुए बहुत दिनों तक रहे। इसके उपरान्त विशुद्धचित्त मुनि, चारण और सिद्धगण उनसे मिलने के लिए वहां पर आये। पाण्डव भी उनसे मिलकर परम प्रसन्न हुए और उनसे बातचीत करने लगे। इस प्रकार कुछ समय के व्यतीत होने पर एक दिन वहां पर

ततः शैलोत्तमस्याऽग्रात्पांडवान्प्रति मारुतः ।
अवहरत्सर्वमाल्यानि गन्धवंति शुभानि च ॥ १७ ॥
तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पांडवाः ।
ददृशुः पंचवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ॥ १८ ॥
भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ।
विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ॥ १९ ॥
सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाबलात् ।
पंचवर्णानि पात्यंते पुष्पाणि भरतर्षभ ॥ २० ॥
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति ।
खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव महात्मना ॥ २१ ॥
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः ।
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गांडिवम् ॥ २२ ॥
तवापि सुमहत्तेजो महद्बाहुबलं च ते ।
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यपराक्रम ॥ २३ ॥
त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः ।
हित्वा शैलं प्रपद्यंतां भीमसेन दिशो दश ॥ २४ ॥

गरुड़ ने आकर अकस्मात् एक बड़े भारी कुण्ड में रहनेवाले महानाग को पकड़ लिया। गरुड़ के वेग से वह पर्वत कांप उठा और बड़े-बड़े वृक्ष टूट-टूटकर गिरने लगे। पाण्डवों और अन्य प्राणियों ने उस विचित्र घटना को आश्चर्य के साथ देखा। ॥१२।१६॥

उस समय पर्वतराज की चोटियों पर से पाण्डवों के ऊपर वायु के द्वारा फूलों की वर्षा होने लगी। मित्रों-सहित पाण्डवों ने और यशस्विनी द्रौपदी ने पांच रङ्ग के सुगन्धित दिव्य फूलों को देखा। तब द्रौपदी ने पर्वत के ऊपर निर्जन स्थान में अकेले सुखपूर्वक बैठे हुए भीमसेन से जाकर कहा—हे भरतकुल-तिलक! गरुड़ के परों की वायु से और भी प्रबल होकर यह वायु इन पँचरङ्गे फूलों को बरसा रही है ॥१७।२०॥

तुम्हारे भाई सत्यप्रतिज्ञ महात्मा अर्जुन ने खाण्डव वन में सब लोगों के आगे, अश्वरथा नदी के पास गन्धर्व, नाग, राक्षस और साक्षात् इन्द्र को भी परास्त करके मायावी उग्र प्राणियों का नाश किया था। वहीं उन्हें गाण्डीव धनुष मिला था। तुम्हारा भी बाहुबल और तेज अपार है। तुम इन्द्र के समान बलवान् हो। तुम्हारे बाहुबल के वेग को

ततः शैलोत्तमस्याऽग्रे चित्रमाल्यधरं शिवम् ।
व्यपेतभयसंमोहाः पश्यंतु सुहृदस्तव ॥ २५ ॥
एवं प्रणिहितं भीम चिरात्प्रभृति मे मनः ।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ॥ २६ ॥
ततः क्षिप्तमिवाऽत्मानं द्रौपद्या स परंतपः ।
नाऽमृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ॥ २७ ॥
सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः ।
मनस्वी बलवान्दृप्तो मानी शूरश्च पांडवः ॥ २८ ॥
लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कंधः शालपोत इवोद्गतः ॥ २९ ॥
महात्मा चारुसर्वांगः कंबुग्रीवो महाभुजः ।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत् ॥ ३० ॥
स केसरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः ।
व्यपेतभयसंमोहः शैलमभ्यपतद्बली ॥ ३१ ॥
तं मृगेंद्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम् ॥ ३२ ॥
द्रौपद्या वर्धयन्हर्षं गदामादाय पांडवः ।

कोई भी सह नहीं सकता । इसलिए हे भीमसेन ! [तुम ऐसा करो कि] तुम्हारे बाहुबल से डरकर सब राक्षस इस पर्वत को छोड़कर इधर-उधर भाग जायँ, और तुम्हारे मित्र निडर होकर इस विचित्र और कल्याणमय माल्यवान् शिखर को देखें । हे भीम ! मैं भी तुम्हारे बाहुबल से रक्षित होकर शैल-शिखर को देखना चाहती हूँ ॥२१।२६॥

शान्तस्वभाव गजराज जैसे [अंकुश के] प्रहार को नहीं सह सकता, वैसे ही द्रौपदी के वचनों से उत्तेजित भीमसेन ने उसे एक प्रकार की भर्त्सना समझा—वह उन्हें सहन नहीं हुई । तब सिंह के समान चलनेवाले, सुवर्ण के समान गौर वर्ण, मस्त हाथी के समान पराक्रमी, चौड़े कन्धोंवाले, ताड़ के समान ऊँचे महाबाहु भीमसेन ने धनुष, तलवार और बाणों से भरे हुए तरकस लिये ॥२७।३०॥

अब वे सिंह के समान प्रचण्ड मान से, मस्त हाथी की तरह निडर होकर, इस पर्वत के शिखर की ओर चले । वहां के प्राणियों ने धनुष-बाण धारण

भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ।
अन्तरिक्षगतानां च भूमिष्ठानां च गर्जताम् ॥ ५० ॥
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ।
सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम् ॥ ५१ ॥
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसंभवाः ।
कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समंततः ॥ ५२ ॥
भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ।
विनिकृत्तानि दृश्यंते शरीराणि शिरांसि च ॥ ५३ ॥
प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पांडवं प्रियदर्शनम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ॥ ५४ ॥
स रश्मिभिरिवाऽऽदित्यः शरैररिनिघातिभिः ।
सर्वानार्च्छन्महाबाहुर्बलवान्सत्यविक्रमः ॥ ५५ ॥
अभितर्जयमानाश्च रुवंतश्च महारवान् ।
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ॥ ५६ ॥
यक्षा विकृतसर्वांगा भीमसेनभयार्दिताः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ॥ ५७ ॥

का युद्ध होने लगा। भीमसेन ने भयङ्कर भल्ल बाणों से उनके फेंके शूल, शक्ति आदि सब शस्त्रों को देखते ही देखते काट डाला। फिर वे अपने बाणों से आकाशगामी और पृथ्वी पर खड़े होकर गरजते हुए राक्षसों को घायल करने लगे। शस्त्रधारी यक्ष-राक्षसों के घायल शरीरों से रक्त निकलने लगा। रक्त से भीमसेन तर हो गये। ज़ोर से चलाये हुए भीमसेन के शस्त्रों के लगने से यक्षों और राक्षसों के मस्तक और अन्यान्य अङ्ग कट-कटकर गिरने लगे ॥४९।५३॥

चारों ओर यक्ष-राक्षसों से घिरे हुए भीमसेन बादलों में छिपे हुए सूर्य की सदृश जान पड़ने लगे। जैसे सूर्य नारायण अपनी किरणें फैलाकर सारे जगत् को छा लेते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण धारवाले बाणों से भीमसेन ने शत्रु-सेना को छा लिया। राक्षसों के डपटने और गरजने से भीमसेन को तनिक भी मोह नहीं हुआ। उनसे डरे हुए, घायल यक्ष और राक्षस अस्त्र शस्त्र छोड़कर बुरी तरह कराहने लगे। वे दृढ़धनुषधारी भीमसेन के भय से गदा, शूल, खड्ग, शक्ति, परशु आदि फेंककर दक्षिण दिशा को भाग ॥५४।५८॥

विशाल वक्षस्थलवाला, वीर कुबेर का मित्र

उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना ॥ ५८ ॥
तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ।
सखा वैश्रवणस्याऽऽसीन्मणिमान्नाम राक्षसः ॥ ५९ ॥
अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः ।
स तान्दृष्ट्वा पराावृत्तान्स्मयमान इवाऽऽब्रवीत् ॥ ६० ॥
एकेन बहवः संख्ये मानुषेण पराजिताः ।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ॥ ६१ ॥
एवमाभाष्य तान्सर्वानभ्यवर्तत राक्षसः ।
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत्स पांडवम् ॥ ६२ ॥
तमापतंतं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।
वत्सदंतैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत् ॥ ६३ ॥
मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः ॥ ६४ ॥
विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद्भीमसेनः शिलाशितैः ॥ ६५ ॥
प्रत्यहन्यत ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः ।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिता ॥ ६६ ॥

मणिमान् नाम का राक्षस गदा और शूल हाथ में लिये सामने खड़ा रहा। वह नहीं भागा। वह अपना प्रभुत्व दिखाता हुआ, युद्ध से भागते हुए यक्षों से मुसकराता हुआ, कहने लगा — यह बात तुम लोग कुबेर के भवन में जाकर कैसे उनसे कहोगे कि एक मनुष्य ने अनेक यक्षों और राक्षसों को मार भगाया? अब वह शक्ति, शूल, गदा आदि शस्त्र लेकर भीम की ओर झपटा। मत्त गजराज की तरह उसको अपनी ओर आते देखकर भीमसेन ने उसकी कोखों में तीन वत्सदन्त नाम के पैने बाण मारे। महाबली क्रुद्ध मणिमान् ने भी अपनी भारी गदा घुमाकर भीमसेन पर चलाई ॥५९।६४॥

बिजली के समान चमकती हुई उस गदा को आते देखकर भीमसेन ने पैने बाणों से आकाश में ही रोकने की चेष्टा की, परन्तु वे सब बाण गदा से टकराकर टूट गये। तब गदायुद्ध-विशारद भीमसेन

व्यपेतभयसंमोहः शैलराजं समाश्रितः ॥ ३३ ॥
न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः ।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ॥ ३४ ॥
तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम् ।
बहुतालोच्छ्रयं शृंगमारुरोह महाबलः ॥ ३५ ॥
स किन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान् ।
हर्षयन्पर्वतस्याऽग्रमारुह्य स महाबलः ॥ ३६ ॥
ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः ।
कांचनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम् ॥ ३७ ॥
प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समंततः ।
सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा ॥ ३८ ॥
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना ।
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंबाहशोभिना ॥ ३९ ॥
विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यंतीभिः समंततः ।
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम् ॥ ४० ॥
धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना ।
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम् ॥ ४१ ।

किये वीर पुरुष भीमसेन को सिंह और मस्त हाथी की तरह आते देखा। गदाधारी पाण्डुपुत्र भीमसेन द्रौपदी को प्रसन्न करते हुए, श्वेतके पर्वत पर पहुँचे। उस समय उनके चित्त में किसी प्रकार की थकन, भय या ईर्ष्या नहीं थी। फिर वे केवल एक मनुष्य के जाने भर की पर्वत की तङ्ग घाटी से उस, अगम्य और वृक्ष-लता-मण्डित, बहुत ऊँचे पर्वत-शिखर पर चढ़ने लगे। किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व, राक्षस आदि को प्रसन्न करते हुए महाबली भीमसेन पर्वत की चोटी पर चढ़ गये ॥३१।३६॥

वहां से उन्हें सुवर्ण और बिल्लौर के बने महलों से भूषित और चारों ओर सुवर्ण की चहारदीवारी से घिरी हुई कुबेर की दिव्य अलका पुरी देख पड़ी। उसमें चहारदीवारी के द्वार और बड़े-बड़े फाटक लगे हुए थे। उसमें चारों ओर जड़े हुए रत्न जगमगा रहे थे। स्थान स्थान पर बाग थे। वह पुरी पर्वत से भी अधिक ऊँची थी। उसमें स्थान-स्थान पर वेश्याएँ नाच रही थीं और बड़ी-बड़ी पताकाएँ वायु में फहरा

मोदयन्सर्वभूतानि गन्धमादनसंभवः ।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ॥ ४२ ॥
चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमंजरिधारिणः ।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः ॥ ४३ ॥
रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम् ।
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददृशे भरतर्षभः ॥ ४४ ॥
गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ ४५ ॥
ततः शंखमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलशब्दं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ॥ ४६ ॥
ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ॥ ४७ ॥
गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४८ ॥
ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
तैः प्रयुक्तान्महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ॥ ४९ ॥

रही थीं। भीमसेन हाथ टेढ़ा करके, धनुष का सहारा लेकर, खेद के साथ उस कुबेर की पुरी को निहारने लगे ॥३७।४१॥

उन्होंने देखा, गन्धमादन पर्वत का सुगन्धित पवन वहाँ के निवासियों को प्रसन्न करता हुआ डोल रहा है; विविध विचित्र मञ्जरियों से लदे हुए वृक्षों की अनिर्वचनीय शोभा हो रही है। महाबाहु भीमसेन यक्ष-राक्षसाधिपति कुबेर के भवन को गदा, खड्ग, धनुष आदि शस्त्र लिये बड़ी देर तक पर्वत की तरह अटल भाव से खड़े देखते रहे। उस भवन में रत्न जड़े हुए थे; और स्थान-स्थान पर विचित्र पुष्पमालाएँ टंगी हुई थीं। फिर उन्होंने शत्रुओं के शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न कर देनेवाला शङ्ख बजाया। साथ ही धनुष की डोरी का शब्द बार-बार करके सब प्राणियों को अचेत कर दिया। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व आदि के शरीरों में रोंगटे खड़े हो गये। वे उसी शब्द पर लक्ष्य रखकर भीमसेन के पास दौड़ते हुए आये। उनके हाथों में गदा, निस्त्रिंश, त्रिशूल, फरसा आदि शस्त्र चमक रहे थे ॥४२।४८॥

अब भीमसेन के साथ उन यक्ष-राक्षस आदि

गदायुद्धसमाचारं बुध्यमानः सवीर्यवान् ।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ॥ ६७ ॥
ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदंडामयस्मयीम् ।
तस्मिन्नेवांतरे धीमान्प्रजहाराऽथ राक्षसः ॥ ६८ ॥
सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्त्वा भीमस्य दक्षिणम्।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ॥ ६९ ॥
सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्याऽमितपराक्रमः।
गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ७० ॥
रुक्मपट्टपिनद्धां तां शत्रूणां भयवर्धिनीम् ।
प्रगृह्याऽथ नदन्भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम् ॥ ७१ ॥
तरसा चाऽभिदुद्राव मणिमंतं महाबलम् ।
दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि ॥ ७२ ॥
प्राहिणोद्भीमसेनाय वेगेन महता नदन् ।
भंक्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ॥ ७३ ॥
अभिदुद्राव तं हंतुं गरुत्मानिव पन्नगम् ।
सोऽन्तरिक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ॥ ७४ ॥
प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ।

झुककर उस गदा के प्रहार को बचा गये। जब गदा व्यर्थ हो गई तब बुद्धिमान् मणिमान् ने सुवर्ण के दण्डवाली लोहे की बड़ी भयङ्कर शक्ति उठाकर भीमसेन पर चलाई। अग्नि की ज्वालाएँ जिसमे निकल रही थीं वह भयानक शब्द करनेवाली घोर शक्ति भीमसेन के दाहने हाथ पर लगकर पृथ्वी पर गिर गई। महापराक्रमी भीमसेन शक्ति के लगने से घायल हो गये ॥६५।६९॥

तब अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्होंने सुवर्ण के पत्तरों से जड़ी हुई शत्रुओं को डरानेवाली अपनी महागदा उठाई और फिर गरजते हुए वेग से महाबली मणिमान् के ऊपर प्रहार करने के लिए झपट पड़े। मणिमान् ने भी चमचमाता हुआ महाशूल लेकर गरजकर भीमसेन के ऊपर बड़े वेग से फेंका। गदायुद्ध विशारद भीमसेन ने गदा के अग्रभाग से उस शूल को तोड़ डाला। गरुड़ जैसे सांप को पकड़ने के लिए झपटते हैं वैसे ही भीमसेन मणिमान् के मारने को दौड़े ॥७०।७४॥

सेन्द्राशनिरिवेंद्रेण विसृष्टा वातरंहसः ॥ ७५ ॥
हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ।
तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ॥ ७६ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि सिंहेनेव गवां पतिम् ।
तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥ ७७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मणिमद्वधे षष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६०॥

फिर ऊपर उछलकर एकाएक वह गदा घुमाकर भीमसेन ने उसके मस्तक पर मारी। इन्द्र के चलाये वज्र के समान वह गदा वायुवेग से आकर राक्षस को लगी। तुरत ही मणिमान् मरकर गिर पड़ा। राक्षस को मारकर, प्राणियों का नाश करनेवाली 'कृत्या' के समान वह गदा नीचे गिर पड़ी। सिंह जैसे सांड़ को पछाड़ता है वैसे ही भीमसेन ने मणिमान् को मार डाला। यह देखकर बचे हुए यक्ष-राक्षस भयकर आर्तनाद करते हुए पूर्व दिशा को भागे ॥७५।७७॥

वनपर्व का एक सौ साठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६० ॥

अथ एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६१॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ १ ॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यंतः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २ ॥
द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय संप्रधार्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूरा शैलमारुरुहुस्तदा ॥ ३ ॥
ततः संप्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।

एक सौ इकसठ अध्याय ॥ १६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमजय! इधर अजातशत्रु युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव, द्रौपदी, धौम्य, विप्रगण और सब सुहृद् पर्वत कन्दरा में बहुत प्रकार के शब्दों की प्रतिध्वनि सुनकर और भीमसेन को न देखकर बहुत ही घबराये। तब महाधनुर्द्धर महारथी पाण्डव लोग, द्रौपदी को आर्ष्टिषेण के पास छोड़कर, शस्त्र लेकर, पर्वत पर चढ़े ॥१।३॥

दद्दृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमाः ॥ ४ ॥
स्फुरतश्च महाकायान्गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान्महासत्त्वान्भीमसेनेन पातितान् ॥ ५ ॥
शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान्दानवान्मघवानिव ॥ ६ ॥
ततस्ते भ्रातरं दृष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ ७ ॥
तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिश्रृंगमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥ ८ ॥
कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत्पृथिवीपतिः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—साहसाद्यदि वा मोहाद्भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत्ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वधः ॥ १० ॥
राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥ ११ ॥
अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।

पर्वत की चोटी पर चढ़कर पाण्डवों ने भीमसेन को देखा। उन्होंने देखा कि महाकाय बलवान् यक्ष-राक्षसों में से कोई पृथ्वी पर पड़ा तड़प रहा है, कोई मरा पड़ा है। महाबली इन्द्र जैसे दानवों को मारकर शोभायमान हों वैसे ही बलवान् राक्षसों को मारकर गदा, खड्ग, धनुष आदि लिये भीमसेन खड़े हैं। महात्मा पाण्डवों ने भाई भीमसेन को देखकर प्रसन्नतापूर्वक गले में लगा लिया। अब सब लोग वहीं पर बैठ गये ॥४।७॥

देवताओं सहित लोकपालों के बैठने से देव-लोक की जैसे शोभा होती है वैसे ही पाण्डवों से उस पर्वत-शिखर की शोभा हुई। फिर राजा युधिष्ठिर ने वहाँ से कुबेर भवन को और मरे हुए यक्ष-राक्षसों को देखकर भीमसेन से कहा—हे भीम! चाहे साहस से हो, चाहे मोहवश, मुनियों के असत्य बोलने के समान, यह यक्षों का वध तुमने बहुत ही अनुचित किया। धर्मात्मा लोगों का कहना है कि राजा से द्वेष नहीं करना चाहिए। तुमने 'राज-राज' देवता कुबेर का यह अप्रिय किया, सो अच्छा नहीं किया। जो कोई धर्म और अर्थ का अनादर

कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
विरराम महातेजास्तमेवाऽर्थं विचिंतयन् ।
ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ॥ १४ ॥
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ।
ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ॥ १५ ॥
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ।
न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लांताः शोणिताक्ततनुच्छदाः॥ १६ ॥
प्रकीर्णमूर्धजा राजन्यक्षाधिपतिमब्रुवन् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ॥ १७ ॥
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ।
प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ॥ १८ ॥
एकेन सहिताः संख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ।
प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च नराधिप ॥ १९ ॥
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ।
लब्धशेषा वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ॥ २० ॥

करके पाप कर्म में मन लगाता है, उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है । जो तुम मुझे प्रसन्न रखना चाहते हो तो फिर कभी ऐसा कार्य मत करना ॥८।१२॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! धर्मात्मा युधिष्ठिर भीमसेन को यों उपदेश देकर थोड़ी देर तक चुपचाप सोचते रहे । उधर मरने से बचे हुए यक्ष लोग शीघ्रता से कुबेर-भवन में जाकर हाय-हाय करने लगे । वे अस्त्र-शस्त्र फेंक आये थे, थके हुए थे, रक्त से तर हो रहे थे; उनके बाल खुले और उलझे हुए थे । उन्होंने कुबेर से कहा—हे देव ! जो लोग गदा, परिघ, तोमर आदि शस्त्रों से युद्ध करते थे, जो यक्षों और राक्षसों में प्रधान समझे जाते थे, उन्हीं आपके वीर योद्धाओं को समर में एक मनुष्य ने मार गिराया है । आपका मित्र मणिमान् भी मारा गया है ॥१३।२०॥

मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ॥ २१ ॥
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद्वचः ।
द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ॥ २२ ॥
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाऽब्रवीत् ।
अथाऽभ्रघनसंकाशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ॥ २३ ॥
रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ।
तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ॥ २४ ॥
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ।
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाऽऽशुगाः ॥ २५ ॥
हेषयामासुरन्योन्यं हेषितैर्विजयावहैः ।
स तमास्थाय भगवान्राजराजो महारथम् ॥ २६ ॥
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ।
तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ॥ २७ ॥
रक्ताक्षा हेम संकाशा महाकाया महाबलाः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतावराः ॥ २८ ॥
ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ।
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाऽम्बरम् ॥ २९ ॥

केवल हम बचकर आपके पास भाग आये हैं। अब जो उचित समझिए वही कीजिए। यक्षराज कुबेर उनके मुँह से यह सुनकर बहुत ही क्रोधित हुए। उनकी आँखें लाल हो आईं। उन्होंने उनसे इस युद्ध का कारण पूछा। भीमसेन का ही अपराध सुनकर उन्हें और भी क्रोध चढ़ आया। उन्होंने तुरन्त रथ तैयार करने की आज्ञा दी। नौकरों ने उसी समय किंकिणीजालमण्डित, सुवर्ण की मालाओं से भूषित घोड़ोंवाला, मेघों के से रङ्ग का, पर्वतशिखर के समान ऊँचा रथ लाकर खड़ा कर दिया। अनेक रत्नों से भूषित, सब गुणों से युक्त, उज्ज्वल नेत्रोंवाले, पराक्रमी, शीघ्रगामी घोड़े रथ में जुते हुए थे। वे विजयसूचक हिनहिनाहट करने लगे। राजराज कुबेर उस श्रेष्ठ रथ पर चढ़कर चले। देव-गन्धर्व राह में आगे आगे उनकी स्तुति करते चल रहे थे। महात्मा कुबेर को जाते देखकर लाल नेत्रोंवाले,

तत्केसरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
कुबेरं च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ॥ ३० ॥
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ।
कुबेरस्तु महासत्वान्पाण्डोः पुत्रान्महारथान् ॥ ३१ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान्दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत्तदा ।
देवकार्यं चिकीर्षन्स हृदयेन तुतोष ह ॥ ३२ ॥
ते पक्षिण इवाऽऽपेतुर्गिरिशृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशे धनेश्वरपुरःसराः ॥ ३३ ॥
ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान्प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवास्थिताः ॥ ३४ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ॥ ३५ ॥
अपराद्धमिवाऽऽत्मानं मन्यमाना महारथाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सह्यासनवरं श्रीमत्पुष्पकं विश्वकर्मणा ।
विहितं चित्रपर्यंतमातिष्ठत धनाधिपः ॥ ३७ ॥

स्वर्णवर्ण, महाकाय, महाबली एक हज़ार से अधिक यक्ष अनेक अस्त्र-शस्त्र लिये हुए उनके पीछे चले। कुबेर के घोड़े बड़े वेग से आकाश-मार्ग में जा रहे थे। वे मानों आकाश को ही अपनी ओर खींचते हुए शीघ्रता से गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे। यक्षराज-पालित उन घोड़ों को और यक्ष-राक्षसों-सहित प्रियदर्शन कुबेर को देखकर पाण्डवों के शरीर में रोमाञ्च हो आया ॥२१।३०॥

देवकार्य करने की इच्छा रखनेवाले कुबेर भी खड्ग-धनुष आदि धारण किये हुए महात्मा पाण्डवों को देखकर मन ही मन प्रसन्न हुए। आगे-आगे कुबेर और पीछे-पीछे यक्ष पक्षियों के समान आकाश-मार्ग से, बड़े वेग से, पाण्डवों के पासवाले पर्वत के शिखर पर उतरे। कुबेर को पाण्डवों पर प्रसन्न देखकर वे शान्त भाव से खड़े हो गये। तब धार्मिश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने कुबेर को प्रणाम किया ॥३१।३६॥

वे सब अपने को अपराधी समझकर, हाथ जोड़कर, यक्षराज के आस-पास खड़े हो गये। विश्वकर्मा के बनाये विचित्र पुष्पक रथ (विमान)

तमासीनं महाकाया शंकुकर्णा महाजवाः ।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३८ ॥
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाऽप्सरसां गणाः ।
परिवार्योपतिष्ठन्त तथा देवाः शतक्रतुम् ॥ ३९ ॥
कांचनीं शिरसा बिभ्रद्भीमसेनः स्रजं शुभाम् ।
पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ॥ ४० ॥
भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्याऽपि राक्षसैः ।
आसीत्तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ॥ ४१ ॥
आददानं शितान्बाणान्योद्धुकाममवस्थितम् ।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ॥ ४२ ॥
विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ॥ ४३ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव ।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ॥ ४४ ॥
व्रीडा चाऽत्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ॥ ४५ ॥

पर यक्षराज कुबेर बैठे थे । उस विमान पर पलँग-आसन आदि सब सामान था । महाकाय, फुर्तीले, शङ्कुकर्ण हजारों यक्ष, राक्षस, गन्धर्व और अप्सराएँ उनको घेरे हुए थीं । वे देवगण से घिरे हुए इन्द्र के समान जान पड़ते थे । गले में सुवर्ण की माला पहने और हाथों में पाश, खड्ग, धनुष आदि लिए हुए भीमसेन खड़े-खड़े कुबेरजी को देखने लगे ॥३७।४०॥

राक्षसों के प्रहारों से यद्यपि वे घायल हो गये थे तो भी यक्षमण्डली-सहित कुबेर को देखकर उनके मन में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं हुई । तीक्ष्ण शस्त्र लिये भीमसेन को युद्ध की इच्छा से खड़े देखकर कुबेर ने युधिष्ठिर से कहा—हे पाण्डव ! सभी प्राणी तुमको सब जीवों का हितैषी समझते हैं । तुम अपने भाइयों के साथ बेखटके इस पर्वत के शिखर पर रहो । तुम भीमसेन के ऊपर क्रोध मत करना । ये यक्ष-राक्षस, काल के हाथों,पहले से ही मर चुके थे । तुम्हारे भाई तो इनके मरण का केवल निमित्त हैं । इसलिए इनके मरने से तुम अपने को अपराधी समझकर लज्जित मत होना । यक्षों और राक्षसों का यह नाश होना देवताओं को पहले से ही मालूम था । इसलिए भीमसेन पर मुझको

न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणा भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत्पुरा ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ॥ ४७ ॥
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ।
मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ॥ ४८ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाऽहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादस्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ॥ ४९ ॥
अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित्तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ५० ॥
दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पांडवनंदन ।
न तवाऽत्राऽपराधोऽस्ति कथंचिदपि पांडव ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ॥ ५२ ॥
इदं चाऽऽश्चर्यभूतं मे यत्क्रोधात्तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥ ५३ ॥

धनेश्वर उवाच—देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राऽहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ॥ ५४ ॥

किंचित्मात्र भी क्रोध नहीं है। मैं तो उन पर सन्तुष्ट हूँ ॥४१।४६॥

वैशम्पायन कहते हैं कि यक्षराज ने युधिष्ठिर से यों कहकर भीमसेन से कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! तुमने द्रौपदी को प्रसन्न करने के लिए मेरा और देवताओं का अनादर करके बाहुबल से यक्षों तथा राक्षसों को मारा और साहस का कार्य किया, इसमें मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न हूँ। हे भीम ! आज तुम्हारे कारण भयङ्कर शाप से मेरा छुटकारा हो गया। महात्मा अगस्त्य ने किसी अपराध पर कुपित होकर मुझे शाप दिया था। उसके ही कारण मुझको अनेक कष्ट भोगने पड़े हैं ! हे पाण्डव ! इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है ॥४७।५१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! महात्मा अगस्त्य ने आपको किसलिए शाप दिया था ! यह सब वृत्तान्त सुनने की मुझे बड़ी अभिलाषा है। आप अपने

यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ।
अध्वन्यहमथाऽपश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ ५५ ॥
उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं पुष्पितद्रुमशोभितम् ॥ ५६ ॥
तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वैव सूर्यस्याऽभिमुखे स्थितम् ।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ॥ ५७ ॥
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्मणिमान्नाम मे सखा ।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ॥ ५८ ॥
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ।
स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव ॥ ५९ ॥
मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ॥ ६० ॥
तस्मात्सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ।
त्वं चाऽप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद्विप्रमोक्ष्यसे ॥ ६१ ॥
सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम् ।
न शापं प्राप्यते घोरं तत्तवाज्ञां करिष्यति ॥ ६२ ॥

अनुचरों सहित उन महर्षि के क्रोधाग्नि में पड़कर भस्म होने से बच गये, यही मुझे आश्चर्य जान पड़ता है ॥५२।५३॥

कुबेर ने कहा—हे महाराज ! एक समय कुशावती नगरी में सब देवताओं ने मिलकर सम्मति की थी। मैं भी निमन्त्रित होकर अनेक शस्त्र लिये भयङ्कर यक्षों के साथ वहीं जा रहा था। राह में मैंने देखा कि पक्षियों और फूले हुए वृक्षों से शोभित यमुनातट पर महर्षि अगस्त्य सूर्य के सामने, ऊपर को हाथ उठाये, खड़े खड़े कठोर तपस्या कर रहे हैं। ऐसा जान पड़ता था कि मानों कुण्ड में अग्नि जल रही है ॥५४।५७॥

उसी समय मेरा मित्र राक्षसों का राजा मणिमान् मेरे साथ आकाशमार्ग होकर उधर से ही जा रहा था। उसने मूर्खता और अभिमान के वश होकर अगस्त्य महर्षि के सिर पर थूक दिया। तब उन्होंने अत्यन्त क्रोधित होकर मुझसे कहा—हे कुबेर ! तुम्हारे सखा ने बिना अपराध के, तुम्हारे सामने, मेरा अपमान

एष शापो मया प्राप्तः प्राक्तस्मादपिसत्तमात् ।
स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ॥ ६३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरदर्शने एकषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६१॥

किया; इसलिये यह दुष्ट तुम्हारी इस सारी सेना के साथ मनुष्य के हाथों मारा जायगा। तुम्हें इस सेना के और अपने मित्र के मरने से अत्यन्त कष्ट होगा। अन्त में उस मारनेवाले मनुष्य को देखकर इस पाप और शाप से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा। तुम्हारी सेना के सब यक्ष भी फिर जीकर पुत्र-पौत्र आदि के साथ चिरकाल तक तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे। हे युधिष्ठिर! पूर्व समय में महर्षि अगस्त्य ने इस तरह यह शाप मुझको दिया था। इस समय तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन ने मुझे उससे छुड़ा दिया ॥५८।६३॥

—०—

वनपर्व का एक सौ इकसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६१ ॥

अथ द्विषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

धनद उवाच—युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतंत्रविधानानामेष पंचविधो विधिः ॥ १ ॥
धृतिमंतश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नराः कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥
धृतिमान्देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ॥ ३ ॥
य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥
देशकालांतरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।

एक सौ बासठ अध्याय ॥ १६२ ॥

कुबेर ने कहा—हे युधिष्ठिर! संसार में निर्वाह करने के लिये धैर्य, दक्षता, देश, समय और पराक्रम, ये पांच विधियां हैं। सत्ययुग में सब मनुष्य अपने-अपने कार्य में धैर्य, चातुरी और पराक्रम प्रकट करते थे। क्षत्रिय लोग धैर्यशाली, सब धर्मों की विधि के ज्ञाता, देश और काल के जाननेवाले होकर सदा से इस पृथ्वी का शासन करते आते हैं। हे महाराज! जो मनुष्य इस तरह सब कार्य करता है वह इस लोक में यश और परलोक में सद्गति प्राप्त करता है। ॥१।४॥

देश-काल के ज्ञाता इन्द्र ने वसुओं के साथ पराक्रम करके स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया है। जो

संप्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥ ५ ॥
यस्तु केवलसंरम्भात्प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवाऽनुवर्तते ॥ ६ ॥
कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित् ॥ ७ ॥
वृथाचारसमारंभः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ॥ ८ ॥
सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।
अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्पणः ॥ ९ ॥
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ॥ १० ॥
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।
अलकाः सह गंधर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ॥ ११ ॥
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यंति महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥ १२ ॥
साहसादनुसंप्राप्तः प्रतिबुध्य वृकोदरः ।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ॥ १३ ॥

व्यक्ति क्रोध के वश में होकर अपने ऊपर आनेवाले अनिष्ट पर ध्यान नहीं देता वह पापमति केवल पाप-कार्यों में ही लगा रहता है। वह कार्य के विभागों से अनभिज्ञ, काल का ज्ञान न रखनेवाला, मन्दबुद्धि, वृथा, कार्यारम्भ करनेवाला होकर इस लोक और परलोक में क्लेश ही भोगा करता है। जो लोग साहस करते है, छल करते है, दुष्ट हैं और [दुष्टता के लिए] सब सामर्थ्य की इच्छा रखते हैं वे मनुष्य पाप के ही भागी होते हैं ॥५।८॥

हे पुरुष-सिंह ! तुम्हें इन गर्वित, क्रोधी, निर्भय और धर्म का ज्ञान न रखनेवाले भीमसेन को समझा कर अपनी आज्ञा में रखना चाहिए। अब तुम शोक और भय छोड़कर राजऋर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम को लौट जाओ। यह कृष्णपक्ष वहीं बिताओ। मैं ब्राह्मणों की और तुम्हारी रक्षा के लिए अलकापुरी में रहनेवाले गन्धर्वों, किन्नरों और पर्वत निवासी राक्षसों को नियत कर दूँगा। भीमसेन एकाएक उलझ पड़ते है। इन्हें तुम ऐसे साहस के काम करने से रोको ॥९।१३॥

अतः परं च वो राजन्द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यंति वो राजन्रक्षिष्यंते च वः सदा ॥ १४ ॥
तथैव चाऽन्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
आहरिष्यंति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥
यथा जिष्णुर्महेंद्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ॥ १६ ॥
आत्मजावात्मसंपन्नौ यमौ चोभौ यथाऽश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्ममाऽपीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥ १७ ॥
अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशली दिवि ॥ १८ ॥
याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसंपदः ।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये ॥ १९ ॥
दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्त्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥ २० ॥
न मोहात्कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयंति नरा नृषु ॥ २१ ॥
स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥ २२ ॥

अब से सब वन के रहनेवाले प्राणी सदा तुमसे मिलते और तुम्हारी रक्षा करते रहेंगे । हे पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवो ! मेरे अनुचर भी सदा तुमको स्वादिष्ठ आहार और जल आदि पहुँचाया करेंगे । हे राजा युधिष्ठिर ! जैसे इन्द्र के अर्जुन, पवन के भीम, धर्म के तुम और अश्विनीकुमारों के नकुल तथा सहदेव रक्षा के योग्य हैं, वैसे ही तुम सब पुत्र की तरह मेरे भी रक्षणीय हो ॥१४।१७॥

अर्थ के तत्त्वज्ञ और सब धर्मों के जाननेवाले भीमसेन के छोटे भाई अर्जुन स्वर्ग में कुशल से हैं । देवलोक के सब वैभव जन्म से ही सर्व-लोक-पूजनीय भीमसेन के छोटे भाई, अर्जुन को प्राप्त हैं । हे कुरुवंशभूषण ! दम, दान, बल, बुद्धि, लोकलज्जा, धैर्य, तेज आदि सब श्रेष्ठ गुण महाभाग परम तेजस्वी अर्जुन में हैं । अर्जुन मोहवश होकर कभी निन्दित कर्म नहीं करते । उन्होंने कभी किसी से असत्य नहीं

योऽसौ सर्वान्महीपालान्धर्मेण वशमानयत् ।
स शांतनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ॥ २३ ॥
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गांडीवधन्वना ।
सम्यक्चाऽऽसौ महावीर्यः कुलधुर्येण पार्थिवः ॥ २४ ॥
पितॄन्देवानृषीन्विप्रान्पूजयित्वा महातपाः ।
सप्त मुख्यान्महामेघानाहरद्यमुनां प्रति ॥ २५ ॥
अधिराजः स राजंस्त्वां शांतनुः प्रपितामहः ।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम् ।
पांडवाश्च ततस्तेन बभूवुः संप्रहर्षिताः ॥ २७ ॥
ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभः ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ॥ २८ ॥
ततोऽब्रवीद्धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम् ।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नंदिवर्धनः ॥ २९ ॥
स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसताऽमित्रतापनाः ।
कामान्न परिहास्यंति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥ ३० ॥
शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति ।
साक्षान्मघवता सृष्टः संप्राप्स्यति धनंजयः ॥ ३१ ॥

कहा ॥१८।२१॥

हे कुरुकुलवर्द्धन ! अर्जुन इस समय देवता, पितर, गन्धर्व आदि से आदर पाकर स्वर्ग में अस्त्र-विद्या सीख रहे हैं। धर्म के अनुसार सब राजाओं को जीतकर दिग्विजय करनेवाले तुम्हारे देवलोकवासी महातेजस्वी प्रपितामह महाराज शान्तनु कुलदीपक अर्जुन पर प्रसन्न है। जिन महातपस्वी शान्तनु ने पितरों, देवताओं, ऋषियों और ब्राह्मणों की पूजा करके यमुनातट पर सात अश्वमेध यज्ञ किये थे, वे स्वर्ग-विजयी महाराज इन्द्रलोक में अर्जुन से तुम्हारे कुशल-समाचार पूछा करते है ॥२२।२६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कुबेर के ये वचन सुनकर पाण्डव बहुत ही प्रसन्न हुए। शक्ति, गदा, खड्ग आदि शस्त्र हाथ में लिये भीमसेन ने धनुष की डोरी उतारकर कुबेर को प्रणाम किया। भीमसेन को शरणागत देखकर कुबेर ने

एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।
अस्तं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ॥ ३२ ॥
तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३३ ॥
पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ॥ ३४ ॥
ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।
प्रकर्षंत इवाऽभ्राणि पिबंत इव मारुतम् ॥ ३५ ॥
ततस्तानि शरीराणि गतसत्वानि रक्षसाम् ।
अपाकृष्यंत शैलाग्राद्धनाधिपतिशासनात् ॥ ३६ ॥
तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता ।
समरे निहतास्तस्माच्छापस्यांतोऽभवत्तदा ॥ ३७ ॥
पांडवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु ताः क्षपाः ।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

कहा—हे भीम ! तुम अपने शत्रुओं के अभिमान को चूर्ण करते हुए मित्रों की समृद्धि बढ़ाओ । तुम लोग जब अपने घर जाकर रहोगे तब यक्ष तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी करते रहेंगे । अर्जुन अस्त्र-शिक्षा में पारदर्शी होकर, इन्द्र से विदा होकर, शीघ्र लौट आवेंगे ॥२७।३१॥

गुह्यकों के राजा कुबेर पाण्डवों को यों उपदेश देकर अपने घर की ओर लौट पड़े । विचित्र कम्बलों से शोभित, अनेक रत्नों से भूषित, सवारियों पर चढ़कर हज़ारों यक्ष और राक्षस उनके पीछे पीछे चले । आकाशमार्ग में पक्षी जैसे कोलाहल करते हैं वैसे ही घोड़ों की हिनहिनाहट से कुबेर के भवन का मार्ग व्याप्त हो गया । मानों वायु भक्षण करते और मेघजाल को खींचते से कुबेर के घोड़े आकाश-मार्ग में शीघ्रता से चले जा रहे थे । कुबेर की आज्ञा से यक्षों ने उस पर्वत के शिखर पर से मरे हुए यक्षों के शरीर हटाकर उस स्थान को साफ कर दिया । हे महाराज ! महर्षि अगस्त्य ने यक्षों और राक्षसों को यही शाप दिया था । भीमसेन के हाथों मरकर वे भी शाप से छुटकारा पा गये । यक्ष-राक्षस आदि से यों आदर-सत्कार पाकर पाण्डव कई रात्रि तक वहीं पर रहे ॥३२।३८॥

वनपर्व का एक सौ बासठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६२॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाऽऽह्निकमरिन्दम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥
तेऽभिवाद्याऽऽर्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥ २ ॥
ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽतिविराजते ॥ ४ ॥
इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभितम् ॥ ५ ॥
एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च ।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ॥ ६ ॥
अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः ।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः॥ ७ ॥
यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः ।
प्रेतसत्त्वगतिं ह्येतां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ८ ॥

एक सौ तिरसठ अध्याय ॥१६३॥

वैशम्पायन कहते है—हे शत्रुनाशन जनमजय ! अब सूर्य के उदन होने पर महर्षि धौम्य नित्यकर्म करके महर्षि आर्षिषेण के साथ पाण्डवों के पास आये। पाण्डवों ने भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर उनके चरणों में प्रणाम और अन्य ब्राह्मणों का पूजन किया ॥१।२॥

फिर महर्षि धौम्य ने धर्मराज युधिष्ठिर का दाहना हाथ पकड़कर पूर्व की ओर देखकर कहा-हे धर्मराज ! यह जो तुम परम रमणीय पर्वतराज मन्दराचल देख रहे हो वह समुद्र तक पृथ्वी पर फैला हुआ है। हे पाण्डव ! इन्द्र और कुबेरजी पर्वतमाला-शोभित, वनपूर्ण इस दिशा की रक्षा करते है। सब धर्मों के ज्ञाता विचारशील मुनि लोग इस पर्वत को महेन्द्र और कुबेर का निवास-स्थान कहते हैं। ब्राह्मण, सिद्ध, साध्यगण, देवगण इसी दिशा में उगते हुए सूर्य की उपासना करते हैं ॥३।७॥

एतत्संयमनं पुण्यमतीवाऽद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ ९ ॥
तं प्राप्य सविता राजन्सत्येन प्रतितिष्ठति ।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम् ।
आवसन्वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥ ११ ॥
उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान् ।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥ १२ ॥
यस्मिन्ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चाऽवतिष्ठते ।
प्रजापतिः सृजन्सर्वं यत्किञ्चिज्जङ्गमागमम् ॥ १३ ॥
यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान्मानसान्दक्षसप्तमान् ।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम् ॥ १४ ॥
अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरेवोदयन्ति च ।
सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखास्तदा ॥ १५ ॥
देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
यत्राऽऽत्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ॥ १६ ॥

सब प्राणियों के प्रभु धर्मराज यम इस दक्षिण दिशा के स्वामी हैं। इस दिशा में मरे हुए लोग (पितर) रहते हैं। यह देखो, प्रेतराज की परम समृद्धिशालिनी अत्यन्त अद्भुत संयमनीपुरी देख पड़ती है। सब भुवनों को प्रकाशित करनेवाले भगवान् सूर्य नियमित रूप से उदय होकर पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए, सत्य नियम के अनुगामी होकर, जिस पर्वत पर विश्राम करते हैं वह यही अस्ताचल है। राजा वरुण इस पर्वत पर और महासागर में रहकर सब प्राणियों की रक्षा करते हैं ॥८।११॥

हे महाभाग! वह ब्रह्मज्ञानियों का परम गति-स्वरूप, परम मंगलदायक, महामेरु उत्तर दिशा में चमक रहा है। यहाँ जगत् की सृष्टि करनेवाले प्रजापति ब्रह्माजी रहते हैं। दक्ष आदि उनके मानस पुत्र भी यहीं पर बे-खटके रहते हैं। वशिष्ठ आदि महर्षि यहीं पर उदय होकर फिर अस्त होते हैं ॥१२।१५॥

यह रजोगुण से रहित रमणीय सुमेरु का शिखर देखो। इसी स्थान पर पूर्णकाम देवताओं के साथ पितामह ब्रह्माजी रहते हैं। पञ्चभूतमयी प्रकृति के कारण-स्वरूप, अनादि, अनन्त, सब प्राणियों के ईश्वर नारायण का निवासस्थान इस

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम् ।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।
देवापि यं न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ॥ १८ ॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत्स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्वयैव प्रभया राजन्दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥ १९ ॥
प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावति विराजते ।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ॥ २० ॥
भासयन्सर्वभूतानि सुश्रियाऽभिविराजते ।
नाऽत्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ॥ २१ ॥
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां कुरुसत्तम ।
न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव ॥ २२ ॥
स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते ।
यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम् ॥ २३ ॥
परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः ।
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ॥ २४ ॥
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ।
स्वयंभुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥
स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रणमाऽत्र युधिष्ठिर ॥ २६ ॥

सुमेरु के पूर्व भाग में ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ है। यह परम तेजस्वी सूर्य और अग्नि से भी बढ़कर दीप्तिशाली है। इसकी प्रभा को देवता और दानव भी अच्छी तरह नहीं देख सकते। यहीं पर भूतभावन ब्रह्मा सब जगत् को प्रकाशित करते हुए विराजमान हैं ॥१६।१९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यहाँ जाने का अधिकार ब्रह्मर्षियों को भी नहीं है, फिर महर्षि लोग किस तरह जा सकते हैं? हे पाण्डव! इस स्थान में किसी प्रकार के तेजस्वी पदार्थ का प्रकाश नहीं है। वही सबसे श्रेष्ठ भगवान् ज्योतिर्मय रूप से प्रकाशमान है। जो तपस्वी यति, अचल भक्ति के साथ, नारायण के

एवं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥ २७ ॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वशः ।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥ २८ ॥
एवं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन्भगवानपि ।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ॥ २९ ॥
अस्तं प्राप्य ततः संध्यामतिक्रम्य दिवाकरः ।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेष विभावसुः ॥ ३० ॥
स मेरुमनुवृत्तः सन्पुनर्गच्छति पांडव ।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ॥ ३१ ॥
स मासान्विभजन्काले बहुधा पर्वसन्धिषु ।
तथैव भगवान्सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥ ३२ ॥
एवमेतं त्वतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन्सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥ ३३ ॥
तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत् ।
मार्गमेतदसंबाधमादित्यः परिवर्तते ॥ ३४ ॥
सिसृक्षुः शिशिराण्येव दक्षिणां भजते दिशम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कोलोभ्यर्च्छति शैशिरः ॥ ३५ ॥

दर्शन को जाते हैं उन्हें फिर मनुष्यलोक में नहीं आना पड़ता। यह ईश्वर का सनातन अक्षय स्थान है। तुम इसे प्रणाम करो ॥२०।२६॥

हे कुरुनन्दन ! सूर्य और चन्द्रमा नित्य इस सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं और सब ज्योतिष्कमण्डल भगवान् भास्कर के आकर्षण से सुमेरु के चारों ओर फिरता रहता है। सब प्राणियों के हितैषी भगवान् सूर्य अस्त होकर सन्ध्या के बाद उत्तर दिशा को जाते हैं। फिर उसकी शेष सीमा तक आकर पूर्व दिशा को जाते हैं। सूर्यनारायण इस प्रकार सुमेरु की प्रदक्षिणा करके पर्वसन्धि और काल के विभाग से बारह महीनों का विभाग करते हैं। वे सारे जगत् में प्रकाश फैलाकर फिर मन्दर पर्वत को जाते हैं ॥२७।३२॥

सब प्राणियों के जीवनरूप चन्द्रमा भी नक्षत्र-मण्डली के साथ सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं।

स्थावराणां च भूतानां जंगमानां च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ॥ ३६ ॥
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान् ।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ॥ ३७ ॥
एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान्भावयन्प्रजाः ॥ ३८ ॥
वृष्टिमारुतसन्तापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्धयन्सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ ३९ ॥
एवमेष चरन्पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः ।
प्रकर्षन्सर्वभूतानि सविता परिवर्तते ॥ ४० ॥
सन्तता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥ ४१ ॥
विभजन्सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।
अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

अन्धकार को मिटानेवाले भगवान् सूर्यदेव जगत् भर में अपनी किरणें फैलाते हुए इसी बाधाहीन मार्ग में सदा घूमते रहते हैं। फिर जब सब वस्तुओं को शीतल (तापहीन) करना चाहते है तब बर्फ पैदा करने के लिए दक्षिणायन में चले जाते हैं ; तभी जाड़े की ऋतु होती है। फिर सूर्यनारायण दक्षिण दिशा से लौटकर अपने तेज के प्रभाव से सब चराचर वस्तुओं के तेज को खींच लेते हैं। उस समय गर्मी होती है। तब सब जीव बहुत ही मुरझा जाते हैं, शरीर से पसीना बहने लगता है, आलस्य और नींद सताती है। प्राणी सदा नींद के वश रहते हैं ॥३२।३७॥

भगवान् सूर्य इस प्रकार अन्तरिक्ष में घूमकर संसार की सुख-समृद्धि को बढ़ाते हुए फिर वर्षा ऋतु को प्रकट करते हैं। भगवान् सूर्य अमृततुल्य जल बरसाते, मन्द-मन्द वायु चलाते और सुखदायक धूप फैलाते हुए प्रत्येक ऋतु में चराचर जगत् को पालते हैं—उसकी बढ़ती करते हैं। इनकी गति कभी नहीं रुकती। जड़ पदार्थ की तरह वे कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते। वे सबके तेजवाले अंश को लेकर फिर उसे फेर देते है। वे सबकी आयु का निर्देश और कार्यों के समय का विभाग करते है। दिन, रात, कला, काष्ठा आदि समय के अंगों का ज्ञान भी उनकी गति से ही होता है॥३८।४२॥

वनपर्व का एक सौ त्रेसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६३॥

अथ चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्नगेन्द्रे वसतां तु तेषां महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषामाकांक्षतां दर्शनमर्जुनस्य ॥ १ ॥
तान्वीर्ययुक्तान्सुविशुद्धकामांस्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
संप्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मुर्गंधर्वसंघाश्च महर्षयश्च ॥ २ ॥
तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ॥ ३ ॥
मयूरहंसस्वननादितानि पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ॥ ४ ॥
साक्षात्कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ॥ ५ ॥
क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्सुचित्रमाल्यावृतजातशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥ ६ ॥
अनेकवर्णैश्च सुगंधिभिश्च महाद्रुमैः संततमभ्रजालैः ।
तपःप्रधानाः सततं चरंतः शृंगं गिरेश्चिंतयितुं न शेकुः ॥ ७ ॥

एक सौ चौंसठ अध्याय ॥ १६४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सत्यव्रतपरायण महात्मा पाण्डव लोग, अर्जुन से मिलने की इच्छा से, प्रसन्नतापूर्वक उस पर्वत पर राह देखने लगे। बहुत से गन्धर्व और महर्षि बड़ी प्रसन्नता से उन वीर्यशाली धीर महात्मा पाण्डवों के पास आते और उनसे मिलते थे। जैसे स्वर्ग को पाकर मरुद्गण प्रसन्न होते हैं वैसे ही फूले हुए वृक्षों से शोभित उस पर्वतराज के ऊपर पहुँचकर महारथी पाण्डवों को आनन्द प्राप्त हुआ ॥१-३॥

वे उस पर्वतराज की ऊँची चोटी पर चढ़कर मोर, हंस आदि के मनोहर शब्द सुनते और तरह-तरह के रङ्गीन फूलों-फलों से पूर्ण शिखरों को देखते और बड़ा ही आनन्द पाते थे। उन्होंने वहां पर स्वयं कुबेर के बनवाये अनेक सुन्दर सरोवर देखे। उनमें हंस-कारण्डव-चक्रवाक आदि जलचर पक्षी थे और अनेक प्रकार के कमल खिले हुए थे। वहां के क्रीड़ा-कुञ्ज विविध पुष्पमालाओं और अनेक रत्नों से शोभायमान थे। वे ऐसे सुन्दर थे मानों कुबेर के हों। सुगन्ध और कुसुमों से शोभित, अनेक प्रकार के वृक्षों से पूर्ण, उस शिखर पर मुनि लोग स्वच्छन्द होकर विचरते रहते हैं। उस शिखर पर बादल छाये रहते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! एक तो वह पर्वत ही बहुत

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनां च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुषप्रवीर ॥ ८ ॥
यमास्थितः स्थावरजंगमानि विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।
तस्योदयं चास्तमनं च वीरास्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ॥ ९ ॥
रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते तथोदयं चाऽस्तमनं च वीराः ।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ॥ १० ॥
स्वाध्यायवंतः सततक्रियाश्च धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च ।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य सत्यव्रतस्याऽऽगमनप्रतीक्षाः ॥ ११ ॥
इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनंजयेन ।
इति ब्रुवंतः परमाशिषस्ते पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि किरीटिनं चिंतयतामभीक्ष्णम् ।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समानरूपः ॥ १३ ॥
यदैव धौम्यानुमते महात्मा कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः ।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥ १४ ॥

चमकीला है और फिर उस पर की दिव्य औषधियां जगमगाती रहती हैं । इस कारण वहां पता ही नहीं चलता कि दिन है या रात्रि । जिनके तेज की सहायता से रात्रि को अग्निदेव सारे जगत् को प्रकाशित करते रहते हैं । उन्हीं जगत् के अधिष्ठाता सूर्य का उदय और अस्त वहां से पाण्डव लोग नित्य देखा करते थे ॥४।९॥

सूर्य की किरणों से सब जगत् को प्रकाशित होते देखकर वे लोग भी सूर्य की आराधना, स्वाध्याय-पाठ आदि करते थे । पवित्र और ब्रह्मचारी रहकर वे लोग वहां सत्यवादी अर्जुन के आने की राह देख रहे थे । "हम सब शीघ्र ही अस्त्र विद्या सीखकर लौटे हुए अर्जुन को देखकर आनन्द प्राप्त करें" इस प्रकार की बातचीत करते हुए युधिष्ठिर आदि पाण्डव वहां रहकर तपस्या और योगाभ्यास करने लगे ॥१०।१२॥

उस पर्वत के विचित्र वनों [और अद्भुत दृश्यों] को देखने पर भी सदा अर्जुन की चिन्ता बनी रहने के कारण एक दिवस और एक रात्रि एक वर्ष से भी बढ़कर व्यतीत होती थी । जब महात्मा धौम्य की अनुमति से जटा धारण करके अर्जुन अस्त्र प्राप्त करने के लिए गये थे तभी पाण्डवों का मन उदास हो गया था । उन सबका चित्त अर्जुन में ही लगा रहता था । इस कारण उस दिव्य स्थान में रहने पर भी उनको चैन नहीं था । मतवाले गजराज की सी चालवाले अर्जुन जब से काम्यक वन से बढ़े

भ्रातुर्नियोगात्तु युधिष्ठिरस्य वनादसौ वारणमत्तगामी ।
यत्काम्यकात्प्रव्रजितः सजिष्णुस्तदैव ते शोकहता बभूवुः ॥ १५ ॥
तथैव तं चिंतयतां सिताश्वमस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ।
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीतस्तस्मिन्नगे भारत भारतानाम् ॥ १६ ॥
उषित्वा पंच वर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने ।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥ १७ ॥
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ॥ १८ ॥
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च ।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥ ११ ॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गंधमादनम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि यक्षयुद्धपर्वाणि अर्जुनाभिगमने चतु पष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥
समाप्तं च यक्षयुद्धपर्व ॥

भाई की आज्ञा लेकर [इन्द्र-भवन को] गये तभी से उनके वियोग का शोक पाण्डवों को विह्वल बनाये हुए था। उन्होंने एक महीना, उस पर्वत पर रहकर अर्जुन की चिन्ता में बड़े कष्ट से व्यतीत किया ॥१३।१६॥

उधर अर्जुन ने भी इन्द्रलोक में पांच वर्ष व्यतीत कर, अग्नि, वरुण, चन्द्र, वायु, विष्णु इन्द्र परमेष्ठी ब्रह्मा, पशुपति, यम, धाता, सविता, त्वष्टा, कुबेर आदि देवताओं के सब दुर्धर्ष अस्त्र प्राप्त कर, अपने भाइयों से जाकर मिलने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र की प्रदक्षिणा करके, उनसे अनुमति लेकर, प्रसन्नता के साथ अर्जुन वहां से चल दिये और शीघ्र ही गन्धमादन पर्वत पर आ पहुँचे ॥१७।२०॥

—०—

वनपर्व का एक सौ चौसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६४ ॥

अथ निवातकवचयुद्धपर्व ॥

अथ पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कदाचिद्धरिसंप्रयुक्तं महेंद्रवाहं सहसोपयातम् ।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां हर्षोऽर्जुनं चिंतयतां बभूव ॥ १ ॥
स दीप्यमानः सहसाऽन्तरिक्षं प्रकाशयन्मातलिसंगृहीतः ।

व भौ महोल्केव घनांतरस्था शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ॥ २ ॥
तमास्थितः सन्ददृशे किरीटी स्रग्वी नवान्याभरणानि बिभ्रत्।
धनंजयो वज्रधरप्रभावः श्रिया ज्वलन्पर्वतमाजगाम ॥ ३ ॥
स शैलमासाद्य किरीटमाली महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमानजातशत्रोस्तदनंतरं च ॥ ४ ॥
वृकोदरस्यापि च वंद्य पादौ माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां प्रह्वोऽभवद्भ्रातुरुपह्वरे सः ॥ ५ ॥
बभूव तेषां परमः प्रहर्षस्तेनाऽप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान्प्रेक्ष्य किरीटमाली ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ॥ ६ ॥
यमास्थितः सप्त जघान पूगान्दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता ।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥
ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान्यथावच्च दिवौकसस्ते पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ॥ ८ ॥

एक सौ पैसठ अध्याय ॥१६५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! पाण्डव लोग इस तरह अर्जुन के लिए चिन्ता कर ही रहे थे कि बिजली के समान प्रभापूर्ण, मातलि के हाथों हांका जाता हुआ इन्द्र का रथ, मेघों के बीच जाती हुई बड़ी उल्का की तरह, जलती हुई अग्नि की लौ की तरह, आकाश को प्रकाशित करता वहां पर आ गया। किरीट, माला और अनेक नये गहने पहने हुए, इन्द्र के समान प्रभावशाली, वीर अर्जुन उस रथ पर बैठे हुए वहां आ पहुँचे। उस पर्वत पर अर्जुन को उपस्थित देखकर पाण्डवों को बड़ा आनन्द हुआ ॥१।३॥

अर्जुन ने रथ से उतरकर पहले धौम्य के, फिर युधिष्ठिर और भीमसेन के, पांव छुए। नकुल और सहदेव ने उनके पांव छुए। फिर अर्जुन द्रौपदी से मिलकर, सान्त्वना देकर, नम्र भाव से युधिष्ठिर के पास खड़े हो गये। अतुल बलवान् अर्जुन से मिलकर सब लोगों को ऐसा आनन्द हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सबसे मिलकर और राजा युधिष्ठिर के दर्शन करके अर्जुन को भी अपार आनन्द हुआ। नमुचि दैत्य को मारनेवाले इन्द्र ने जिस पर चढ़कर दैत्यों के सात दलों का नष्ट किया था उस रथ के समीप जाकर पाण्डवों ने उसकी प्रदक्षिणा की। फिर बड़ी प्रसन्नता से इन्द्र के सारथी मातलि का यथोचित सत्कार किया और देवताओं के सम्बन्ध में मातलि से अनेक प्रकार के कुशल-प्रश्न पूछे। पिता जैसे पुत्र को उपदेश करता है वैसे ही मातलि ने

तानप्यसौ मातलिरभ्यनंदत्पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाऽप्रतिमप्रभेण पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥ ९ ॥
गते तु तस्मिन्नरदेववर्यः शक्रात्मज. शकरिपुप्रमाथी ।
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ॥ १० ।
दिवाकराभाणि विभूषणानि प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।
ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ॥ ११ ॥
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये सर्वं यथावत्कथयांबभूव ।
एवं मयाऽस्त्राण्युपशिक्षितानि शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् १२ ॥
तथैव शीलेन समाधिनाऽथ प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेंद्राः ।
संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवासम् ॥ १३ ॥
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः ॥ १४ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अर्जुनसमागमे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ।१६५।

पाण्डवों को अच्छी बातों का उपदेश किया। फिर पाण्डवों का अभिनन्दन करके, परम प्रभापूर्ण दिव्य रथ पर चढ़कर, मातलि सारथी इन्द्र के पास लौट गया। मातलि के चले जाने पर, इन्द्र के शत्रुओं के काल, नरश्रेष्ठ अर्जुन ने प्रियतमा द्रौपदी को इन्द्र के दिये हुए सूर्य के समान चमकीले महामूल्य रत्न आभूषण दिये ॥९।१०॥

फिर जिस तरह साक्षात् महादेव, इन्द्र और वायु से उन्हें अस्त्र मिले, जिस तरह स्वर्ग में जाकर सदाचारी रहकर एकाग्रता के साथ उन्होंने इन्द्र आदि देवताओं को सन्तुष्ट किया, सो सब वृत्तान्त सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी ब्राह्मणों और पाण्डवों के आगे बैठकर, संक्षेप में उन्होंने कह सुनाया। फिर नकुल और सहदेव के साथ एक स्थान पर रहकर उन्होंने वह रात्रि व्यतीत की ॥११।१४॥

वनपर्व का एक सौ पैंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६५॥

अथ षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६६॥

वैशम्पायन उवाच — ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराज युधिष्ठिरम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवंदत धनंजयः ॥ १ ॥

एक सौ छासठ अध्याय ॥ १६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! प्रातःकाल होने पर अर्जुन ने भाइयों के साथ उठकर युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम किया। इसी समय अन्तरिक्ष में देवताओं का बड़ा कोलाहल सुन पड़ने

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिःस्वनः ।
वभूव तुमुलः शब्दस्त्वंतरिक्षे दिवौकसाम् ॥ २ ॥
रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग्व्यालमृगाणां च पक्षिणामिव सर्वशः ॥ ३ ॥
ते समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्यसङ्काशैर्देवराजमरिन्दमम् ॥ ४ ॥
ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ५ ॥
पार्थानभ्याजगामाऽथ देवराजः पुरन्दरः ।
आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्देवराजमुपागमत् ॥ ७ ॥
पूजयामास चैवाऽथ विधिवद्भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ८ ॥
धनञ्जयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
भृत्यवत्प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥ ९ ॥
आघ्राय तं महातेजाः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनञ्जयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमान्तिके ॥ १० ॥
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।

लगा। इसके पश्चात् अनेक प्रकार के वाहनों के शब्द, रथों के पहियों की घरघराहट और अनेक प्रकार के बाजों के शब्द अलग-अलग सुन पड़ने लगे। सूर्य-सदृश विमानों पर विराजमान गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड इन्द्र के पीछे पीछे आ रहे थे। उसी सुवर्णरत्न मण्डित प्रभाशाली रथ पर चढ़ हुए इन्द्रदेव पाण्डवों के पास आकर उतर पड़े॥१।६॥

उन्हें देखते ही भाइयों सहित युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की। फिर विधि से उनकी पूजा की। महातेजस्वी अर्जुन भी प्रणाम करके, बहुत ही नम्र अनुचर की तरह, उनके पास खड़े हो गये। तपस्वी पापहीन अर्जुन को देखकर युधिष्ठिर पहले से ही अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे। इस समय उन्हें इन्द्र के आगे विनीत भाव से खड़े देखकर

हर्षेण महताऽऽविष्टः फाल्गुनस्याऽथ दर्शनात् ॥ ११ ॥
वभूव परमप्रीतो देवराजं च पूजयन् ।
तं तथाऽदीनमनसं राजानं हर्षसंप्लुतम् ॥ १२ ॥
उवाच वचनं धीमान्देवराजः पुरन्दरः ।
त्वमिमां पृथिवीं राजन्प्रशासिष्यासि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ १३ ॥
अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चाऽस्मि धनंजयेन जेतुं न शक्यास्त्रिभिरेष लोकैः ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १५ ॥
धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम् ।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ॥ १६ ॥
संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः ।
स जीवेद्धि निरावाधः सुसुखी शरदां शतम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि इन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६६॥

वे और भी अधिक प्रसन्न हुए ॥७।१०॥

इन्द्र ने कहा—हे धर्मराज ! तुम निःसन्देह इस सारी पृथ्वी का राज्य करोगे। इस समय निर्विघ्न भाव से इसी काम्यक वन में जाओ। अर्जुन ने मुझसे सब दिव्य अस्त्र सीख लिये है। इन्होंने मेरा प्रिय कार्य करके मुझे बहुत प्रसन्न किया है। इस कारण मैं वर देता हूँ कि त्रिलोक में कोई भी इनको न जीत सकेगा ॥११।१४॥

युधिष्ठिर से यों कहकर, मुनियों के मुँह से अपनी स्तुति सुनते हुए, इन्द्र स्वर्ग को चले गये। हे महाराज ! जो कोई पुरुष एक वर्ष तक ब्रह्मचारी, नियमधारी, व्रतकारी होकर एकाग्र भाव से पाण्डवों के साथ इन्द्र की इस भेंट का वृत्तान्त पढ़ेगा उसे कभी विघ्नों का सामना न करना पड़ेगा। वह बड़े सुख के साथ सौ वर्ष की आयु वितावेगा ॥१५।१७॥

—०—

वनपर्व का एक सौ छासठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६६॥

अथ सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६७॥

वैशम्पायन उवाच—यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह संगतः ।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥ १ ॥

अभिवादयमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥
कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव ।
कथं चाऽस्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥
सम्यग्वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव ।
कच्चित्सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वाऽस्त्राण्यदात्तव ॥ ४ ॥
यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान्वा पिनाकधृक् ।
यथैवाऽस्त्राण्यवाप्तानि यथैवाऽऽराधितश्च ते ॥ ५ ॥
यथोक्तवांस्त्वां भगवाञ्शतक्रतुररिन्दम ।
कृतप्रियस्त्वयाऽस्मीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ॥ ६ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथाऽनघ ॥ ७ ॥
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिन्दम ।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनञ्जय ॥ ८ ॥
अर्जुन उवाच—शृणु हंत महाराज विधिना येन दृष्टवान् ।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शंकरम् ॥ ९ ॥

अथ सड़सठ अध्याय ॥१६७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इन्द्र जब अपने लोक को चले गये तब अर्जुन ने युधिष्ठिर और अन्य भाइयों को तथा द्रौपदी को सन्तुष्ट किया। एक बार अर्जुन ने आकर युधिष्ठिर को भक्ति के साथ प्रणाम किया। युधिष्ठिर ने स्नेह से उनका माथा सूँघा। फिर हर्ष-गद्गद स्वर से वे कहने लगे—हे अर्जुन! तुमने किस तरह इतना समय स्वर्ग में बिताया? किस तरह ये सब दिव्य अस्त्र प्राप्त किये और किस तरह इन्द्र को सन्तुष्ट किया? तुमने क्या सोलहों आने सब अस्त्र सीख लिये हैं? इन्द्र और रुद्र ने क्या प्रसन्न होकर ये अस्त्र तुमको दिये हैं? इन्द्र और शङ्कर ने किस प्रकार तुमको दर्शन दिये? किस प्रकार तुमने उनसे अस्त्र पाये? किस तरह तुमने आराधना करके उन्हें सन्तुष्ट किया, यह सब वृत्तान्त हमसे कहो। तुमने इन्द्र का कौनसा कार्य कर दिया है जिसके लिए वे तुमको यहाँ प्रियकारी कह गये हैं ॥१।८॥

अर्जुन ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—हे शत्रुदमन! जिस उपाय से मैंने इन्द्र और रुद्र के दर्शन पाये हैं, सो कहता हूँ, सुनिए। मैं आपसे वह विद्या

विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन ।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ॥ १० ॥
भृगुतुंगमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः ।
एकरात्रोषितः कंचिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ॥ ११ ॥
स मामपृच्छत्कौन्तेय काऽसि गंता ब्रवीहि मे ।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनंदन ॥ १२ ॥
स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम ।
अपूजयत मां राजन्प्रीतिमांश्चाऽभवन्मयि ॥ १३ ॥
ततो मामब्रवीत्प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत ।
तपस्वी न चिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥ १४ ॥
ततोऽहं वचनात्तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम् ।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥ १५ ॥
द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः ।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पांडवनंदन ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा ।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १७ ॥
पंचमे त्वथ संप्राप्ते प्रथमे दिवसे गते ।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ॥ १८ ॥

पाकर आपकी आज्ञा से तप करने को चल दिया था। मैं भृगुतुङ्ग पर्वत पर जाकर तप करने लगा। वहाँ एक रात्रि रहने पर राह में एक ब्राह्मण से भेंट हुई। उन्होंने पूछा—हे पार्थ! तुम कहाँ जाओगे? मैंने सब वृत्तान्त उनसे कह दिया। उन्होंने आदरपूर्वक प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुझसे कहा—हे अर्जुन! तुम तप करो। शीघ्र ही इन्द्र से तुम्हारी भेंट होगी। उनके कहने से मैं हिमालय पर्वत पर जाकर तप करने लगा। एक महीने तो फल-मूल खाये, दूसरे महीने केवल जल पीकर रहा, तीसरे महीने निराहार ही रहा और चौथे महीने हाथ को ऊपर उठाकर रहने लगा। इस तरह मैंने घोर तप किया। आश्चर्य है कि इतने पर भी मेरे प्राण नहीं निकले। इसके पश्चात् पाँचवाँ महीना लगने पर पहले ही दिन एक बड़ा भारी वराह अपने थूथन और पाँवों से पृथ्वी को खोदता और चक्कर खाता घुरघुराता

निघ्नन्प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि ।
संमार्जञ्जठरेणोर्वीं विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥
अनु तस्याऽपरं भूतं महत्कैरातसंस्थितम् ।
धनुर्बाणासिमत्प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥ २० ॥
ततोऽहं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
अताडयं शरेणाऽथ तदद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ २१ ॥
युगपत्तं किरातस्तु विकृष्य बलवद्धनुः ।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥ २२ ॥
स तु मामब्रवीद्राजन्मम पूर्वपरिग्रहः ।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥ २३ ॥
एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव ।
स धनुष्मान्महाकायस्ततो मामभ्य भाषत ॥ २४ ॥
ततो गिरिमिवाऽत्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः ।
तं चाऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥ २५ ॥
ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमंत्रितैः ।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ॥ २६ ॥
तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा ।

मेरे पास आया। उसके पीछे ही किरातरूपी और एक महापुरुष धनुष, बाण, खड्ग आदि शस्त्र लिये चले आ रहे थे। उनके साथ स्त्रियाँ भी थीं ॥१९।२०॥

मैंने अपने अक्षय तरकसों से बाण निकालकर धनुष पर चढ़ाकर उस वराह पर चलाये। किरात-रूपी उक्त महापुरुष ने भी मेरे साथ ही धनुष पर बाण चढ़ाकर उसको ऐसे ज़ोर से मारा कि मेरा दिल दहल सा गया। फिर उन महापुरुष ने मुझसे कहा—तुमने शिकार के धर्म को छोड़कर मेरे पहले से ही तके हुए इस शिकार पर बाण क्यों चलाया? ठहर जाओ, मैं पैने बाणों से अभी तुम्हारे घमण्ड को चूर कर दूँगा। अब वे महाकाय पुरुष मेरी ओर झपटे। उन्होंने अपने बाणों की वर्षा से वैसे ही मुझे ढक दिया जैसे पर्वत को बरसात की बूँदें छा लेती हैं। मैंने भी उसी तरह उन्हें बाणों से छिपा दिया। पर्वत पर वज्रपात की तरह मेरे अभिमन्त्रित तथा प्रज्वलित बाण उनके शरीर पर गिरने लगे ॥२१।२६॥

तानि चाऽस्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ॥ २७ ॥
पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥ २८ ॥
अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः ।
एकीभूतस्तदा राजन्सोऽभ्यवर्तत मां युधि ॥ २९ ॥
यदाऽभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे ।
ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥ ३० ॥
न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तस्मिन्प्रतिहते चाऽस्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ॥ ३१ ॥
भूय एव महाराज सविशेषमहं ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ॥ ३२ ॥
स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्बणम् ।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाऽहमभ्ययाम् ॥ ३३ ॥
जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप ।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रं महदादिशम् ॥ ३४ ॥
ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धयत् ॥ ३५ ॥
ततः संतापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा ।

देखते ही देखते उन्होंने सैकड़ों-हजारों रूप धारण कर लिये । मैंने उनके सभी रूपों को अपने बाणों से घायल किया । तब फिर सब रूप लुप्त हो गये, एक ही रूप रह गया । वे कभी बहुत ही सूक्ष्म, कभी स्थूल, कभी बड़ा और कभी छोटा, कभी एक और कभी अनेक, रूप रखकर मेरे साथ युद्ध करने लगे । हे महाराज ! मैं जब बारंबार बाण मारकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सका, तब मैंने धनुष पर अभिमन्त्रित करके वायव्य अस्त्र चढ़ाया; पर वह भी उनका कुछ नहीं कर सका । यह देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥२७।३१॥

फिर मैंने स्थूणाकर्ण, वारुण, शालम आदि भीषण बाणों की वर्षा और शिला-वर्षा से उन्हें पाट दिया परन्तु उनका कुछ नहीं हुआ। सब अस्त्र उनके ऊपर निष्फल हो गये । तब मैंने ब्रह्मास्त्र चलाया। उससे अनन्त अग्नि-तुल्य अनेक बाण निकलकर

क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतो हि विदीपितम् ॥ ३६ ॥
तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत् ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन्भयं मां महदाविशत् ॥ ३७ ॥
ततोऽहं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
सहसाऽभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥ ३८ ॥
हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च ।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥
व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः ।
अपारयंश्च तद्भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ॥ ४० ॥
ततः प्रहस्य तद्भूतं तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥ ४१ ॥
एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद्रूपमास्थितः ।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमंबरम् ॥ ४२ ॥
हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः ।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥ ४३ ॥
अदृश्यत ततः साक्षाद्भगवान्गोवृषध्वजः ।
उमासहायो व्यालधृग्बहुरूपः पिनाकधृक् ॥ ४४ ॥

चारों ओर फैल गये। वे (किरात) अस्त्र के तेज से और भी बढ़ गये। मेरे अस्त्र के तेज से उस समय सारा संसार तप गया, आकाश और सब दिशाएँ जलने लगीं। उन महातेजस्वी पुरुष ने उस समय मेरे अमोघ ब्रह्मास्त्र को भी तुरन्त काट गिराया ॥३२।३७॥

ब्रह्मास्त्र के भी नष्ट होने पर मैं बहुत ही डर गया। तब अपने अक्षय तरकस और धनुष लेकर मैंने उन पर प्रहार किया। उन सबको भी उन्होंने बेकाम कर दिया। इस प्रकार सब अस्त्र-शस्त्र उनके पास चले जाने पर मैं उनसे भिड़कर कुश्ती लड़ने लगा। फिर हम दोनों घूँसों और थप्पड़ों से लड़ने लगे। जब मैं किसी तरह उन्हें परास्त नहीं कर सका, तब बेदम होकर पृथ्वी पर बैठ गया। अब हँसते हुए किरात-रूप-धारी महेश्वर मुझे अचम्भे में डालकर स्त्रियों के साथ उसी स्थान पर अन्तर्द्धान हो गये ॥३८।४१॥

उसी क्षण वे महापुरुष किरात का वेप छोड़कर मेरे सामने आ गये। मैंने देखा, विचित्र वस्त्र पहने भगवान् शंकर भगवती के साथ सामने खड़े हैं।

स मामभ्येत्य समरे तथैवाऽभिमुखं स्थितम् ।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परन्तप ॥ ४५ ॥
ततस्तद्धनुरादाय तूणौ चाऽक्षय्यसायकौ ।
प्रादान्ममैव भगवान्वरयस्वेति चाऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥
तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
मनोगतं वीर यत्ते तद् ब्रूहि वितराम्यहम् ॥ ४७ ॥
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत्ते मनोगतम् ।
ततः प्रांजलिरेवाऽहमस्त्रेपु गतमानसः ॥ ४८ ॥
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे ।
भगवान्मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ॥ ४९ ॥
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवे पुकानिचित् ।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत्त्र्यम्बकश्च माम् ॥ ५० ॥
रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पांडव ।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ॥ ५१ ॥
उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम् ।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुपेषु कथंचन ॥ ५२ ॥
जगद्विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम् ।
पीड्यमानेन बलवत्प्रयोज्यं स्याद्धनञ्जय ॥ ५३ ॥

उनके अगों में आभूपणों की जगह पर साप शोभायमान हैं। मैं उस समय भी युद्ध करने के लिए मामने खड़ा था। शकर ने पास आकर मुझे मेरे तरकस, धनुप और सब अस्त्र-शस्त्र दे दिये। फिर उन्होंने कहा—हे अर्जुन! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥४२।४६॥

कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? अमर होने के सिवा और जो कुछ तुम्हें मांगना हो, सो माँग लो। मैं वही तुमको दूँगा। अपनी इच्छा पूरी होने का अवसर देखकर मैंने हाथ जोड़े और कहा-भगवन्! मुझे देवताओं के सब दिव्य अस्त्र प्राप्त करने की बड़ी इच्छा है। इसलिए जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वर दीजिए। शकर ने कहा–मैने तुमको देवताओं के सब दिव्य अस्त्र दिये ॥४७।५०॥

मेरा रौद्र पाशुपत अस्त्र भी सदा तुम्हारे पास रहेगा। अब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपना वह पाशुपत अस्त्र मुझको दिया। फिर उन्होंने कहा—हे

अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत् ।
तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ॥ ५४ ॥
मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे ।
उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम् ॥ ५५ ॥
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः ।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ।
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवांतरधीयत ॥ ५६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे सप्तषष्टयधिकशततमोऽध्यायः

वत्स ! यह अस्त्र मनुष्य के ऊपर कभी न चलाना; क्योंकि किसी पुरुष शक्तिहीन पर चलाने से यह सारे संसार को भस्म कर देगा। यदि कोई अमानुष व्यक्ति सतावे अथवा किसी शत्रु ने कोई अस्त्र छोड़ा हो तो उसे नष्ट करने के लिये ही इसको कार्य में लाना ॥५१।५४॥

देवाधिदेव महादेव के यों कहने पर सब अस्त्रों को रोकनेवाले, शत्रुओं को चौपट करनेवाले, शत्रुओं की सेना को काटनेवाले और जिनके तेज को देवता, दानव, राक्षस आदि कोई भी नहीं सह सकते, वे अप्रतिहत दिव्य अस्त्र सदेह आकर मेरे पास खड़े हो गये। महादेव की आज्ञा से मैं वहीं रहा। महादेवजी मेरे सामने ही अन्तर्द्धान हो गये ॥५५।५६॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६७॥

अथ अष्टषष्टयधिकशततमोऽध्यायः ॥१६८॥

अर्जुन उवाच— ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत ।
प्रसादाद्देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥ १ ॥
व्युषितो रजनीं चाऽहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥ २ ॥
तस्मै चाऽहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम् ।
भगवंतं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥ ३ ॥

एक सौ अड़सठ अध्याय ॥ १६८ ॥

अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! इस प्रकार महादेवजी की प्रसन्नता पाकर मैं बहुत ही आनन्दित हुआ और वह रात्रि वहीं व्यतीत की। दूसरे दिन सवेरे प्रातःकृत्य आदि करके मैं बैठा था, कि उन्हीं पूर्व परिचित ब्राह्मण के दर्शन हुए। मैंने उनको महादेव से भेंट होने का हाल कह सुनाया। उन्होंने

स मामुवाच राजेंद्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः ।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नाऽन्येन केनचित् ॥ ४ ॥
समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः ।
द्रष्टाऽस्यनघ देवेंद्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥ ५ ॥
एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
अगच्छत्स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसन्निभः ॥ ६ ॥
अथाऽपराह्णे तस्याऽह्नः प्रावात्पुण्यः समीरणः।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ॥ ७ ॥
दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च ।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन्समीपतः ॥ ८ ॥
वादित्राणि च दिव्यानि सुघोराणि समन्ततः ।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥ ९ ॥
गणाश्चाऽप्सरसां तत्र गंधर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद्देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥ १० ॥
मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ॥ ११ ॥
ततो मरुत्वान्हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलंकृतैः ।
शचीसहायस्तत्राऽऽयात्सह सर्वैस्तदाऽमरैः ॥ १२ ॥

प्रसन्न होकर कहा—हे अर्जुन! तुम्हारे समान इस तरह आज तक किसी मनुष्य ने भी महादेवजी के दर्शन नहीं पाये। तुम्हें यमराज आदि सब लोकपालों के साथ इन्द्र के भी दर्शन शीघ्र ही प्राप्त होंगे। उनसे तुम्हें सब अस्त्र प्राप्त होंगे ॥१।५॥

इतना कहकर बारबार मुझे गले से लगाकर वे तेजस्वी ब्राह्मण देवता वहाँ से चले गये। उसी दिन, तीसरे पहर, सब लोगों में नई स्फूर्ति लानेवाली वायु हिमालय के आसपास चलने लगी। दिव्य सुगन्ध चारों ओर फैल गई और साथ ही आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। चारों ओर इन्द्र की स्तुति और बाजों का शब्द सुन पड़ने लगा। इन्द्र के आगे गन्धर्व गा रहे थे और अप्सराएँ नाच रही थीं ॥६।१०॥

इन्द्र के सेवक, अन्यान्य साथी, सभी दिव्य विमानों पर चढ़कर आने लगे। इन सबके साथ इन्द्र भी, इन्द्राणी को लिये, देवताओं के साथ वहाँ पर आये। उनके रथ में हरे रङ्ग के घोड़े जुते हुए थे।

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥ १३ ॥
दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ॥ १४ ॥
ते मामूचुर्महाराज सांत्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन्निरीक्षाऽस्माँल्लोकपालानवस्थितान् ॥ १५ ॥
सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शंकरम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समंततः ॥ १६ ॥
ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदाऽस्त्राणि महांति विधिवद्विभो ॥ १७ ॥
गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ॥ १८ ॥
मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान्स्वर्गं गंतव्यं फाल्गुन त्वया ॥ १९ ॥
पुरैवाऽऽगमनादस्माद्वेदाऽहं त्वां धनञ्जय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥ २० ॥
त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गंताऽसि पांडव ॥ २१ ॥

इसी बीच में दिव्य श्री-युक्त नरवाहन कुबेर, यम और वरुण भी वहीं आ गये। वे अपनी-अपनी दिशा में यथास्थान स्थित थे। उन सबने मुझे सान्त्वना देकर कहा—हे अर्जुन! देखो, हम लोकपाल हैं। भगवान् शंकर ने, देवताओं के कार्य सिद्ध करने के लिए, तुमको दर्शन दिये हैं। हम लोगों से भी ये सब दिव्य अस्त्र लो ॥११।१६॥

हे महाराज! तब मैंने पवित्र होकर, सबको प्रणाम कर, विधिपूर्वक वे अस्त्र ग्रहण किये। फिर सब देवता अपने-अपने स्थान को चले गये। देवराज इन्द्र दर्शनीय रथ पर बैठे हुए थे। उन्होंने मुझसे कहा—हे अर्जुन! तुमको स्वर्ग चलना होगा। यहाँ तुम्हारे आने के पहले से मैं तुम्हें जानता हूँ, भेंट तो पीछे हुई है ॥१७।२०॥

हे भरतश्रेष्ठ! तुम पूर्वजन्मों में अनेक बार तीर्थस्नान कर चुके हुए हो और अब भी तुमने यह

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।
स्वर्गं त्ववश्यं गंतव्यं त्वया शत्रुनिषूदन ॥ २२ ॥
मातलिर्मन्नियोगात्त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनां च महात्मनाम् ॥ २३ ॥
ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन्मम ।
आचार्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥ २४ ॥
इन्द्र उवाच—क्रूरकर्माऽस्त्रवित्तात भविष्यसि परंतप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पांडवाऽऽप्नुहि ॥ २५ ॥
ततोऽहमब्रुवं नाऽहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनाऽस्त्रप्रतिघातनात् ॥ २६ ॥
तानि दिव्याणि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चाऽस्त्रजितान्पश्चाल्लभेयं सुरपुंगव ॥ २७ ॥
इन्द्र उवाच—परीक्षार्थं मयैतत्ते वाक्यमुक्तं धनंजय ।
ममाऽऽत्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ॥ २८ ॥
शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत ।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात्समरुद्गणात् ॥ २९ ॥

कठिन तप किया है। इसी से तुम स्वर्ग को जाओगे। तुम्हें फिर तप करना होगा। तुम निस्सन्देह स्वर्ग को जाओगे। मेरी आज्ञा से मातलि सारथी तुम्हें स्वर्ग में ले जायगा। देवता, महात्मा और मुनियों में तुम प्रसिद्ध हो। तब मैंने इन्द्र से कहा—हे भगवन्! मैं अस्त्र विद्या सीखने के लिए आपको आचार्य मानता हूँ। आप प्रसन्नता से यह प्रार्थना स्वीकार कीजिए ॥२१।२४॥

इन्द्र ने कहा—हे पार्थ! तुम अस्त्र सीख लेने पर क्रूरकर्मा हो जाओगे। जिस कार्य के लिए तुम अस्त्र सीखना चाहते हो वह तुम्हारा तात्पर्य अच्छी तरह पूरा होगा। मैंने कहा—भगवन्! मैं शत्रु के अस्त्रों को नष्ट करने के समय ही उन दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करूँगा; अन्य समय पर नहीं। मुझे दिव्य अस्त्र दीजिए। मैं उनके प्रभाव से सबको परास्त कर अपने अधिकार में कर लूँगा ॥२५।२७॥

इन्द्र ने कहा—हे अर्जुन! तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही मैं ऐसा कहता था। तुम मेरे ही पुत्र हो। इस कारण तुम्हारा मुझे अपना आचार्य बनाना ठीक ही है। हे अर्जुन! तुम मेरे लोक में जाओगे तब अग्नि, वायु, वसु, वरुण, मरुद्गण,

साध्यं पैतामहं चैव गंधर्वोरगरक्षसाम् ।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ॥ ३० ॥
मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह ।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ३१ ॥
अथाऽपश्यं हरियुजं रथमैंद्रमुपस्थितम् ।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥ ३२ ॥
लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाऽथ मातलिः ।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥ ३३ ॥
संसिध्यस्व महाबाहो कुरु कार्यमनंतरम् ।
पश्य पुण्यकृतांल्लोकान्सशरीरो दिवं व्रज ॥ ३४ ॥
देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत ।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामंत्र्य शैशिरम् ॥ ३५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम् ।
चोदयामास स हयान्मनोमारुतरंहसः ॥ ३६ ॥
मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद्भूरिदक्षिणः ।
अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याऽथ ससारथिः ॥ ३७ ॥
तथा भ्रांते रथे राजन्विस्मितश्चेदमब्रवीत् ।
अत्यद्भुतमिदं त्वय विचित्रं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥

साध्यगण, पितामह, गन्धर्व, नाग, राक्षस सब तुमको अपने-अपने दिव्य अस्त्र देंगे । वैष्णवास्त्र, नैर्ऋतास्त्र, और मेरे पास के सब दिव्य अस्त्र भी तुमको मिल जायँगे । यह कहकर इन्द्र वहीं पर अन्तर्द्धान हो गये ॥२८।३१॥

सब लोकपाल भी चले गये । इसके पश्चात् दिव्य घोड़ों से जुते, मायामय, पवित्र, इन्द्र के रथ को लिये मातलि सारथी वहाँ आया । उसने कहा—हे महातेजस्वी ! इन्द्र तुमको देखना चाहते हैं, इसलिए कर्तव्य कार्य करके चलने के लिए शीघ्र तैयार हो जाओ । अभी सदेह स्वर्ग को चलकर तुम पुण्यात्माओं के दर्शन करना । इन्द्र ने तुमको बुलाया है ॥३२।३५॥

मातलि के यह कहने पर मैं हिमालय से विदा होकर और उसकी प्रदक्षिणा करके उस दिव्य रथ पर सवार हुआ । अश्वविद्या के पूरे ज्ञाता मातलि ने

यदास्थितो रथं दिव्यं पदान्न चलितः पदम् ।
देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ॥ ३९ ॥
विचलन्प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ ।
त्वं पुनः स्थित एवाऽत्र रथे भ्रांते कुरूद्वह ॥ ४० ॥
अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे ।
इत्युक्त्वाऽऽकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान् ॥ ४१ ॥
दर्शयामास मे राजन्विमानानि च भारत ।
स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ ४२ ॥
ऋषयो देवताश्चैव पूजयंति नरोत्तम ।
ततः कामगमाँल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम् ॥ ४३ ॥
गंधर्वाप्सरसां चैव प्रभावममितौजसाम् ।
नंदनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च ॥ ४४ ॥
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः ।
ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ॥ ४५ ॥
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलंकृताम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ॥ ४६ ॥
न बाधते तत्र रजस्तत्राऽस्ति न जरा नृप ।

मन और वायु के समान तेज घोड़ों को हांक दिया। रथ चलने लगा। तब मातलि ने मेरे मुंह की ओर देखकर आश्चर्य के साथ कहा—आज मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि घोड़े जब इस रथ को लेकर भागने लगते हैं तब इन्द्र भी अपने आसन से कुछ डिग जाते हैं; परन्तु तुम इस रथ पर उस समय भी दृढ़ आसन से बैठे रहे, तानिक भी हिले-डुले नहीं। मुझे तुम सब बातों में इन्द्र से भी बढ़कर जान पड़ते हो ३६।४१॥

अब मातलि आकाश-मार्ग में पहुंचकर मुझे देवताओं के भवन और विमान दिखाने लगा। वह रथ ऊपर उठता जाता था और [राह के लोकों में मिलनेवाले] देवता और ऋषिगण पूजा कर रहे थे। फिर मैंने देवर्षियों के लोक देखे। गन्धर्वों और अप्सराओं का प्रभाव भी मैंने देखा। इन्द्र के सारथी मातलि ने देवताओं के नन्दन आदि वन और उपवन भी मुझे दिखाये। फिर इन्द्र की अमरावती पुरी मुझे देख पड़ी। सब ऋतुओं में फूलने-फलनेवाले वृक्ष और रत्न उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे ॥४२।४६॥

न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते ॥ ४७ ॥
दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन ।
न क्रोधलोभौ तत्राऽऽस्तां सुरादीनां विशांपते ॥ ४८ ॥
नित्यतुष्टाश्च ते राजन्प्राणिनः सुरवेश्मनि ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ४९ ॥
पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ।
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगंधी जीवनः शुचिः ॥ ५० ॥
सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ।
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ॥ ५१ ॥
विमानगामिनश्चाऽत्र दृश्यंते बहवोऽबरे ।
ततोऽपश्यं वसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥ ५२ ॥
आदित्यानश्विनौ चैव तान्सर्वान्प्रत्यपूजयम् ।
ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च ॥ ५३ ॥
अस्त्रैश्चाऽप्यन्वजानंत संग्रामे विजयेन च ।
प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ॥ ५४ ॥
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृतांजलिः ।
ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः ॥ ५५ ॥

वहाँ न तो शीत है, न गर्मी और न सूर्य का उत्ताप। वहाँ बुढ़ापे का नाम तक भी नहीं। शोक, दुःख, दीनता, दुर्बलता, सुस्ती, क्रोध, लोभ अथवा रजोगुण के और विकार या पीड़ाएं भी वहां नहीं हैं। देवलोक के रहनेवाले प्राणी सदा सन्तुष्ट रहते हैं। वहां के वृक्ष नित्य फूले-फले रहते हैं। उनमें सदा हरे-हरे पत्ते लगे रहते हैं। वहां के सरोवरों में अनेक प्रकार के सुगन्धित कमल लगे हुए हैं। वहां शुभ शीतल सुगन्धित वायु चला करती है। वहां की भूमि रत्नमयी और विचित्र है। उस पर फूल बिखरे पड़े रहते हैं ॥४७।५१॥

मधुर स्वरवाले पक्षी और मृग इधर-उधर विचरते देख पड़ते हैं। आकाश में विमानों पर सैर करनेवाले बहुत से देवता देख पड़ते हैं। फिर मैंने वहां आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण और अश्विनीकुमारों को देखकर उनका पूजन और सत्कार किया। उन्होंने यह कहकर मुझे आशीर्वाद दिया कि वीर्य, यश, तेज, अस्त्र और युद्ध में विजय प्राप्त हो। फिर मैं उस देवगन्धर्व-पूजित दिव्य नगरी में गया। हाथ जोड़े हुए मैं इन्द्र के पास पहुँचा। उन्होंने प्रसन्नता-

वहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ।
तत्राऽहं देवगंधर्वैः सहितो भूरिदक्षिणैः ॥ ५६ ॥
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत ।
विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत्सखा ॥ ५७ ॥
स च गांधर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ।
तत्राऽहमवसं राजन्गृहीतास्त्रः सुपूजितः ॥ ५८ ॥
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ।
शृण्वन्वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम् ।
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यंतीर्भरतर्षभ ॥ ५९ ॥
तत्सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत ।
अत्यर्थं प्रतिगृह्याऽहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ॥ ६० ॥
ततोऽतुष्यत्सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ।
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद्दिवि ॥ ६१ ॥
कृतास्त्रमतिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ।
संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६२ ॥
न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ।
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ॥ ६३ ॥

पूर्वक मुझे अपने ही आसन पर बिठा लिया और मेरे शरीर पर हाथ फेरकर मुझे बहुत मान दिया ॥५२।५६॥

हे महाराज ! फिर मैं अस्त्र-शिक्षा प्राप्त करता हुआ वहा उन देवताओं और गन्धर्वों के साथ रहने लगा जिन्होंने बड़ी बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ करके उस लोक को प्राप्त किया है। विश्वावसु के पुत्र चित्रसेन गन्धर्व के साथ मेरी गहरी मित्रता हो गई। उन्होंने मुझे गन्धर्वों की सब विद्या बता दी। राजन् ! अस्त्र पाकर, कृतकृत्य होकर, बड़े सुख से मैं इन्द्रलोक में रहा। वहा सब लोग मेरा बड़ा आदर करते थे। वहा मैं कभी तरह-तरह के गाने और बजाने का आनन्द लूटता था और कभी अप्सराओं का बढ़िया नाच देखता था ॥५७।५९॥

यद्यपि मैं वहा की सभी बातों को सादर देखता-सुनता था तो भी अपनी ही धुन में लगे रहकर बड़ी लगन से अस्त्र शिक्षा को ही अपना मुख्य उद्देश्य समझे हुए था। मेरी इस तत्परता को देखकर देवराज मुझसे बहुत प्रसन्न रहते थे। राजन् ! इस तरह मैंने इतना समय स्वर्ग में व्यतीत किया है। अस्त्र-विद्या

अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ।
अथाऽब्रवीत्पुनर्देवः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ ६४ ॥
अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद्भविष्यति ।
अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेंद्रियः ॥ ६५ ॥
ब्रह्मण्यश्चाऽस्त्रविच्चाऽसि शूरश्चाऽसि कुरूद्वह ।
अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पंच च ॥ ६६ ॥
पंचभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः ।
प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनंजय ॥ ६७ ॥
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतीघातं च सर्वशः ।
ततो गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परंतप ॥ ६८ ॥
प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्स्याम्यहं परम् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन्देवराजमिदं वचः ॥ ६९ ॥
विषह्यं यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ।
ततो मामब्रवीद्राजन्प्रहसन्बलवृत्रहा ॥ ७० ॥
नाऽविषह्यं तवाऽद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किंचन ।
निवातकवचा नाम दानवा मम शात्रवः ॥ ७१ ॥

सीखकर जब मैं अत्यन्त विश्वासपात्र हो गया तब एक दिन इन्द्र ने स्नेहपूर्वक मेरे सिर पर हाथ फेरकर कहा—तुम युद्ध में अद्वितीय हो चुके हो। तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। तुम्हारे बल का पार नहीं है। मनुष्य-लोक में रहनेवाले दुर्बल मनुष्यों को कौन कहे, देवता भी तुमको युद्ध में नहीं जीत सकते। हे वीर! अस्त्र-युद्ध में कोई तुम्हारी बराबरी या सामना न कर सकेगा। तुम सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सदा सावधान, सब बातों में निपुण, ब्राह्मणों के भक्त, शूर और अस्त्र-विद्या में पारंगत हो। ॥६०।६६॥

तुमने पांच प्रकार के प्रयोगों के साथ पन्द्रह अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की है। तुम्हारे साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती। तुम प्रयोग, उपसंहार, बारंबार प्रयोगोपसंहार, प्रायश्चित्त (अस्त्र की अग्नि से जले हुए निरपराध मनुष्यों को जिला देना) और प्रतिघात (पराये अस्त्र से अभिभूत अपने अस्त्र को फिर उद्दीप्त करना) आदि को अच्छी तरह जान गये हो। अब यह गुरुदक्षिणा देने का समय है। पहले तुम उसे देने का वादा करो, तब मैं तुमसे कहूँगा कि तुमको क्या करना होगा। मैंने कहा—जो कार्य मेरी शक्ति से हो सकता है उसे मेरे द्वारा किया हुआ ही समझिए। इन्द्र ने हँसकर कहा—हे निष्पाप! इस समय त्रिभुवन में ऐसा कोई कार्य

समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गं प्रतिवसन्त्युत ।
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ॥ ७२ ॥
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ।
ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ॥ ७३ ॥
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ।
बबन्ध चैव ते मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ॥ ७४ ॥
स्वरूपसदृशं चैव प्रादादंगविभूषणम् ।
अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ॥ ७५ ॥
अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत् ।
ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ॥ ७६ ॥
येनाऽजयद्देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा ।
ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ॥ ७७ ॥
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशांपते ।
दृष्ट्वा च मामपृच्छंत किं करिष्यसि फाल्गुन ॥ ७८ ॥
तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्ताऽस्मि संयुगे ।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ॥ ७९ ॥

नहीं जिसे तुम न कर सको। मेरे शत्रु निवातकवच नाम के तीन करोड़ दानव समुद्र-दुर्ग में रहते हैं। वे सब रूप, बल और कान्ति में एक से हैं। मैं तुमसे यही गुरु-दक्षिणा मांगता हूं कि तुम समुद्र-दुर्ग में जाकर उन सबका नाश करो ॥६७।७२॥

फिर इन्द्र ने मुझे मनोहर शोभावाला रथ दिया। उसमें मोर के रंग के घोड़े जुते हुए थे; मातलि सारथी उसे हाँकता था। उसकी चमक आँखों में चकाचौंध पैदा कर रही थी। इन्द्र ने मेरे माथे पर अपने हाथ से यह सुन्दर किरीट बाँध दिया। अपने ही ऐसे दिव्य गहने भी दिये। यह सब अंगों को सुख पहुँचानेवाला अभेद्य कवच भी दिया। गाण्डीव धनुष पर चढ़ाने के लिए यह दिव्य डोरी भी दी। यह डोरी किसी से काटे नहीं कट सकती। इन्द्र ने जिस पर बैठकर विरोचन के पुत्र बलि को जीता था उसी रथ पर बैठकर मैं वहां से चला ॥७३।७७॥

उस रथ के शब्द को सुनकर देवता लोग मुझे इन्द्र समझकर, देखने के लिए एकत्र होने लगे। मुझे देखकर उन्होंने कहा—हे अर्जुन ! तुम क्या करने जा रहे हो ? मैंने कहा—हे देवताओ ! मैं इन्द्र के वैरी निवातकवच दानवों को मारने जा रहा

निबोधत महाभागाः शिवं चाऽऽशास्त मेऽनघाः ।
तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरन्दरम् ॥ ८० ॥
रथेनाऽनेन मघवा जितवाञ्शंवरं युधि ।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ॥ ८१ ॥
बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदान्यपि ।
रथेनाऽनेन दैत्यानां जितवान्मघवा युधि ॥ ८२ ॥
त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान्रणे ।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवा वशी ॥ ८३ ॥
अयं च शंखप्रवरो येन जेताऽसि दानवान् ।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ॥ ८४ ॥
प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम् ।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदाऽमरैः ॥ ८५ ॥
स शंखी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः ।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥ ८६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६८॥

हूं। आप लोग मुझे शुभ आशीर्वाद दीजिए ! तब सब देवता सन्तुष्ट होकर इन्द्र की तरह मेरी भी स्तुति करते हुए कहने लगे—हे निष्पाप! इस रथ पर बैठकर इन्द्र ने युद्ध में शंबर, नमुचि, बल, वृत्र, प्रह्लाद, नरकासुर आदि सहस्रों लाखों-करोड़ों दैत्यों को मारा और जीता है ॥७८।८१॥

तुम भी इस रथ के प्रभाव से, उन्हीं इन्द्र की तरह, युद्ध में अपना पराक्रम दिखाकर निवातकवच दानवों को मारोगे। हम तुमको यह शङ्ख देते हैं। इस शङ्ख के प्रभाव से इन्द्र ने त्रिलोकी का प्रभुत्व पाया है। तुम भी इस शङ्ख के प्रभाव से सब दानवों को जीत लोगे। बस, वह शङ्ख देकर वे लोग मेरी जय की इच्छा प्रकट करने और आशीर्वाद देने लगे। देवताओं के दिये (देवदत्त) उस शङ्ख को लेकर, कवच-धनुषबाण आदि से भूषित, मैं युद्ध की इच्छा से उन दानवों के दुर्ग की ओर चला ॥८२।८६॥

वनपर्व का एक सौ अड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६८॥

अथ ऊनसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६९॥

अर्जुन उवाच—ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः ।
अपश्यमुदधिं भीममपां पतिमथाव्ययम् ॥ १ ॥

फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुत्थिताः ।
ऊर्मयश्चाऽत्र दृश्यंते वल्गन्त इव पर्वताः ॥ २ ॥
नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समंततः ।
तिमिंगिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिंगिलाः ॥ ३ ॥
मकराश्चाऽत्र दृश्यंते जले मग्ना इवाऽद्रयः ।
शंखानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ॥ ४ ॥
दृश्यंते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ।
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसंघाः प्लवंत्युत ॥ ५ ॥
वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वांभोनिधिमुत्तमम् ॥ ६ ॥
अपश्यं दानवाकीर्णं तद्दैत्यपुरमंतिकात् ।
तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ॥ ७ ॥
रथं तं तु समालक्ष्य प्राद्रवद्रथयोगवित् ।
त्रासयन्रथघोषेण तत्पुर समुपाद्रवत् ॥ ८ ॥
रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाऽम्बरे ।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाऽभवन् ॥ ९ ॥

एक सौ उनहत्तर अ याय ॥ १६९ ॥

अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! रास्ते में अनेक स्थान मिले । वहा महर्षियों ने सत्कार और स्तुति से मुझे सन्तुष्ट किया । फिर मैंने भयानक अपार महासागर के दर्शन किये । उसमें फेना फैला हुआ था । उसकी लहरें कभी इधर उधर बिखर जाती थीं, कभी आपस में टकराती थीं और कभी ऊपर को उठने से चलते हुए ऊंचे पर्वत के समान जान पड़ती थीं। रत्नों से भरी हुई सहस्रों नावें उसके भीतर थीं । तिमिङ्गिल, कच्छप, तिमि तिमिङ्गिल और मगर आदि जीव जल में डूबे हुए पर्वतों के सामने देख पड़ते थे । जल में डूबे हुए सहस्रों शङ्ख हलके बादलों से ढके हुए तारागण के समान जान पड़ते थे । और भी अनेक रत्न उसके ऊपर तैर रहे थे ॥१।५॥

वहा वायु बड़े ज़ोर से चल रही थी । समुद्र का वह दृश्य मुझे बड़ा अद्भुत मालूम हुआ । अथाह समुद्र की शोभा देखते देखते मैं अनेक दानवों से पूर्ण दैत्यपुरी के पास पहुँच गया । रथ चलाने की क्रिया में निपुण मातलि उसी समय रथ लेकर पताल में पहुँचा । रथ के शब्द को सुनकर उस पुरी के निवासी डर गये । आकाश में मेघ की गर्जन के समान

सर्वे संभ्रांतमनसः शरचापधराः स्थिताः ।
तथाऽसिशूलपरशुगदामुसलपाणयः ॥ १० ॥
ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः ।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥ ११ ॥
ततः शंखमुपादाय देवदत्तं महास्वनम् ।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमं तं शनैरहम् ॥ १२ ॥
स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत् ।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहांत्यपि ॥ १३ ॥
ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः ।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ॥ १४ ॥
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥ १५ ॥
शतघ्नीभिर्भुशुंडीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः ।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन्सहस्रशः ॥ १६ ॥
ततो विचार्य बहुशो रथमार्गेषु तान्हयान् ।
प्राचोदयत्समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥ १७ ॥
तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम् ।

उस रथ की घरघराहट को सुनकर दानवों ने मुझे इन्द्र समझा। इससे वे बहुत ही घबराये। फिर धनुष, बाण, खड्ग, शूल, परशु, गदा, मूसल आदि शस्त्र लिये द्वारों को रोककर, भीतर जाने की राह रोककर, भीतर जाने की राह रोके हुए, वे पुरी की रक्षा करने लगे। मुझे वहां अपने सामने कोई नहीं देख पड़ा ॥९।११॥

तब मैं उस 'देवदत्त' शङ्ख को हाथ में लेकर बजाने लगा। उस शङ्ख का शब्द स्वर्ग तक गूंज उठा। आसपास चारों ओर उसकी प्रतिध्वनि छा गई। बड़े-बड़े बलवान् प्राणी भी डरकर इधर-उधर छिपने लगे। इसी बीच में, सुन्दर गहने और कवच पहने, लोहे के महाशूल, गदा, मूसल, पट्टिश, करवाल, रथचक्र, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डी (बन्दूक) और जड़ाऊ विचित्र खड्ग आदि शस्त्र लिये हुए सहस्रों निवातकवच दानव मुझे सामने आते दिखाई पड़े। तब मातलि सारथी बड़ी ही सावधानी के साथ घोड़ों को चलाने लगा। वे घोड़े इतने वेग से चले जा

नाऽन्वपश्यं तदा किंचित्तन्मेऽद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १८ ॥
ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः ।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यनादयन् ॥ १९ ॥
तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः ।
आप्लवंत गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥ २० ॥
ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन् ।
विमुंचंतः शितान्बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥
स संप्रहारस्तुमुलस्तेषां च मम भारत ।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचांतकः ॥ २२ ॥
ततो देवर्षयश्चैव दानवर्षिगणाश्च ये ।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥ २३ ॥
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः ।
अस्तुवन्मुनयो वाग्भिर्यथेंद्रं तारकामये ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वाणिनिवातकवचयुद्धपर्वाणि युद्धारंभे ऊनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

रहे थे कि मेरी दृष्टि किसी भी पदार्थ पर नहीं ठहर सकती थी। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उधर दानव भी विकृत स्वर और रूपवाले तरह-तरह के मारू बाजे बजाने लगे। उन बाजों के और दैत्यों के घोर शब्द को सुनकर पर्वत ऐसे डील-डौलवाले सैकड़ों सहस्रों मच्छ आदि जल-जन्तु बहुत व्याकुल हुए और इधर-उधर भागने लगे ॥१२।२०॥

अब वे दानव सैकड़ों-हजारों तीक्ष्ण बाण बरसाते हुए मेरी ओर दौड़े। मैं भी निवातकवचों को नष्ट करने के विचार से उनके साथ घोर युद्ध करने लगा। उस महायुद्ध को देखने के लिए देवर्षि, ब्रह्मर्षि, दानवर्षि और सिद्धगण वहाँ पर आ गये। बृहस्पति की भार्या तारा को हर लेने पर जब उसके कारण दारुण सङ्ग्राम हुआ तब इन्द्र की जैसे स्तुति की गई थी, वैसे ही मेरी जय की इच्छा से मुनि लोग मधुर वचनों से स्तुति करने लगे ॥२१।२४॥

—०—

वनपर्व का एक सौ उनहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१६९॥

अथ सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७०॥

अर्जुन उवाच—ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत ।
अभ्यद्रवन्मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥ १ ॥

आच्छाद्य रथपंथानमुत्क्रोशंतो महारथाः ।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २ ॥
ततो परे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुंडीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥ ३ ॥
तच्छूलवर्षं सुमहद्गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥ ४ ॥
अन्ये मामभ्यधावंत निवातकवचा युधि ।
जितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥ ५ ॥
तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गांडीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ॥ ६ ॥
ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते संप्रचोदिताः ॥ ७ ॥
मार्गान्बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ॥ ८ ॥
शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन्युक्ता महारथे ।
शांता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥ ९ ॥

एक सौ सत्तर अध्याय ॥ १७० ॥

अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! तब सब दानव एकत्र हो, शस्त्र लेकर, वेग से मेरी ओर दौड़े । वे चिल्लाने लगे । उन्होंने मुझे चारों ओर से घेर लिया । मेरे रथ की राह रोककर वे मुझ पर घोर बाण बरसाने लगे । कुछ महाबली दानव शूल, पट्टिश, भुशुण्डि आदि शस्त्र बरसाने लगे । गदा, शक्ति, शूल आदि सहस्रों शस्त्र मेरे रथ के ऊपर लगातार गिरने लगे । पैने शस्त्र-अस्त्र हाथ में लिये प्रहार करते हुए, कालरूप, घोर निवातकवच दानवों को अपने ऊपर झपटते देखकर मैं भी गाण्डीव धनुष चढ़ाकर एक-एक शत्रु को दस-दस बाणों से घायल करने लगा । मेरे पैने बाणों की चोट न सह सकने के कारण उनमें से बहुतेरे युद्ध से भाग खड़े हुए । फिर घोड़ों को हांककर मातलि तरह-तरह के कौशल दिखाने लगा । वे घोड़े भी युद्धभूमि में अपनी टापों से दानवसेना को मथते हुए अनेक मण्डलों और गतियों से चारों ओर विचरने लगे । इन्द्र के रथ में दस हजार घोड़े जुते हुए थे । मातलि ऐसे कौशल से उनको हांक रहा था कि वे बहुत होने पर भी थोड़े से जान पड़ते थे । घोड़ों की टापों और पहियों

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥ १० ॥
गतासवस्तथैवाऽन्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हता सारथयस्तत्र व्यकृष्यंत तुरंगमैः ॥ ११ ॥
ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
अभ्यघ्नन्विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥ १२ ॥
ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यद्यत्नादधारयत् ॥ १३ ॥
ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान्रणे ।
चिच्छेद सायुधान्राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥
एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमान भवद्वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥ १५ ॥
वध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन्प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तंत तथाऽपरे ॥ १६ ॥
स्पर्धमाना इवाऽस्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैः शरार्तं मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ॥ १७ ॥

के नीचे कुचलकर तथा मेरे बाणों से मरकर अनेक असुर नष्ट होने लगे ॥१।१०॥

किसी-किसी असुर का सारथी मारा गया और वह स्वयं भी मर गया; घोड़े उसके रथ को इधर-उधर घसीटने लगे। तब फिर वे दानव चारों ओर से घेरकर मुझ पर शस्त्रों की वर्षा और आक्रमण करने लगे। उनके प्रबल आक्रमण से मैं भी व्यथित हो गया। उस समय मैंने मातलि का अद्भुत पराक्रम और कौशल देखा। उसने बड़े वेग से जाते हुए घोड़ों को सहज ही अपने काबू में रखकर रथ को चलाया। मैं भी फुर्ती के साथ जानेवाले विचित्र अस्त्र से उन दानवों के चलाये अस्त्र-शस्त्रों को काट-कर उन्हें भी एक साथ सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में मारने लगा। इन्द्र का सारथी मातलि मुझे इस प्रकार शत्रुओं के संहार में सब तरह तत्पर देखकर बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥११।१५॥

कुछ असुरों को घोड़ों ने अपने पांवों से रौंद डाला; कुछ असुर उस महान् रथ के पहियों के नीचे दबकर मर गये; कुछ को मैंने मार डाला और कुछ अपनी जान लेकर भाग खड़े हुए। फिर और निवातकवच आ गये और वे होड़ सी लगाकर बाणों की वर्षा करके मुझे सताने लगे। मैं भी महास्त्र से

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमंत्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥
ततः संपीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महारथाः ।
अपीडयन्मां सहिताः शक्तिशूलासिवृष्टिभिः ॥ १९ ॥
ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतेजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ॥ २० ॥
ततः खड्गत्रिशूलेन तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तान्हमाच्छिदम् ॥ २१ ॥
छित्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद्दशभिर्दशभिः शरैः ॥ २२ ॥
गांडीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपंक्तयः ।
निष्पतंति महाबाणास्तन्मातलिरपूजयत् ॥ २३ ॥
तेषामपि तु बाणास्ते बहुत्वाच्छलभा इव ।
अवाकिरन्मां बलवत्तानहं व्यधमं शरैः ॥ २४ ॥
वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समंतात्पर्यवारयन् ॥ २५ ॥

अभिमन्त्रित बाण चलाकर दैत्यों को मारने लगा। मेरे बाणों से पीड़ित वे दानव भी क्रुद्ध होकर, मिलकर, मुझ पर शूल, शक्ति, खड्ग आदि की वर्षा करने और पीड़ा पहुँचाने लगे। तब मैंने इन्द्र के परम प्रिय गान्धर्व नाम के अस्त्र का प्रयोग किया। यह अस्त्र मधु दैत्य को मारने के लिए बनाया गया था ॥१६।२०॥

इस अस्त्र की सहायता से मैंने दैत्यों के चलाये हुए असंख्य खड्ग, त्रिशूल, तोमर आदि शस्त्रों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस प्रकार उनके शस्त्रों को काटने के पश्चात् मैंने कुपित होकर उनमें से प्रत्येक को दस-दस बाण मारे। उस समय गाण्डीव धनुष से भौंरों की पाँति के समान तीक्ष्ण बाण निकलने लगे। मातलि ने यह फुर्ती देखकर मेरी प्रशंसा की। [निवातकवच करोड़ों थे, इसलिए टिड्डी-दल की तरह] उनके भी बाण मेरे ऊपर आने लगे। मैंने उनके बाणों को काट डाला। मैं निवातकवचों को अपने बाणों और दिव्य अस्त्रों से मार रहा था। वे बारम्बार आक्रमण करते हुए मुझ पर चारों ओर से बाणों की वर्षा कर रहे थे। मैं भी शत्रु के अस्त्रों को नष्ट करनेवाले अस्त्रों की सहायता से उनके बाणों को निष्फल कर रहा था।

शरवेगान्निहत्याऽहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः ।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ॥ २६ ॥
तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजंति स्म शोणितम् ।
प्रावृषीवाऽभिवृष्टानि शृंगाण्यथ धराभृताम् ॥ २७ ॥
इंद्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ॥ २८ ॥
शतधा भिन्नदेहास्ते क्षीणप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यंत मायया ॥ २९ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचवधे सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७०॥

अत्यन्त क्रुपित होकर मैं अग्नि के समान जलते हुए बाणों से उन दानवों को घायल करने लगा। वर्षाकाल में जैसे पर्वत के शिखरों से जलधारा बहती है वैसे ही अङ्ग कट जाने से उनके शरीरों से रक्त बहने लगा। वेग के कारण सीधे जानेवाले वज्रतुल्य मेरे बाणों की चोट खाकर वे दानव बहुत घबराये। दानव जब बहुत घायल हो गये, उनके शस्त्र चुक गये और शक्ति भी क्षीण हो गई, तब वे मुझसे मायायुद्ध करने लगे ॥२१।२९॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७० ॥

अथ एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

अर्जुन उवाच—ततोऽश्मवर्षं सुमहत्प्रादुरासीत्समंततः ।
नगमात्रैः शिलाखंडैस्तन्मां दृढमपीडयत् ॥ १ ॥
तदहं वज्रसंकाशैर्महेंद्रास्त्रप्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे ॥ २ ॥
चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राऽश्मचूर्णान्यपतन्पावकप्रकरा इव ॥ ३ ॥

एक सौ इकहत्तर अध्याय ॥१७१॥

अर्जुन ने कहा— हे महाराज! इसके पश्चात् चारों ओर से मुझ पर पत्थरों की वर्षा होने लगी। उन पर्वताकार बड़ी-बड़ी शिलाओं से पीड़ित होने पर मैंने इन्द्रास्त्र का सहारा लिया। वज्र-सदृश दृढ़ बाण मेरे धनुष से छूटकर एक-एक शिला के सौ-सौ टुकड़े करने लगे। इस प्रकार पत्थरों के टुकड़े-टुकड़े

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममांतिके ॥ ४ ॥
नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन्सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ ५ ॥
धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥
धारा दिवि च संबद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयंत मां तत्र निपतंत्योऽनिशं भुवि ॥ ७ ॥
तत्रोपदिष्टमिंद्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत्तेन तज्जलम् ॥ ८ ॥
हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च भारत ॥ ९ ॥
ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥ १० ॥
तस्यां प्रतिहतायां ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन्विविधां मायां यौगपद्येन भारत ॥ ११ ॥
ततो वर्षं प्रादुरभूत्सुमहल्लोमहर्षणम् ।

होकर रगड़ खाने से एकाएक अग्नि जल उठी। अग्नि की चिनगारियाँ जिससे निकल रही थीं ऐसा पत्थर का चूरा बरसने लगा। उस उपद्रव को भी जब मैंने अस्त्र की सहायता से मिटा दिया तब, रथ के धुरे के समान मोटी, मूसलाधार वर्षा होने लगी। आकाश से गिरनेवाली ऐसी जलधाराओं से दिशा, उपदिशा और अन्तरिक्ष व्याप्त हो गया ॥१।५॥

धाराओं के गिरने, आँधी के चलने और बादलों तथा दैत्यों के गरजने से ऐसा हो गया कि कुछ भी नहीं जान पड़ता था। उस लगातार घोर जलवर्षा ने आकाश और पृथ्वी को छा लिया; इससे मैं मोहित सा हो गया। तब मैंने इन्द्र के बताये विशोषण अस्त्र का प्रयोग करके उस जलराशि को सुखा दिया। अब दैत्यों ने मायाबल का सहारा लेकर अग्नि और वायु उत्पन्न कर दी। मैंने भी वारुण अस्त्र से अग्नि को और पर्वतास्त्र से वायु के वेग को शान्त कर दिया ॥६।१०॥

तब युद्ध करने में मतवाले दानव एक साथ बहुत सी माया प्रकट करके घोर, रोमाञ्चकारी अनेक

अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाऽश्मनाम् ॥ १२ ॥
सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ १३ ॥
तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च।
हरयो विमुखाश्चाऽऽसन्प्रास्खलच्चापि मातलिः ॥ १४ ॥
हस्ताद्धिरण्मयश्चाऽस्य प्रतोदः प्रापतद्भुवि।
असकृच्चाऽऽह मां भीतः क्वाऽसीति भरतर्षभ ॥ १५ ॥
मां च भीराविशत्तीव्रा तस्मिन्विगतचेतसि।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्तमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत्।
अमृतार्थं पुरा पार्थ स च दृष्टो मयाऽनघ ॥ १७ ॥
शंबरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत्।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥ १८ ॥
तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ॥ १९ ॥
एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः।

अस्त्रों की, अग्नि की वायु की और पत्थरों की वर्षा करने लगे। चारों ओर घना अँधेरा छा जाने से घोड़े चल न सके और मातलि भी विचलित हो उठा। उसके हाथ से सुवर्णमय चाबुक गिर पड़ा। वह डरकर बारम्बार मुझसे कहने लगा कि हे अर्जुन! तुम कहाँ हो ॥११।१५॥

मैं भी उस समय घोर माया के प्रभाव से पीड़ित हो रहा था। मातलि की यह दशा देखकर मैं डर गया। अचेत की तरह मातलि ने मुझे डरा और व्याकुल हुआ देखकर कहा—हे भरतश्रेष्ठ! पहले अमृत के लिए देवताओं और दानवों का जो भयङ्कर संग्राम हुआ था वह मैं देख चुका हूँ। शम्बरासुर को मारने के समय जो संग्राम हुआ था, उसमें भी मैं इन्द्र का सारथी था। वृत्रासुर-वध के युद्ध में भी मैंने ही इन्द्र के रथ को हाँका था। राजा बलि और इन्द्र का दारुण युद्ध भी मैंने देखा है। तात्पर्य यह है कि मैं सभी घोर युद्धों में था; परन्तु मैं कभी इस तरह अचेत नहीं हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि विधाता जगत् को चौपट करने के लिए उद्यत है। प्रलयकाल के सिवा ऐसा युद्ध होना असम्भव है ॥१६।२१॥

मातलि के ये वाक्य सुनकर और उसे डरा

न चापि विगतज्ञानो भूतपूर्वोऽस्मि पांडव ॥ २० ॥
पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम् ।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥ २१ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
मोहयिष्यन्दानवानामहं मायाबलं महत् ॥ २२ ॥
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम् ।
अस्त्राणां च प्रभावं वै धनुषो गांडिवस्य च ॥ २३ ॥
अद्याऽस्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम् ।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ॥ २४ ॥
एवमुक्त्वाऽहमसृजमस्त्रमायां नराधिप ।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥ २५ ॥
पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः ।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ॥ २६ ॥
पुनः प्रकाशमभवत्तमसा ग्रस्यते पुनः ।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥
सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः ।
व्यचरत्स्यंदनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २८ ॥
ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि ।

हुआ देखकर मैं सँभल गया । फिर दैत्यों के माया-बल को मिटाकर उन्हें मोहित करने की इच्छा से मैंने कहा—हे मातलि ! डरो नहीं; मेरे बाहुबल को, अस्त्रों के और गाण्डीव धनुष के प्रभाव को देखो । मैं अभी अपने अस्त्रों की माया से दानवों की इस दारुण माया को और घने अँधेरे को मिटाये देता हूँ । तुम स्थिर होकर अपने आसन पर बैठो। अब मैंने देवताओं के हित की इच्छा से सब प्राणियों को मोहित करनेवाली अस्त्र-माया प्रकट कर दी ॥२२।२५॥

उसके प्रभाव से पहले की मायाओं को नष्ट होते देखकर वे पराक्रमी दानव फिर तरह-तरह की माया प्रकट करने लगे । कभी उजाला हो जाता था और कभी घना अँधेरा छा जाता था । कभी कुछ न देख पड़ता था और कभी सब स्थान जल में डूबा हुआ देख पड़ता था । उजाला होते ही

तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥ २९ ॥
वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचांतके ।
नाऽपश्यं सहसा सर्वान्दानवान्मायया वृतान् ॥ ३० ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७१॥

मातलि ने घोड़ों को हाँका। वह रथ को चारों ओर फिराने लगा। तब फिर उस निवातकवच दानवों ने सामने आकर मुझ पर घोर आक्रमण किया। मैं भी अवसर पाकर उन्हें मार-मारकर यमलोक भेजने लगा। इस प्रकार घोर युद्ध करके जब मैं निवातकवचों का नाश करने लगा तब वे माया के बल से एकाएक अदृश्य हो गये ॥२९।३०॥

—०—

वनपर्व का एक सौ एकहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७१॥

अथ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७२॥

अर्जुन उवाच—अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयंति स्म मायया ।
अदृश्येनाऽस्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ॥ १ ॥
गांडीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः ।
अच्छिन्दन्नुत्तमांगानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ॥ २ ॥
ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन्पुरमात्मनः ॥ ३ ॥
व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवांस्तत्र हतान्शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यंते गात्राणि कवचानि च ॥ ५ ॥

एक सौ बहत्तर अध्याय ॥१७२॥

अर्जुन ने कहा—दैत्य लोग माया के प्रभाव से अदृश्य होकर युद्ध करने लगे। तब मैं भी अदृश्य अस्त्रों की सहायता से युद्ध में प्रवृत्त हुआ। मेरे गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाण उनके सिरों को काट-काटकर इधर-उधर गिराने लगे। अस्त्र के प्रभाव से मेरे बाण ठीक उसी जगह पर पहुँचते थे, जहाँ से छिपकर वे युद्ध कर रहे थे। इस प्रकार जब मैं संहार करने लगा तब सब निवातकवच माया छोड़कर एकाएक अपने नगर में चले गये। दैत्य जब चले गये और माया नष्ट हो गई तब मैंने देखा कि सैकड़ों हजारों दैत्य मरे पड़े हैं ॥१।४॥

उनके शस्त्र, गहने, कवच और अङ्ग-प्रत्यङ्ग

हयानां नांऽतरं ह्यासीत्पदाद्विचालितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरंतरिक्षगमास्ततः ॥ ६ ॥
ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यत्यवर्तंत विसृजंतः शिलोच्चयान् ॥ ७ ॥
अंतर्भूमिगताश्चाऽन्ये हयानां चरणान्यथ ।
व्यगृह्णन्दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥ ८ ॥
विनिगृह्य हरीनश्वान्रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यंत सरथं धरणीधरैः ॥ ९ ॥
पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथाऽपरैः ।
स देशो यत्र वर्ताम गुहेव समपद्यत ॥ १० ॥
पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ॥ ११ ॥
लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनाऽर्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥ १२ ॥
ततोऽहं तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ॥ १३ ॥
अचलं स्थानमासाद्य गांडीवमनुमन्त्र्य च ।

ढेर के ढेर कटे-फटे और पिसे हुए पड़े हैं । उनके मारे घोड़ों के लिये चलने की राह नहीं थी । तब मेरे रथ के घोड़े आकाश-मार्ग में चलने लगे । असंख्य निवातकवच दानव फिर आकाश में आकर अदृश्य भाव से मेरे ऊपर पत्थर बरसाने लगे । कुछ दानवों ने पृथ्वी के भीतर से मेरे रथ के पहियों को और घोड़ों के पैरों को पकड़ लिया । इस प्रकार रथ और घोड़ों को रोककर चारों ओर से वे मुझ पर और मेरे रथ पर पर्वत गिराने लगे । उन्होंने इतने पर्वत बरसाये कि उनके एकत्र होने से वह स्थान, जहां पर मैं था, एक गुफा के समान जान पड़ने लगा । लगातार पर्वतों की वर्षा होने से और रथ की गति रुक जाने से मैं बहुत ही पीड़ित और भयभीत हुआ । ॥५-११॥

मुझे डरा हुआ देखकर मातलि ने कहा— हे अर्जुन ! डरो नहीं; वज्रास्त्र का प्रयोग करो । मातलि के वचन सुनकर मैं संभल गया । फिर गाण्डीव धनुष हाथ में लेकर, उसमें वज्रास्त्र को अभिमन्त्रित

अमुंचं वज्रसंस्पर्शानायसान्निशिताञ्शरान् ॥ १४ ॥
ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥ १५ ॥
ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन्पृथिवीतले ॥ १६ ॥
अंतर्भूमौ च येऽगृह्णन्दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान्बाणाः प्राहिण्वन्यमसादनम् ॥ १७ ॥
हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ १८ ॥
न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चाऽदृश्यत तदा तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १९ ॥
ततो मां प्रहसन्राजन्मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्ष्यते ॥ २० ॥
हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन्नगरे तस्मिन्यथा शरदि सारसाः ॥ २१ ॥
ततो मातलिना सार्धमहं तत्पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन्रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः ॥ २२ ॥

करके, मैं भयानक तीक्ष्ण बाण छोड़ने लगा। वे लोहे के बने वज्र-सदृश बाण धनुष से निकलकर दैत्यों की सेना में जाने लगे। अस्त्र के प्रभाव से दैत्यों की माया नष्ट हो गई। वज्र के प्रहार से मरकर पर्वत ऐसे दानव एक दूसरे से लिपटे हुए पृथ्वी पर गिरने लगे ॥१२।१६॥

पृथ्वी के भीतर घुसकर जिन दानवों ने घोड़ों को और रथ के पहियों को पकड़ लिया था उन्हें भी, उन बाणों ने वहां जाकर, उसी समय मार डाला। फटकर गिरे हुए पर्वत ऐसे, मरे हुए, निवातकवच दानवों की लाशों से वह स्थान पट गया। हे महाराज! यह एक विचित्र बात देख पड़ी कि उस युद्ध में मुझे, मातलि को, रथ को या घोड़ों को कुछ भी हानि नहीं पहुँची। अब मातलि ने हँसकर मुझसे कहा—हे अर्जुन! देवताओं में भी तुम्हारे समान वीर योद्धा कोई नहीं देख पड़ता ॥१७।२०॥

देखो, तुम्हारे प्रभाव से ही असुर मर गये। शरद् ऋतु के बादलों के गरजने के समान नगर में चारों ओर दैत्यों की स्त्रियों के रोने का शब्द सुन पड़ रहा है। हे महाराज! फिर मैं रथ के पहियों की घर-

तान्दृष्ट्वा दशसाहस्रान्मयूरसदृशान्हयान् ।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन्गणशः स्त्रियः ॥ २३ ॥
ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पततीनाम भूत्तदा ॥ २४ ॥
वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताःस्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ २५ ॥
तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ॥ २६ ॥
इदमेवंविधं कस्माद्देवा नाऽऽवासयंत्युत ।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये ॥ २७ ॥
मातलिरुवाच—आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम् ।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ॥ २८ ॥
तपस्तप्त्वा महत्तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम् ।
इदं वृत्तं निवासाय देवेभ्यश्चाऽभयं युधि ॥ २९ ॥
ततः शक्रेण भगवान्स्वयंभूरिति चोदितः ।
विधत्तां भगवानंतमात्मनो हितकाम्यया ॥ ३० ॥

घराहट से निवातकवचों की स्त्रियों को डराता हुआ मातलि के साथ उस दानवपुरी के भीतर गया। मोर के रङ्गवाले दस हज़ार घोड़ों से युक्त उस सूर्य-सदृश रथ को देखकर दानवों की स्त्रियां इकट्ठी होकर भागने लगीं। भागते समय उन स्त्रियों के गहनों का शब्द सुनने से ऐसा जान पड़ता था, जैसे पर्वत के ऊपर शिलाओं की वर्षा हो रही है। डरकर भागी हुई वे स्त्रियां अपने-अपने घरों में घुस गईं। उनके घर सुवर्ण और रत्नों से शोभित थे ॥२१।२५॥

मुझे यह दानवपुरी देवनगरी अमरावती से भी बढ़कर अद्भुत देख पड़ी। मैंने विस्मित होकर मातलि से पूछा—हे सूत ! यह असुर-नगरी मुझे शोभा और संपत्ति में अमरावती से भी बढ़कर जान पड़ती है। तो देवता इसमें क्यों नहीं रहते? मातलि ने कहा—हे अर्जुन ! पहले यह नगरी इन्द्र के ही अधिकार में थी। उसके पश्चात् इन बली निवातकवचों ने हराकर देवताओं को यहां से निकाल दिया। इन निवातकवच दानवों ने तप करके ब्रह्माजी को प्रसन्न किया और उनसे रहने के लिये यह नगरी तथा युद्ध में देवताओं से अभय मांग लिया। यह देखकर इन्द्र ने अपने हित की इच्छा से ब्रह्माजी से कहा कि हे भगवन् ! आप इन दुष्ट दैत्यों के नाश का

तत उक्तो भगवताऽऽदिष्टमत्रेति भारत ।
भवितांऽतस्त्वमप्येषां देहेनाऽन्येन शत्रुहन् ॥ ३१ ॥
तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव ।
न हि शक्याः सुरैर्हंतुं य एते निहतास्त्वया ॥ ३२ ॥
कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत ।
एषामंतकरः प्राप्तस्तत्त्वया च कृतं तथा ॥ ३३ ॥
दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम् ।
ग्राहितस्त्वं महेंद्रेण पुरुषेंद्र तदुत्तमम् ॥ ३४ ॥
अर्जुन उवाच—ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान् ।
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिनिवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचयुद्धेद्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः१७२

कोई उपाय कीजिए ॥२६।३०॥

ब्रह्मा ने कहा—हे इन्द्र ! दैव के विधान के अनुसार तुम्हीं दूसरा शरीर धारण करके इन दैत्यों को मारोगे । इनका नाश तुम्हारे ही हाथ से बदा है । [हे अर्जुन, तुम इन्द्र के पुत्र हो । इसी कारण] इन्हीं दैत्यों के नाश के लिए देवराज ने तुमको दिव्य अस्त्र दिये है । तुमने जिन दैत्यों को मारा है उन्हें देवता भी नहीं मार सकते थे । हे भरतश्रेष्ठ ! इन दैत्यों का अन्तकाल आ गया था, इसी से काल-रूप होकर तुम यहां आये । अब तुम अपना कर्तव्य पूरा कर चुके । इन्द्रदेव ने केवल इन असुरों को मारने के लिए ही तुमको दिव्य अस्त्रों की शिक्षा दी थी ।

अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! इस प्रकार निवातकवच दानवों को मारकर, और उनकी अद्भुत पुरी में शान्ति स्थापित करके, मै फिर मातलि के साथ इन्द्र-लोक को चल दिया ॥३१।३५॥

वनपर्व का एक सौ बहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७२॥

अथ त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय. ॥१७३॥

अर्जुन उवाच—निवर्तमानेन मया महद् दृष्टं ततोऽपरम् ।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ॥ १ ॥
रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्त्रिभिः ।

एक सौ तिहत्तर अध्याय ॥ १७३ ॥

अर्जुन ने कहा—हे धर्मराज ! वहां से लौटते समय मैने और एक सुवर्ण का बना हुआ नगर देखा । वह नगर सूर्य और अग्नि के समान जगमगा रहा था । वह नगर कामचारी, अर्थात् जहां चाहो वहां

पौलोमैः कालकंजैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥
गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥
द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम् ।
तथा पतत्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ॥ ४ ॥
असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः ।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥ ५ ॥
तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां परमाद्भुतदर्शनम् ।
अपृच्छं मातलिं राजन्किमिदं वर्ततेऽद्भुतम् ॥ ६ ॥
मातलिरुवाच—पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी ।
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ॥ ७ ॥
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयंभूरददद्वरम् ।
अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ॥ ८ ॥
अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः ।
पुरं सुरमणीयं च खचरं सुमहाप्रभम् ॥ ९ ॥
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि ।
महर्षियक्षगंधर्वपन्नगासुरराक्षसैः ॥ १० ॥

जा सकता था। वहां बहुत से फूल फलवाले रत्नमय वृक्ष, नगरद्वार, अटारी और मधुर बोली बोलनेवाले पक्षी थे। पौलोम और कालकेय नामके दानव प्रसन्नतापूर्वक उस नगर में सदा रहते थे। अनेक प्रकार के रत्नों का संग्रह होने के कारण वह नगर देखने में बहुत ही भला प्रतीत होता था ॥१।४॥

शूल, खड्ग, मूसल, धनुष-बाण और मुद्गर आदि अनेक शस्त्र हाथ में लिये घोर असुर चारों ओर उसकी रक्षा कर रहे थे। उसके चारों फाटक सुरक्षित और शत्रुओं के लिए अगम्य थे। दैत्यों के उस विचित्र और श्रेष्ठ नगर को देखकर आश्चर्य के साथ मैंने मातलि से पूछा—हे मातलि! यह क्या देख पड़ रहा है? यह किस का नगर है? मातलि ने कहा—हे अर्जुन! दिति की पुलोमा और कालका नाम की दो कन्याएँ थीं। उन दोनों श्रेष्ठ दानवियों ने दिव्य सहस्रों वर्ष तक बहुत ही कठोर तप किया। तप से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी उनके पास आये और वर देने को तैयार हुए। उन दोनों राक्षसियों ने यह वर मांगा कि हमारे पुत्रों को बहुत कम दुःख भोगना पड़े; और उन्हें देवता, राक्षस, नाग आदि

सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम् ।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥ ११ ॥
तदेतच्च पुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम् ।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकंजैश्च दानवैः ॥ १२ ॥
हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत् ।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ॥ १३ ॥
त एते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः ।
निवसंत्यत्र राजेंद्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ॥ १४ ॥
मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा ।
एतानपि रणे पार्थ कालकंजान्दुरासदान् ॥ १५ ॥
वज्रास्त्रेण नयस्वाऽऽशु विनाशं सुमहाबलान् ।
अर्जुन उवाच—सुरासुरैरवध्यं तदहं ज्ञात्वा विशांपते ।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत्पुरमञ्जसा ॥ १६ ॥
त्रिदशेशद्विषो यावत्क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम् ।
न कथंचिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः ॥ १७ ॥

कोई न मार सकें। ब्रह्मा ने उनको यथेष्ट वरदान के साथ ही यह अत्यन्त रमणीय, आकाशचारी, प्रभायुक्त, सब रत्नों से पूर्ण नगर भी दिया। देवता, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, असुर, राक्षस आदि कोई भी इस नगर पर आक्रमण नहीं कर सकते ॥५।१०॥

सब प्रार्थनीय गुणों से युक्त यह नगर ब्रह्मा के भवन से भी श्रेष्ठ है। इसको हिरण्यपुर कहते हैं। इसके भीतर देवता भी नहीं जा सकते। केवल पौलोम और कालकेय दानव ही इसमें रहते हैं, वे ही इसके रक्षक हैं। हे पार्थ! यह नगर आकाश-मार्ग में फिरता रहता है। इसमें रहनेवाले असुरों को देवता भी नहीं मार सकते; इसी से वे बेखटके आनन्द के साथ इसमें रहते हैं। ब्रह्मा ने इनकी मृत्यु मनुष्य के ही हाथ से लिखी है। तुम इन महाबली असुरों को भी वज्रास्त्र से मार डालो ॥११।१५॥

उस नगर में रहनेवाले दानवों को, देवताओं और दैत्यों के हाथ से अवध्य जानकर, प्रसन्नतापूर्वक मैंने मातलि से कहा—तुम शीघ्र ही इस नगर के भीतर चलो। इन इन्द्र के शत्रु दानवों को भी मैं मारूँगा। जिसे मैं न मार सकूँ ऐसा देवताओं का शत्रु तीनों लोकों में दुर्लभ है। हे धर्मराज! इसके पश्चात् मातलि उस दिव्य रथ-सहित मुझे हिरण्यपुर के पास ले गया। वे दैत्य मुझे देखते ही युद्ध की

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमंतिकात् ।
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ॥ १८ ॥
ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणांबराः ।
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ॥ १९ ॥
ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः ।
प्रत्यघ्नन्दानवेंद्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ॥ २० ॥
तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम् ।
शस्त्रवर्षं महद्राजन्विद्याबलमुपाश्रितः ॥ २१ ॥
व्यामोहयं च तान्सर्वान्रथमार्गैश्चरन्रणे ।
तेऽन्योन्यमभिसंमूढाः पातयंति स्म दानवान् ॥ २२ ॥
तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम् ।
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्व्यहनं शतसंघशः ॥ २३ ॥
ये वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत्पुनः ।
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम् ॥ २४ ॥
ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनंदन ।
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ॥ २५ ॥

तैयारी करने लगे। विचित्र वस्त्र, गहने और कवच पहनकर, रथों पर चढ़कर, बड़े वेग से वे लोग मेरे सामने आये और क्रुद्ध होकर भयानक पराक्रम प्रकट करते हुए नालीक, नाराच, भल्ल आदि बाण और शक्ति, ऋष्टि, तोमर आदि शस्त्र बरसाने लगे ॥१९।२०॥

मैं भी अस्त्र विद्या के बल से बाण-वर्षा करके उनके शस्त्रों को रोकने लगा। उस दिव्य रथ पर बैठा हुआ मैं युद्धभूमि में चारों ओर फिरकर अपने पराक्रम और अस्त्र-बल से उन्हें मोहित करने लगा। मेरे अस्त्र से मोहित होकर वे आपस में ही मारकाट और आक्रमण करने लग गये। मैं भी उसी अवसर में प्रज्वलित बाणों के द्वारा उनके सिर काट-काटकर गिराने लगा। इस प्रकार मेरे हाथ से अपना नाश होते देखकर वे अपने नगर के भीतर चले गये और फिर दानवी माया का सहारा लेकर नगर-सहित आकाश में भाग गये। मैंने असंख्य बाणों की वर्षा करके उनकी राह और उनकी गति रोक दी। पर ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से वे लोग उस सूर्य-सदृश, दिव्य, आकाशचारी, यथेष्ट स्थान में जा

तत्पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम् ।
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम् ॥ २६ ॥
अंतर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते ।
पुनस्तिर्यक्प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥
अमरावतिसंकाशं तत्पुरं कामगं महत् ।
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं परंतप ॥ २८ ॥
ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रनुदितेन च ।
व्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत्पुरं पुरपर्षभ ॥ २९ ॥
विक्षतं चाऽऽयसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः ।
महीमभ्यपतद्राजन्प्रभग्नं पुरमासुरम् ॥ ३० ॥
ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः ।
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ॥ ३१ ॥
ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव ।
महीमवातरत्क्षिप्रं रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ॥ ३२ ॥
ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम् ।
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तत भारत ॥ ३३ ॥
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रराजितैः ।
ते युद्धे संन्यवर्तंत समुद्रस्य यथोर्मयः ॥ ३४ ॥

सकनेवाले नगर को सहज ही रोके रहे। वह नगर कभी पृथ्वी पर आ जाता था, कभी आकाश में चला जाता था, कभी इधर-उधर तिरछे चला जाता था और कभी पानी के भीतर डूब जाता था ॥२१।२७॥

हे शत्रुदमन ! तब मैं दिव्य अस्त्र का प्रयोग करके लोहे के बने हुए अनेक प्रकार के बाण चलाने लगा। उन बाणों से छिन्न भिन्न होकर वह अमरावती सदृश कामचारी नगर उन असुरों-सहित पृथ्वी पर गिर पड़ा। वज्र के समान वेग से छूटे हुए बाणों की चोट खाकर, काल के वश में पड़े हुए, वे दानव भी चक्कर खा-खाकर धरती पर गिरने लगे। मातलि भी आकाश से उतरकर पृथ्वी पर रथ को ले आया। तब क्रुद्ध होकर युद्ध की इच्छा से साठ हज़ार, रथों पर सवार, असुरों ने आकर मुझे घेर लिया ॥२८।३३॥

मैंने भी गृद्धपक्षवाले तीक्ष्ण बाण चलाकर उस

नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिंत्य तत् ।
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम् ॥ ३५ ॥
ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ।
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नञ्छनकैरिव ॥ ३६ ॥
रथमार्गान्विचित्रांस्ते विचरंतो महाबलाः ।
प्रत्यदृश्यंत संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥
विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ।
विचित्राभरणाश्चैव नंदयंतीव मे मनः ॥ ३८ ॥
अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितै रणे ।
नाऽशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां प्रत्यपीडयन् ॥ ३९ ॥
तैः पीड्यमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ।
व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चाऽगान्महन्मम ॥ ४० ॥
ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे ।
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम् ॥ ४१ ॥
यत्तद्रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम् ।
ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ॥ ४२ ॥

रथों के घेरे को तोड़-फोड़ डाला । वे असुर समुद्र की लहरों के समान बारम्बार मुझ पर चढ़ाई करने लगे । तब मैंने सोचा कि मनुष्य-युद्ध से मैं इन्हें परास्त न कर सकूँगा । इससे मैं दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगा । पर वे दानव भी विचित्र युद्ध में निपुण थे । रथों पर सवार उन दानवों ने मेरे दिव्य अस्त्रों को निष्फल कर दिया । वे महाबली दानव विचित्र गतियों से रथ चलाते हुए चारों ओर देख पड़ने लगे । विचित्र मुकुट, कवच, भूषण और विचित्र ध्वजावाले रथों से शोभित उन दानवों को देखकर मुझे बड़ा उत्साह और प्रसन्नता हुई ॥३४।३९॥

वे अस्त्रविद्या के बड़े ही जानकार और चतुर थे । मैं अस्त्रों से अभिमन्त्रित बाण चलाकर उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचा सका, बल्कि वे ही मुझे पीड़ा पहुँचाने लगे । उस महायुद्ध में पीड़ित और भय से व्याकुल होकर मैंने उस समय पवित्र और एकाग्र हृदय से महादेव का ध्यान किया और फिर 'सब प्राणियों का भला हो' कह करके सब शत्रुओं का संहार करनेवाले महादेव के घोर पाशुपत अस्त्र को धनुष पर चढ़ाया । उसी समय तीन सिर, तीन मुँह, नव आँखें और छः भुजाओं से शोभित एक उग्र पुरुष मेरे आगे प्रकट हुआ । उसके केश सूर्य और

त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम् ।
लेलिहानैर्महानागैः कृतचीरममित्रहन् ॥ ४३ ॥
विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम् ।
दृष्ट्वा गांडीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ॥ ४४ ॥
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायाऽमिततेजसे ।
मुक्तवान्दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत ॥ ४५ ॥
मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन्रूपाण्यासन्सहस्रशः ।
मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशांपते ॥ ४६ ॥
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम् ।
शरभाणां गजानां च वानराणां च संघशः ॥ ४७ ॥
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च ।
शालावृकाणां प्रेताणां भुरुंडानां च सर्वशः ॥ ४८ ॥
गृध्राणां गरुडानां च चमराणां तथैव च ।
देवानां च ऋषीणां च गन्धर्वाणां च सर्वशः ॥ ४९ ॥
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ।
गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च ॥ ५० ॥
झषाणां गजवक्राणामुलूकानां तथैव च ।
मीनवाजिसरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम् ॥ ५१ ॥
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ।
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा ॥ ५२ ॥

अग्नि के समान चमकीले थे और मस्तक पर जीभ लपलपाते हुए बड़े-बड़े नाग देख पड़ रहे थे। मैंने उस प्रत्यक्ष अस्त्र को देखकर देवदेव महादेव को प्रणाम किया और फिर दुष्ट दानवों के संहार की इच्छा से वह अस्त्र छोड़ दिया ॥४०।४५॥

छोड़ते ही उस अस्त्र ने—मृग, सिंह, बाघ, रीछ, भैंसे, नाग, गाय, शरभ, हाथी, वानर, ऋषभ, वराह, बिलाव, भेड़िये, प्रेत, भुरुंड, गिद्ध, गरुड़, चमरी, देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, असुर, गुह्यक, नैर्ऋत, गजमुख, मत्स्य, उलूक, गदा, मुद्गर, खड्ग आदि अनेक शस्त्र लिये, घोड़े और मछली के आकार के—राक्षस आदि झुण्ड के झुण्ड

सर्वमासीज्जगद्व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ।
त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः ॥ ५३ ॥
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः ।
अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः ॥ ५४ ॥
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः ।
अद्रिसारमयैश्चाऽन्यैर्बाणैरपि निबर्हणैः ॥ ५५ ॥
न्यहनं दानवान्सर्वान्मुहूर्तेनैव भारत ।
गांडीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान्गतासून्नभसश्च्युतान् ॥ ५६ ॥
दृष्ट्वाऽहं प्राणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ।
तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान्दिव्याभरणभूषितान् ॥ ५७ ॥
निशम्य परमं हर्षमगमद्देवसारथिः ।
तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ।
उवाच वचनं चेदं प्रीयमाणः कृतांजलिः ॥ ५९ ॥
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत्साधितं त्वया ।
न ह्येतत्संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ॥ ६० ॥

अनेक प्रकार के प्राणियों के रूप धारण करके सारे जगत् को छा लिया ॥४६।५३॥

तीन मस्तक, चार दाँत, चार मुख और चार भुजावाले, विचित्र, बहुरूप, मांस मेदा-हड्डी-चर्बी आदि से युक्त अनेक प्रकार के प्राणी भी उस अस्त्र से प्रकट हुए। वे दानव उन प्राणियों के आक्रमण से मरकर यमपुर जाने लगे। मैं भी सूर्य और अग्नि के समान प्रज्वलित, वज्रतुल्य, पर्वतखण्ड सदृश भारी बाणों के प्रहार से उन दानवों को मारने लगा। गाण्डीव धनुष के प्रभाव से उन दानवों को मरकर पृथ्वी पर गिरते देख मैंने फिर सब जगत् के विधाता महेश्वर को प्रणाम किया। देव-सारथि मातलि भी उन दिव्य भूषणों से भूषित दानवों को पाशुपत अस्त्र के प्रभाव से पिसिष्ट हुआ देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मेरी प्रशंसा करने लगा ॥५४।५८॥

उसने प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर मुझसे कहा-हे वीर ! आज तुमने वह कार्य किया है जिसे सब देवता, इन्द्र और दैत्य भी नहीं कर सकते थे। यह आकाश में विचरनेवाली नगरी ब्रह्मा के वरदान के कारण देव-दानव आदि के हाथों से नष्ट नहीं

सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत्खगं महत् ।
त्वया विमाथितं वीर स्ववीर्यतपसो बलात् ॥ ६१ ॥
विध्वस्ते खपुरे तस्मिन्दानवेषु हतेषु च ।
विनर्दत्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद्बहिः ॥ ६२ ॥
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुःखिताः ।
पेतुः पुत्रान्पितॄन्भ्रातॄञ्शोचमाना महीतले ॥ ६३ ॥
रुदत्यो दीनकण्ठ्यस्तु निनदंत्यो हतेश्वराः ।
उरांसि परिनिघ्नंत्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः ॥ ६४ ॥
तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ।
न बभौ दानवपुरं पतत्विट्कं हतेश्वरम् ॥ ६५ ॥
गन्धर्वनगराकारं हृतनागमिव ह्रदम् ।
शुष्कवृक्षमिवाऽरण्यमदृश्यमभवत्पुरम् ॥ ६६ ॥
मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ।
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ॥ ६७ ॥
हिरण्यपुरस्हृज्य निहत्य च महासुरान् ।
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ॥ ६८ ॥
मम कर्म च देवेंद्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ।
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ॥ ६९ ॥

हो सकती थी ; पर तुमने अपने पराक्रम और तप के प्रभाव से इसे नष्ट कर दिया ॥५९।६१॥

हे महाराज ! इस प्रकार उस आकाशचारी पुर और दानवों के नष्ट हो जाने पर उनकी स्त्रियाँ बहुत ही दुःखित और व्यथित होकर कुररी पक्षी की तरह चिल्लाकर रोने लगीं । वे बाल खोले हुए नगर के बाहर निकल आईं । पिता, पुत्र, भाई आदि को स्मरण करके, शोक से विह्वल होकर, वे पृथ्वी पर गिरकर छाती पीटने लगीं । उनकी मालाएँ, वस्त्र और गहने इधर-उधर बिखर गये । गन्धर्वनगर के समान रमणीय उस हिरण्यपुर में शोक, दुःख और उदासी छा गई । नाग से शून्य कुण्ड की तरह, सूखे हुए वृक्षों-वाले वन की तरह, उस नाथहीन नगर की शोभा जाती रही ॥६२।६६॥

अपना कार्य सिद्ध करके मैं बहुत ही आनन्दित हुआ । मातलि मुझे लेकर अमरावती में पहुँचा ।

हिरण्यपुरघातं च मयानां च निवारणम् ।
निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम् ॥ ७० ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ।
मरुद्भिः सहितः श्रीमान्साधु साध्वित्यथाऽब्रवीत् ॥ ७१ ॥
ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ।
अब्रवीद्विबुधैः सार्धमिदं स मधुरं वचः ॥ ७२ ॥
अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ।
गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून्घ्नता मम ॥ ७३ ॥
एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाऽऽजौ धनंजय ।
असंमूढेन चाऽस्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम् ॥ ७४ ॥
अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ।
सयक्षासुरगंधर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः ॥ ७५ ॥
वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम् ।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः १७३

इन्द्र के पास आकर उसने हिरण्यपुर के नाश, मायाओं के रोकने, महाबली निवातकवच दानवों के वध आदि सब कार्यों का आदि से अन्त तक वर्णन किया। मातलि के मुँह से मेरे सब कार्यों का परिचय पाकर इन्द्रदेव बहुत सन्तुष्ट हुए ॥६७।७०॥

देवताओं-सहित उन्होंने प्रशंसा करके मेरा बहुत सम्मान किया। देवताओं ने और स्वयं इन्द्र ने बारम्बार मधुर वचनों से मेरी प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा—हे पार्थ! युद्ध-भूमि में तुमने जो कार्य किया है उसे देवता या दैत्य कोई नहीं कर सकते थे। मेरे घोर शत्रुओं को मारकर तुमने यथोचित गुरु-दक्षिणा मुझे दे दी। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम युद्ध के मैदान में कभी विचलित न होगे; व्याकुलता से बचकर मेरे बताए हुए सब अस्त्रों का ठीक-ठीक प्रयोग और संधान कर सकोगे। युद्ध में तुम्हारे वेग को देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, असुर, गन्धर्व, पक्षी और नाग आदि कोई भी न रोक सकेंगे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुम्हारे बाहुबल से सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को जीतकर उसका पालन करेंगे ॥७१।७६॥

—०—

वनपर्व का एक सौ तिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७३॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥१७४॥

अर्जुन उवाच—ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम् ।
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठंति भारत ।
न त्वाऽभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥ २ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः ।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नाऽर्हंति षोडशीम् ॥ ३ ॥
इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान्प्रभुः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ॥ ४ ॥
देवदत्तं च मे शंखं पुनः प्रादान्महारवम् ।
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥ ५ ॥
ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहंति च ॥ ६ ॥
एवं संपूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप ।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गंधर्वशिशुभिः सह ॥ ७ ॥
ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह ।
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरंति ते ॥ ८ ॥

एक सौ चौहत्तर अध्याय ॥१७४॥

अर्जुन ने कहा—हे महाराज! [इस तरह शत्रुओं का नाश करने से] देवराज का मैं बहुत ही विश्वासपात्र बन गया। एक दिन मेरे शरीर के सब घाव अच्छे हो जाने पर उन्होंने अभिनन्दन करके मुझसे कहा—हे वीर! सब दिव्य अस्त्र तुम्हारे अधिकार में हैं। अब मनुष्य-लोक में कोई मनुष्य तुमको हरा नहीं सकेगा। युद्ध में भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, शकुनि और अन्य सब महारथी राजा तुम्हारी तुलना में सोलह आने में एक आने भर भी न ठहरेंगे ॥१।३॥

फिर उन्होंने मुझे अभेद्य दिव्य कवच, सुवर्ण की माला और महा शब्द करनेवाला देवदत्त नाम का शङ्ख दिया। उन्होंने अपने हाथ से यह सुन्दर दिव्य किरीट मेरे सिर पर बांध दिया। ये सुन्दर दिव्य वस्त्र और गहने भी उन्होंने दिये। मैं इसी तरह बड़े सुख और आनन्द के साथ इन्द्रभवन में

एवमिन्द्रस्य भवने पंच वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन्स्मरता द्यूतजं कलिम् ॥ ९ ॥
ततो भवंतमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्याऽस्य मूर्धनि ॥ १० ॥
युधिष्ठिर उवाच—दिष्ट्या धनंजयाऽस्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाऽऽराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ॥ ११ ॥
दिष्ट्या च भगवान्स्थाणुर्देव्या सह परंतप ।
साक्षाद् दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयाऽनघ ॥ १२ ॥
दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ ।
दिष्ट्या वर्धामहे पार्थ दिष्ट्याऽसि पुनरागतः ॥ १३ ॥
अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम् ।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥ १४ ॥
इच्छामि तानि चाऽस्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत।
यैस्तथा वीर्यवंतस्ते निवातकवचा हताः ॥ १५ ॥

रहने लगा। गन्धर्वों के बालक मेरे साथी थे ॥४।७॥

हे महाराज ! [कुछ समय और व्यतीत होने पर एक दिन] देवमण्डली के बीच विराजमान इन्द्र ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुझसे कहा—हे पुत्र अर्जुन ! तुम्हारे भाई तुमको स्मरण कर रहे हैं। अब तुम्हारे जाने का समय आ गया। हे भरतश्रेष्ठ ! मैं इस तरह पाच वर्ष तक इन्द्रलोक में रहा हूँ, पर वह जुए का झगड़ा एक दिन भी, घड़ी भर के लिए भी, मुझको नहीं भूला। हे महाराज ! इसके पश्चात् इन्द्रलोक से चलकर मैं इस गन्धमादन पर्वत पर आया। यहा मैंने आपको भीमसेन, नकुल और सहदेव के साथ देखा ॥८।१०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे अर्जुन ! बड़े भाग्य की बात है कि देवताओं के राजा इन्द्र की आराधना करके तुमने सब दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिए हैं। यह भी बड़े भाग्य की बात है कि युद्ध में सन्तुष्ट करके तुमने देवादिदेव महादेव और पार्वती देवी के दर्शन कर लिये हैं। तुम्हारा भाग्य ही इसका कारण है, जो सब लोकपाल तुम्हें प्रत्यक्ष देख पड़े। कृतकृत्य होकर लौटकर तुम हमसे मिले, इसे भी मैं सौभाग्य की बात समझता हूँ। मैं इस समय यही समझ रहा हूँ कि नगरों सहित सारी पृथ्वी पर अधिकार हो गया और धृतराष्ट्र के पुत्र भी मेरे अधीन हो गये। भाई अर्जुन ! तुमने जिन दिव्य अस्त्रों की सहायता से महाबली निवातकवच आदि दानवों को मारा है, उन अस्त्रों के देखने को मेरा बहुत जी

अर्जुन उवाच—श्वः प्रभाते भवान्द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वै रजनीं तामुवास ह ॥ १७ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शनसंकेतेचतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः १७४

चाहता है ॥११।१५॥

अर्जुन ने कहा—राजन्! भङ्कर निवातकवच दानवों को जिन अस्त्रों की सहायता से मैंने मारा है, उन्हें मैं आपको कल दिखाऊँगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस तरह देवलोक में जाने, रहने और वहां से आने का वृत्तान्त कहकर अर्जुन ने वह रात्रि अपने भाइयों के साथ वहीं व्यतीत की ॥१६।१७॥

वनपर्व का एक सौ चौहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७४॥

अथ पंचसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

वैशम्पायन उवाच—तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उत्थायाऽवश्यकार्याणि कृतवान्भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥
ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं मातृनन्दनम् ।
दर्शयाऽस्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥ २ ॥
ततो धनंजयो राजन्देवैर्दत्तानि पाण्डव ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥ ३ ॥
यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः ।
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणुत्रिवेणुमत् ॥ ४ ॥
पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः ।
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ॥ ५ ॥

एक सौ पचहत्तर अध्याय ॥१७५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! रात्रि व्यतीत होने पर भाइयों-सहित धर्मराज ने उठकर, स्नान-सन्ध्या आदि कार्यों से निवृत्त होकर अर्जुन को उन असुर-नाशक दिव्य अस्त्रों के दिखाने की आज्ञा दी। तब अर्जुन पहले सब प्रकार से शुद्ध हुए; फिर उन्होंने दिव्य कवच पहना। इसके पश्चात् देवदत्त शंख और गाण्डीव धनुष लिया। फिर वे पृथ्वीरूप रथ पर सवार हुए। पर्वत ही उस रथ का

धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं सवारिजम् ।
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभुजः ॥ ६ ॥
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे ।
अथ प्रयोक्ष्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ॥ ७ ॥
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकंपत सद्रुमा ।
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ॥ ८ ॥
शैलाश्चापि व्यदीर्यंत न ववौ च समीरणः ।
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ॥ ९ ॥
न वेदाः प्रतिभांति स्म द्विजातीनां कथंचन ।
अंतर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय ॥ १० ॥
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन् ।
वेपमानाः प्रांजलयस्ते सर्वे विकृताननाः ॥ ११ ॥
दह्यमानास्तदाऽस्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनंजयम् ।
ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः ॥ १२ ॥
जंगमानि च भूतानि सर्वाण्येवाऽवतस्थिरे ।
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः ॥ १३ ॥
यक्षराक्षसगंधर्वास्तथैव च पतत्रिणः ।
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवाऽवतस्थिरे ॥ १४ ॥

धुरा थे; पाव ही उसके पहिये थे, सुन्दर बास के वृक्ष ही उसका त्रिवेणु (रथ का एक अङ्ग) थे। महाबाहु अर्जुन इस तरह सुसज्जित होकर जब उन अस्त्रों का प्रयोग दिखाने को उद्यत हुए तब उनके पावों के दबाव से सारी पृथ्वी कांप उठी, नदियों समेत महासागर चचल हो गया, सब पर्वत मानों फटने लगे। वायु का चलना बद हो गया; सूर्य की प्रभा फीकी पड़ गई, अग्नि शान्त हो गई, ब्राह्मणों को वेद भूल गये। हे राजा जनमेजय! पृथ्वी के नीचे रहनेवाले सब प्राणी पीड़ित होकर बाहर निकल आये ॥१।१०॥

अस्त्रों के तेज से जलते हुए वे प्राणी, चारों ओर से अर्जुन को घेरकर, हाथ जोड़कर, उनसे प्रार्थना करने लगे। भय के मारे वे काप रहे थे। उनके चेहरों पर मुर्दनी सी छाई हुई थी। पल भर में देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, देवता, गन्धर्व, यक्ष,

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः ।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ॥ १५ ॥
ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः समन्वितः ।
अभितः पाण्डवं चित्रैरवचक्रे समन्ततः ॥ १६ ॥
जगुश्च गाथा विविधा गंधर्वाः सुरचोदिताः ।
ननृतुः संघशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः ।
आगम्याऽऽह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप ॥ १८ ॥
अर्जुनाऽर्जुन मा युंक्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत ।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यंते कथंचन ॥ १९ ॥
अधिष्ठाने न वा नाऽऽर्तः प्रयुंजीत कदाचन ।
प्रयोगेषु महान्दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ॥ २० ॥
एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम् ।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यंति न संशयः ॥ २१ ॥
अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्याऽपि पाण्डव ।
भवंति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥ २२ ॥

राक्षस, पक्षी और पृथ्वी तथा आकाश में विचरनेवाले अन्य प्राणी अर्जुन के पास आ गये । पितामह ब्रह्मा, सब लोकपाल और अपने गणों के साथ भगवान् शंकर भी वहां आकर उपस्थित हुए । हे महाराज ! तब वायु अर्जुन के ऊपर विचित्र पुष्प माला आदि की वृष्टि करने लगी । देवताओं की प्रेरणा से गन्धर्व लोग गाथाएं गाने लगे । झुण्ड की झुण्ड अप्सराएं नाचने लगीं ॥११।१७॥

इसी समय देवर्षि नारद वहां पर आ गये । उन्होंने, देवताओं की प्रेरणा से, कार्यवीर्य अर्जुन से ये मधुर वचन कहे—हे पाण्डव ! तुम इस तरह अकारण इन दिव्य अस्त्रों का प्रयोग मत करो । बिना किसी लक्ष्य (निशाने) के इनका प्रयोग नहीं किया जाता । यदि लक्ष्य भी हो तो अपने ऊपर बिना कोई संकट आये, या यों कहो कि किसी के द्वारा बिना सताये गये, इन अस्त्रों का प्रयोग करना उचित नहीं । क्योंकि जब तक अपने ऊपर कोई संकट न आ पड़े तब तक अकारण इनका प्रयोग करने में बड़ा भारी दोष उत्पन्न होता है ॥१८।२०॥

हे अर्जुन ! ये अस्त्र विधिपूर्वक रक्षित रहने से क्रमशः प्रबल और समय पर सुख देनेवाले होंगे ।

अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे ।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—निवार्याऽथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम् ।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥ २४ ॥
तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः ।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने पंचसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७५॥
समाप्तं च निवातकवचयुद्धपर्व ॥

और, यदि तुम अकारण इनका प्रयोग करोगे तो इनके तेज से सारा जगत् चौपट हो सकता है। इसलिए कभी इसतरह इनके प्रयोग का इरादा न करना। हे राजा युधिष्ठिर! तुम इस समय इन अस्त्रों का चमत्कार देखने का विचार छोड़ दो। समय के आने पर जब अर्जुन शत्रुओं को मारने के लिए युद्ध में अस्त्रों का प्रयोग करेंगे तब तुम इनका रूप और प्रभाव देख लेना। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस तरह अर्जुन के रुक जाने पर सब देवता अपने-अपने लोक को चले गये। पाण्डव लोग भी द्रौपदी के साथ प्रसन्नता-पूर्वक उसी वन में रहने लगे ॥२१।२५॥

वनपर्व का एक सौ पचहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७५ ॥

अथ अजगरपर्व ॥
अथ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

जनमेजय उवाच—तस्मिन्कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे प्रत्यागते भवनाद्वृत्रहंतुः ।
अतः परं किमकुर्वंत पार्थाः समेत्य शूरेण धनंजयेन ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—वनेषु तेष्वेव तु ते नरेंद्रा सहाऽर्जुनेनेंद्रसमेन वीराः ।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये धनेश्वराक्रीडगता विजन्हु ॥ २ ॥
वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्क्रीडाश्च नानाद्रुमसन्निबद्धाः ।

एक सौ छिहत्तर अध्याय ॥१७६॥

राजा जनमेजय ने वैशम्पायन जी से कहा—हे भगवन्! महारथी वीर अर्जुन इस प्रकार इन्द्र-लोक से अस्त्र-विद्या सीखकर जब लौट आये, तब पाण्डवों ने और क्या-क्या कार्य किये? कृपा करके कहिए। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! युधिष्ठिर आदि महावीर पाण्डव इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन के साथ रमणीय गन्धमादन पर्वत पर यक्षराज कुबेर की क्रीड़ा-भूमि में विचरने लगे। धनुषधारी अस्त्रज्ञ

चचार धन्वी वहुधा नरेंद्रः सोऽस्त्रेपु यत्तः सततं किरीटी ॥ ३ ॥
अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः ।
न प्राणिनां ते स्पृहयंति राजञ्शिवश्च कालः स वभूव तेषाम् ॥ ४ ॥
समेत्य पार्थेन यथैकरात्रमूपुः समास्तत्र तदा चतस्रः ।
पूर्वाश्च पट् ता दश पांडवानां शिवा वभूवुर्वसतां वनेपु ॥ ५ ॥
ततोऽब्रवीद्वायुसुतस्तरस्वी जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य ।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पावेकांतमास्थाय हितं प्रियं च ॥ ६ ॥
तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां चिकीर्पमाणास्तदनुप्रियं च ।
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य सुयोधनं सानुचरं निहंतुम् ॥ ७ ॥
एकादशं वर्षमिदं वसामःसुयोधनेनाऽऽत्तसुखाः सुखार्हाः ।
तं वंचयित्वाऽधमबुद्धिशीलमज्ञातवासं सुखमाप्नुयामः ॥ ८ ॥
तवाऽऽज्ञया पार्थिव निर्विशंका विहाय मानं विचरन्वनानि ।
समीपवासेन विलोभितास्ते ज्ञास्यंति नाऽस्मानपकृष्टदेशान् ॥ ९ ॥
संवत्सरं तत्र विहृत्य गूढं नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं तस्मै नरेंद्राऽधमपूरुषाय ॥ १० ॥

अर्जुन वहा के उत्तम भवन और विविध वृक्षों से शोभित क्रीड़ाकुञ्ज देखते हुए विचरा करते थे। कुबेर की कृपा से प्राप्त उस स्थान में रहनेवाले पाण्डवों को मनुष्यलोक का ऐश्वर्य और सुख तुच्छ जान पड़ता था। वह समय उनके लिए परम सुखदायक हुआ। अर्जुन के साथ रहने से युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को बड़ा सुख मिलता था। वे लोग वहा चार वर्ष तक रहे, पर उन्हें उतना समय एक दिन के समान जान पड़ा। पहले छ वर्ष व्यतीत हो चुके थे, चार वर्ष फिर व्यतीत हुए; [सब मिलकर] दस वर्ष हो गये। ये दसों वर्ष उन्होंने वनवास में बड़े सुख से व्यतीत किये ॥१-५॥

एक दिन महाराज युधिष्ठिर के पास भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव, ये चारों भाई बैठे हुए थे। वे युधिष्ठिर से प्रिय और हित के वचन कहने लगे कि हे धर्मराज! हम आपका प्रिय करने के विचार से, आपको प्रतिज्ञा-पाश से छुड़ाने के लिए, दुर्योधन को उसके साथियों-सहित मारने नहीं जाते। [नहीं तो जो हम चाहें तो आज इस वन से जा-कर सहज ही शत्रुओं को उनकी करनी का फल चखा सकते हैं] हम लोग वास्तव में सुख भोगने के योग्य हैं, पर दुर्योधन ने हमारे सब सुख छीन लिये हैं। इस दशा में रहते हमें दस वर्ष व्यतीत हो गये, यह ग्यारहवा वर्ष है। हे महाराज! आप

सुयोधनाया नुचरैर्वृताय ततो महीमात्तस धर्मराज ।
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः शक्यो विहंतुं नरदेवशोकः ॥ ११ ॥
कीर्तिस्तु ते भारत पुण्यगंधा नश्येद्धि लोकेपु चराचरेपु ।
तत्प्राप्य राज्यं कुरुपुंगवानां शक्यं महत्प्राप्तुमथ क्रियाश्च ॥ १२ ॥
इदं तु शक्यं सततं नरेंद्र प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिं द्विपतां वधाय कृतागसां भारत निग्रहे च ॥ १३ ॥
तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः ।
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ समेत्य देवैरपि धर्मराज ॥ १४ ॥
तवाऽर्थसिद्ध्यर्थमपि प्रवृत्तौ सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता ।
तथैव कृष्णोऽप्रतिमो वलेन तथैव चाऽहं नरदेववर्य ॥ १५ ॥
तवाऽर्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चाऽहं नरदेववर्य यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ॥ १६ ॥
त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः शमं करिष्याम परान्समेत्य ।
वैशम्पायन उवाच—ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा तेषां च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ॥१७॥

की आज्ञा से अपने मान का विचार छोड़कर हम बेखटके वन-वन में घूमते फिरते हैं। अब उस अधम बुद्धि और स्वभाववाले दुर्योधन को धोखा देकर हम एक वर्ष अज्ञातवास करेंगे; उसके पश्चात् सुख प्राप्त करेंगे। अब तक हम उससे थोड़ी ही दूर पर रहे हैं, इसलिए वह धोखे में है। एकाएक हम कहीं दूर जाकर अज्ञातवास करेंगे तो फिर दुर्योधन हमारा पता नहीं लगा सकेगा। इस प्रकार अज्ञातवास का वर्ष व्यतीत कर चुकने पर हम उससे उस वैर का बदला लेंगे [जो उसने हमारे साथ ठान रक्खा है] उस नराधम को साथियों-समेत मारकर आप सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल का राज्य प्राप्त कीजिएगा ॥९।१०॥

हे नरदेव! इस समय हम लोग इस स्वर्ग-तुल्य रमणीय स्थान में रहते हैं; यहाँ हम वनवास के दुःख और शोक को सहज ही भुला सकते हैं। पर यदि हम यहाँ के सुख में पड़कर शत्रु से बदला लेना भूल जाँय तो आपकी पवित्र और उज्ज्वल कीर्ति पृथ्वीमण्डल से लुप्त हो जायगी। इसी कारण हमारा यह कहना है कि आप शत्रुओं को मारकर कौरवों के राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करें। इससे आपका यश बढ़ेगा, और आप यज्ञ आदि महत् कर्म कीजिएगा। हे राजेन्द्र! यह जो कुबेर से आपको मिल रहा है इसे तो आप सदा पा सकेंगे। हे भरतश्रेष्ठ! इसलिए आप अपराधी शत्रुओं को मारने का निश्चय कर लीजिए। यदि भाई समझकर आप उन्हें जान से मार डालना न चाहें तो कैद ही कर लीजिए। आप से युद्ध ठानकर साक्षात् इन्द्र भी पार नहीं पा सकते—

प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ।
आमंत्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ॥ १८ ॥
यथागतं मार्गमवेक्ष्यमाणः पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः ।
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः संप्रार्थयामास नगेंद्रवर्यम् ॥ १९ ॥
समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भिर्जित्वा सपत्नान्प्रतिलभ्य राज्यम् ।
शैलेंद्र भूयस्तपसे जितात्मा द्रष्टा तवाऽस्मीति मतिं चकार ॥ २० ॥
वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैतान्गणशस्तथैव घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥ २१ ॥
तान्प्रस्थितान्प्रीतमना महर्षिः पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान् ।
स लोमशः प्रीतमना जगाम दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥ २२ ॥
तेनाऽऽर्ष्टिषेणेन तथाऽनुशिष्टास्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महांति चाऽन्यानि सरांसि पार्थाः संपश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः॥२३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि गंधमादनप्रस्थाने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७६॥

आपके उग्र तेज को नहीं सह सकते । आपको चिन्ता किस बात की है ? गरुड़ध्वज श्रीकृष्ण और महाबली सात्यकि आपका कार्य सिद्ध करने को सदा तत्पर रहते हैं । ये दोनों वीर अद्वितीय बलवान् हैं । ये दोनों आपके लिए देवताओं से भी युद्ध करने में पीछे हटने के नहीं । यादवों के साथ जैसे श्रीकृष्ण आपका कार्य सिद्ध करने में लगे हुए हैं, वैसे ही हम भीमसेन, अर्जुन और अस्त्रों के प्रयोग में निपुण नकुल तथा सहदेव भी आपके अधीन हैं । हे महाराज ! इस प्रकार हम सब मिलकर आपकी कार्य-सिद्धि, धनलाभ और राज्य-विभव की वृद्धि के लिए या तो शत्रुओं का नाश करेंगे या समझौता कर लेंगे ॥११।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर ने भाइयों की इन बातों का अनुमोदन किया । अब युधिष्ठिर ने गन्धमादन पर्वत से जाने का विचार करके राजराजेश्वर कुबेर के स्थान की प्रदक्षिणा की । फिर वहां के भवन, नदी, सरोवर और उस पर्वत की रक्षा करनेवाले राक्षसों से युधिष्ठिर ने जाने के लिये आज्ञा मांगी । जिस राह से पर्वत पर आये थे उधर, और उस पर्वत की ओर बारंबार निहार-कर युधिष्ठिर ने कहा—हे पर्वतराज ! मैं अपने मित्रों के साथ जाकर, शत्रुओं को मारूँगा और राज्य पाकर फिर तप करने के लिए आकर तुम्हारे दर्शन करूँगा ॥१८।२०॥

अब महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों और साथ रहनेवाले ब्राह्मणों के साथ उसी मार्ग से नीचे उतरे जिससे कि पर्वत पर चढ़े थे । जहां पर पहाड़ी झरने और दुर्गम स्थान थे वहां पर घटोत्कच आकर उन सबको लाद लेता था । पुत्र-तुल्य पाण्डवों को वहां

से जाते देखकर महर्षि लोमश ने पिता की तरह अनेक अच्छे उपदेश किये। फिर वे पाण्डवों से विदा होकर पवित्र देवलोक को चले गये। आर्ष्टिषेण और लोमश के उपदेशों को शिरोधार्य करके रमणीय तीर्थ, तपोवन और बड़े-बड़े स्वच्छ सरोवर आदि की सैर करते हुए पाण्डव वहां से चल दिये ॥२१।२३॥

वनपर्व का एक सौ छिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७६॥

अथ सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७७॥

वैशम्पायन उवाच—नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं दिशां गजैः किन्नरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां न प्रीतिरासीद्भरतर्षभाणाम् ॥ १ ॥
ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः कैलासमालोक्य महान्बभूव ।
कुबेरकांतं भरतर्षभाणां महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥ २ ॥
समुच्छ्रयान्पर्वतसंनिरोधान्गोष्ठान्हरीणां गिरिसेतुमालाः ।
बहून्प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ॥ ३ ॥
तथैव चाऽन्यानि महावनानि मृगद्विजानीकपसेवितानि ।
आलोकयंतोऽभिययुः प्रतीतास्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः ॥ ४ ॥
वनानि रम्याणि नदीः सरांसि गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि ।
एते निवासाः सततं बभूवुर्निशानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥ ५ ॥
ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य व्यतीत्य कैलासमचिंत्यरूपम् ।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥ ६ ॥

एक सौ सतहत्तर अध्याय ॥१७७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! अनेक झरने, दिग्गज, किन्नर और विचित्र पक्षियों से पूर्ण, सुखमय निवासभूमि गन्धमादन पर्वत को छोड़कर जाने में पाण्डवों को बड़ा कष्ट हुआ। आगे चलकर कुबेर के प्रिय कैलाश पर्वत को देखकर वे फिर बड़े प्रसन्न हुए। वह पर्वत देखने में श्वेत मेघ के समान जान पड़ रहा था। धनुष और खड्ग आदि शस्त्र धारण किये हुए पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव पृथ्वी के ऊँचे-नीचे भाग, सिंहों के रहने की गुफाएँ, गिरि-सेतु (पहाड़ी पुल), झरने, नीची जगहें, मृग और पक्षियों के रहने के स्थान महावन आदि की सैर करते और प्रसन्न होते हुए आगे बढ़ने लगे ॥१।४॥

रात्रि हो जाने पर रमणीय वन, नदी, सरोवर पर्वत-कंदरा आदि स्थानों में निवास भी करते थे। इस तरह बहुत से दुर्गम प्रदेशों में ठहरते हुए पाण्डव क्रमशः कैलाश पर्वत को लाँघकर वृषपर्वा के अत्यन्त रमणीय आश्रम में पहुँचे। महर्षि ने उन्हें देखकर उनका यथोचित स्वागत किया। पाण्डवों ने

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ऽने प्रत्यर्चितास्ते न च वीतमोहाः ।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं गिरौ यथावद्वृषपर्वणस्ते ॥ ७ ॥
सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे ।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ॥ ८ ॥
ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा नारायणस्थानगताः समग्राः ।
कुबेरकांतां नलिनीं विशोकाः संपश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ॥ ९ ॥
तां चाऽथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः पांडोः सुताः सर्वनरप्रधानाः ।
ते रेमिरे नंदनवासमेत्य द्विजर्षयो वीतमला यथैव ॥ १० ॥
ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा यथागतेनैव पथा समग्राः ।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ॥ ११ ॥
चीनांस्तुषारान्दरदांश्च सर्वान्देशान्कुलिंदस्य च भूमिरत्नान् ।
अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥ १२ ॥
श्रुत्वा च तान्पार्थिवपुत्रपौत्रान्प्राप्तान्सुबाहुर्विषये समग्रान् ।
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा तं चाऽभ्यनंदन्वृषभाः कुरूणाम् ॥ १३ ॥
समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वे ।
सहेंद्रसेनैः परिचारकैश्च पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥ १४ ॥

वहाँ ठहरकर अपनी थकन मिटाई और महर्षि को गन्धमादन पर रहने का सारा वृत्तान्त विस्तार के साथ कह सुनाया। उस पवित्र आश्रम में देवता और ऋषि रहते थे। उसमें एक रात्रि सुख से रहकर पाण्डव लोग नारायण भगवान् के निवासस्थान बदरिकाश्रम में फिर पहुँचकर रहने लगे। देवता और सिद्धगण जहां आते-जाते रहते हैं उस कुबेर के प्रिय सरोवर के दर्शन से शोक-रहित होकर उस स्थान पर वे उसी तरह रहने लगे जिस तरह नन्दन वन में देवता विहार करते हैं ॥ ७-१० ॥

एक महीने बदरीवन में बड़े सुख से रहकर फिर वे पूर्व-परिचित मार्ग से किरातराज सुबाहु के राज्य की ओर गए। धीरे-धीरे चीन, तुषार, दरद और अनेक रत्नों से पूर्ण कुलिन्द देश तथा हिमालय के दुर्गम स्थान लाँघने पर सुबाहु का नगर देख पड़ा। सुबाहु ने महाबाहु पाण्डवों के आने का समाचार पाकर प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़कर उन्हें लिया और अभिनन्दन किया। सुबाहु से मिलकर और एक रात्रि उनके यहां रहकर पाण्डव आगे बढ़े। वहां से उन्होंने घटोत्कच को विदा कर दिया। फिर विशोक, इन्द्रसेन आदि सेवकों तथा रसोइयों को और डेरे आदि लेकर आगे चलनेवाले नौकर-

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं सूतान्समादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥ १५ ॥
तस्मिन्गिरौ प्रस्रवणोपपन्नहिमोत्तरीयारुणपांडुसानौ ।
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रुस्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः ॥ १६ ॥
वराहनानामृगपक्षिजुष्टं महावनं चैत्ररथप्रकाशम् ।
शिवेन पार्था मृगयाप्रधानाः संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥ १७ ॥
तत्राऽऽससादाऽतिबलं भुजंगं क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् ।
वृकोदरः पर्वतकंदरायां विषादमोहव्यथितांतरात्मा ॥ १८ ॥
द्वीपोऽभवद्यत्र वृकोदरस्य युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
अमोक्षयद्यस्तमनंततेजा ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम् ॥ १९ ॥
ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः ।
तस्माद्वनाच्चैत्ररथप्रकाशाच्छ्रिया ज्वलंतस्तपसा च युक्ताः ॥ २० ॥
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥ २१ ॥
समीक्ष्य तान्द्वैतवने निविष्टान्निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः ।
तपोदमाचारसमाधियुक्तास्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः ॥ २२ ॥

चाकरों को लिये हुए पाण्डव रथों पर बैठकर यमुना नदी के समीपवर्ती पर्वतराज की ओर चले। उस प्रस्रवण पर्वत पर पहुंचकर पाण्डवों ने देखा कि तरह-तरह के झरने झर रहे हैं; ऐसा जान पड़ता है कि पीले और लाल रङ्ग के शिखर बर्फ के वस्त्र पहने हुए हैं। फिर विशाखयूप नाम से प्रसिद्ध स्थान पर पाण्डवों ने कुछ दिन तक निवास किया ॥ १५।१६॥

वहां कुबेर के चैत्ररथ वन के तुल्य महावन में—सुखपूर्वक वराह, मृग आदि का शिकार करते हुए—वे एक वर्ष तक रहे। उस वन में विचरते-विचरते एक दिन भीमसेन ने पर्वतकन्दरा में पड़े हुए; मृत्यु के समान उग्ररूप, महाबली और भूखे विशाल अजगर को देखा। वह अजगर भीमसेन की देह में लिपट गया। उसके आक्रमण से भीमसेन खेद और मोह के वश होकर बहुत पीड़ित हुए। पीछे धर्मराज युधिष्ठिर ने आकर उन्हें उसके मुँह से छुड़ाया। इस तरह विचरते-विचरते बारहवां वर्ष जब लगा तब दिव्यशोभायुक्त धनुर्वेद के ज्ञाता पाण्डव उस चैत्ररथवन-सदृश वन से चलकर क्रमशः मरुभूमि और सरस्वती नदी के तट पर पहुँचे। वहां से द्वैतवन में रहने के लिए आगे बढ़े ॥ १७।२१॥

सरस्वती के किनारे का वन पकरिया, रुद्राक्ष,

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च तथा वदर्यः खदिराः शिरीषाः ।
बिल्वेंगुदाः पीलुशमीकरीराः सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ॥ २३ ॥
तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकांतामागारभूतामिव देवतानाम् ।
सरस्वतीं प्रीतियुक्ताश्चरंतः सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि पुनर्द्वैतवनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७७॥

बेत, बेर, खैर, मोलसिरी, बेल, इंगुदी, पीलु, शमी और करीर आदि के वृक्षों से परम रमणीय देख पड़ती थी। पाण्डवों को वहां पर आये देखकर तपस्वी, जितेन्द्रिय, आचार-परायण, समाधिनिष्ठ, आसन और कमण्डलु लिये, अनेक ऋषि-मुनि उनके पास आने लगे। उन ऋषियों के दांत बुढ़ापे के कारण गिर गये थे, इससे वे पत्थर से कूटकर कन्द-मूल-फल खाते थे। पाण्डवगण द्वैतवन में पहुँचकर बहुत प्रसन्न हुए। देवता, यक्ष, गन्धर्व, महर्षिगण के प्रिय निवासस्थान सरस्वती-तट पर पहुँचकर पांचों पाण्डव बड़े आनन्दसे रहने और विचरने लगे।२२।२४।

—०—

वनपर्व का एक सौ सतहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७७॥

अथ अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७८॥

जनमेजय उवाच—कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः ।
भयमाहारयत्तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥ १ ॥
पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः ।
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम् ।

एक सौ अठहत्तर अध्याय ॥१७८॥

जनमेजय ने कहा—ब्रह्मन्! परम पराक्रमी भीमसेन में दस हज़ार हाथियों का बल था; तब फिर उस अजगर से उनके डरने का कारण क्या था? जिन्होंने बाहु-बल के अभिमान से उत्साहित होकर पुलस्त्य के पुत्र कुबेर को भी युद्ध के लिए ललकारा, जिन्होंने यक्ष-राक्षस आदि रक्षकों को मारकर सौगन्धिक कमलों से पूर्ण दिव्य सरोवर को मथ डाला उन्हीं भीमसेन के बारे में आप कहते हैं कि वे अजगर की विपत्ति में पड़कर भय से व्याकुल हो गये! इसलिए यह वृत्तान्त विस्तार से सुनने के लिए मुझे बड़ा ही कौतूहल हो रहा है ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! मुनिए!

प्राप्तानामाश्रमाद्राजन्राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥ ४ ॥
यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद्वनं रम्यं देवगंधर्वसेवितम् ॥ ५ ॥
स ददर्श शुभान्देशान्गिरेर्हिमवतस्तदा ।
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥ ६ ॥
चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः ।
कोकिलैर्भृंगराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ॥ ७ ॥
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान्बहुलच्छायैर्मनोनयननंदनैः ॥ ८ ॥
स संपश्यन्गिरिनदीर्वैदूर्यमणिसंनिभैः ।
सलिलैर्हिमसंकाशैर्हंसकारंडवायुतैः ॥ ९ ॥
वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः ।
हरिचंदनमिश्राणि तुंगकालीयकान्यपि ॥ १० ॥
मृगयां परिधावन्स समेषु मरुधन्वसु ।
विध्यन्मृगाञ्शरैः शुद्धैश्चचार स महाबलः ॥ ११ ॥
भीमसेनस्तु विख्यातो महांतं दंष्ट्रिणं बलात् ।

उग्र धनुष धारण करनेवाले महात्मा पाण्डव वृषपर्वा ऋषि के आश्रम से चलकर उस वन में आये और रहने लगे। उस वन में अनेक विचित्र पदार्थ, देखनेवाले को, आश्चर्य से चकित कर देते थे। एक दिन कमर में तलवार लगाकर, धनुषबाण हाथ में लेकर, भीमसेन उस वन की सैर करने निकले। वे अकेले ही टहलते-टहलते हिमालय के मनोहर वनों के भीतर घुस पड़े। उन्होंने देखा कि इस हिमालय के ऊपर अनेक स्थानों में देवता, ऋषि सिद्ध, अप्सरा आदि विचर रहे हैं। चकोर, उपचक जीवंजीवक, कोकिल, भृङ्गराज आदि पक्षी जगह-जगह पर अपनी बोलियां सुना रहे हैं। नित्य फूलने-फलनेवाले, घनी छायावाले, बर्फ की ठण्डक से हरे-भरे अनेक वृक्ष मन और नेत्रों के आनन्द को बढ़ा रहे है। पहाड़ी झरनों के, वैडूर्यमणि के समान, स्वच्छ ठण्डे जल में हंस तथा कारण्डव पक्षी तैर रहे है। हरिचन्दन, कालागुरु और देवदारु के वृक्षों के वन दूर से बादलों की घटा के समान जान पड़ते हैं ॥४।१०॥

इस प्रकार पर्वत की अपूर्व शोभा देखते हुए भीमसेन शिकार की खोज में आगे बढ़ते चले जा रहे थे। वे बाण चलाकर अनेक मृगों का शिकार

निघ्नन्नागशतप्राणो वने तस्मिन्महाबलः ॥ १२ ॥
मृगाणां सवराहाणां महिषाणां महाभुजः ।
विनिघ्नंस्तत्रतत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ॥ १३ ॥
स मातंगशतप्राणो मनुष्यशतवारणः ।
सिंहशार्दूलविक्रांतो वने तस्मिन्महाबलः ॥ १४ ॥
वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभंज च ।
पृथिव्याश्च प्रदेशान्वै नादयंस्तु वनानि च ॥ १५ ॥
पर्वताग्राणि वै मृद्नन्नादयानश्च विज्वरः ।
प्राक्षिपन्पादपांश्चाऽपि नादेनाऽऽपूरयन्महीम् ॥ १६ ॥
वेगेन न्यपतद्भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः ।
आस्फोटयन्क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ॥ १७ ॥
चिरसंवद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा ।
गजेंद्राश्च महासत्वा मृगेंद्राश्च महाबलाः ॥ १८ ॥
भीमसेनस्य नादेन व्यमुंचंत गुहा भयात् ।
क्वचित्प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपविशंस्तथा ॥ १९ ॥
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः ।
स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ॥ २० ॥
पद्भ्यामभिसमापेदे भीमसेनो महाबलः ।

करते हुए मरुभूमि के समतल स्थान में पहुंचे और वहां घूमने लगे। भीमसेन में दस हजार हाथियों का बल था। वे सैंकड़ों बली मनुष्यों को मारनेवाले सिंह और शार्दूल के समान पराक्रमी तथा बलवान् माने जाते थे। इस समय महाबली भीम [सिंह, वराह, मृग, भैंसे आदि जन्तुओं को मारने के लिए पीछा करते समय] कभी वृक्षों को वेग से उखाड़-कर—तोड़कर—इधर-उधर गिरा देते थे, कभी पर्वतों के शिखरों की शिलाओं को पाँवों से रौंदकर चूर-चूर कर डालते थे; कभी ताल ठोंककर, गरजकर अपने सिंहनाद से उस निर्जन वन को और आस-पास के स्थानों को प्रतिध्वनित करते हुए फिरते थे ॥११-१७॥

महाबली सिंह और हाथी भीमसेन के भयङ्कर शब्द से व्याकुल हो उठे। वे भय के मारे पर्वत की कन्दराओं से निकलकर इधर-उधर भागने लगे। वनचर मृगों की खोज में पैदल चलते-चलते भीम-सेन कभी खड़े हो जाते थे, कभी बैठ जाते थे और

स प्रविष्टो महारण्ये नादान्नदति चाऽद्भुतान् ॥ २१ ॥
त्रासयन्सर्वभूतानि महासत्त्वपराक्रमः ।
ततो भीमस्य शब्देन भीताःसर्पा गुहाशयाः ॥ २२ ॥
अतिक्रांतास्तु वेगेन जगामाऽनुसृतः शनैः ।
ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
स ददर्श महाकायं भजंगं लोमहर्षणम् ।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनाऽऽवृत्य कंदरम् ॥ २४ ॥
पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महाबलम् ।
चित्रांगमंगजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥ २५ ॥
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता ।
दीप्ताक्षेणाऽतिताम्रेण लिहानं सृक्किणी मुहुः ॥ २६ ॥
त्रासनं सर्वभूतानां कालांतकयमोपमम् ।
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयंतामिव स्थितम् ॥ २७ ॥
स भीमं सहसाऽभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम् ।
जग्राहाऽऽजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥ २८ ॥
तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा ।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ॥ २९ ॥

कभी फिर दौड़ पड़ते थे ॥१८।२०॥

फिर उन्होंने भयानक सिंहनाद किया। उस अद्भुत शब्द को सुनकर वन के सब प्राणी भयभीत हो गये। गुफाओं में पड़े हुए बड़े बड़े अजगर और विषैले साँप भी निकलकर भागने लगे। भीमसेन भी मृगों का पीछा करने लगे। देवतुल्य महाबली भीमसेन ने कुछ दूर आगे जाकर देखा कि एक बहुत बड़ा भयङ्कर अजगर एक दुर्गम पर्वती स्थान में पड़ा हुआ है। उसका शरीर इतना बड़ा और मोटा है कि सारी गुफा उससे भरी हुई है। उसका शरीर पर्वत ऐसा है; अङ्ग चित्र-विचित्र हैं। रङ्ग हल्दी का सा है। मुँह गुफा के समान है। उसके चार दाँत हैं। दोनों आँखें चमकीली और लाल हैं। वह अजगर भयानक फुंकार से मानों सब जीवों को डराता हुआ यमराज की तरह जीभ लपलपा रहा है। उसे देखकर कोई भी ऐसा नहीं जो डर न जाय ॥२१।२७॥

वह भूखा अजगर भीमसेन को देखते ही उन पर झपट पड़ा। उसने बलपूर्वक भीमसेन के दोनों हाथ लपेट लिये। वरदान के कारण, उस अजगर

दशनागसहस्राणि धारयंति हि यद्बलम् ।
तद्बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥ ३० ॥
स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः ।
विस्फुरञ्शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ३१ ॥
नागायुतसमप्राणः सिंहस्कंधो महाभुजः ।
गृहीतो व्यजहात्सत्वं वरदानविमोहितः ॥ ३२ ॥
स हि प्रयत्नमकरोत्तीव्रमात्मविमोक्षणे ।
न चैनमशकद्वीरः कथंचित्प्रतिबाधितुम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि अजगरग्रहणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७८॥

ने ज्योंही भीमसेन को छुआ त्योंही वे अचेत से हो गये। दस हजार हाथियों का बल रखनेवाले भीमसेन के हाथों की सब शक्ति जाती सी रही। तेजस्वी भीमसेन उस अजगर के वश में होकर अपने को उसके बन्धन से नहीं छुड़ा सके। हे महाबाहु ! सिंह के ऐसे ऊँचे और दृढ कन्धोंवाले भीमसेन, बलहीन और मोहित से हो गये। इधर-उधर फड़ककर उन्होंने छूटने की बहुत चेष्टा की, पर वह सब व्यर्थ हुई ॥२८।३३॥

—०—

वनपर्व का एक सौ अठहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७८ ॥

अथ ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

वैशम्पायन उवाच—स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः ।
चिंतयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ॥ १ ॥
उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग ।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥ २ ॥
पांडवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनंतरः ।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥ ३ ॥

एक सौ उनासी अध्याय ॥१७९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तेजस्वी भीमसेन को जब अजगर ने पकड़ लिया तब उसके अद्भुत बल को देखकर वे बहुत चक- गये। भीमसेन ने उससे कहा—हे अजगर ! हे श्रेष्ठ नाग ! तुम कौन हो ? मुझे पकड़कर क्या करोगे ? मैं धर्मराज का छोटा भाई, पाण्डु का पुत्र, भीमसेन

सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा ।
समागताश्च शतशो निहताश्च मया युधि ॥ ४ ॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः ।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥ ५ ॥
किं नु विद्याबलं किं नु वरदानमथो तव ।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥ ६ ॥
असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः ।
यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्येवंवादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।
भोगेन महता गृह्य समन्तात्पर्यवेष्टयत् ॥ ८ ॥
निगृह्यैनं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा ।
विमुच्याऽस्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
दिष्ट्यस्त्वं क्षुधितस्याऽद्य देवैर्भक्षो महाभुज ।
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् ॥ १० ॥
यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्परूपमरिंदम ।
तथाऽवश्यं मयाऽऽख्याप्यं तवाऽद्य श्रृणु सत्तम ॥ ११ ॥

हूँ। मुझमें दस हजार हाथियों का बल स्वाभाविक है। मैंने बड़े-बड़े बली सिंह, बाघ, हाथी, भैंसे आदि प्राणियों को मार डाला है ॥१।४॥

महाबली नाग, राक्षस और निशाचर मेरे वेग और बाहुबल को नहीं सह सकते हैं। आश्चर्य है कि तुमने मुझे किस तरह अपने वश में कर लिया। मैं बार-बार चेष्टा कर रहा हूँ, परन्तु तुम्हारे हाथ से नहीं छूट पाता। क्या तुममें किसी विद्या या वरदान का बल है? मुझे प्रतीत हो गया, मनुष्य का बल असत्य और निष्फल है; क्योंकि तुमने मेरे प्रचण्ड बल को सहज ही नीचा दिखा दिया ॥५।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भीम-पराक्रमी भीमसेन के यों कहने पर उस अजगर ने उनके दोनों हाथ छोड़कर उनके सारे शरीर को जकड़ लिया। अब वह कहने लगा—हे महाबाहु! मैं बहुत दिनों से भूखा था; बड़ी बात हुई जो मेरे आहार के लिए देवताओं ने तुमको यहां भेज दिया। क्योंकि प्राणियों को अपने जीवन पर बड़ी ममता होती है; वे बिना दैव की प्रेरणा के आपसे काल के मुँह में नहीं जाते। हे शत्रुदमन! मुझे जिस तरह साँप की योनि मिली है सो सुन लेना तुम्हारे लिए बहुत आवश्यक है। वह सब वृत्तान्त कहता हूँ,

इमामवस्थां संप्राप्तो ह्यहं कोपान्महर्षिणाम् ।
शापस्याऽन्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत्कथयामि ते ॥ १२ ॥
नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ॥ १३ ॥
सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥ १४ ॥
त्वां चेदवध्यं दायादमतीव प्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥ १५ ॥
न हि मे मुच्यते कश्चित्कथंचिद्ग्रहणं गतः ।
गजो वा महिषो वाऽपि षष्ठे काले नरोत्तम ॥ १६ ॥
नाऽसि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥ १७ ॥
पतता हि विमानाग्र्यान्मया शक्रासनाद्‌द्रुतम् ।
कुरु शापांतमित्युक्तो भगवान्मुनिसत्तमः ॥ १८ ॥
स मामुवाच तेजस्वी कृपयाऽभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन्कस्माच्चित्कालपर्ययात् ॥ १९ ॥

सुनो ॥८।११॥

एक महर्षि के कोप से मेरी यह दशा हुई है। उस शाप का अन्त होने की इच्छा से मैं अपना सब वृत्तान्त कहता हूँ। तुमने प्रसिद्ध राजर्षि नहुष का नाम तो अवश्य सुना होगा। मैं ही वह तुम्हारे पूर्वपुरुष आयु का पुत्र नहुष हूँ। होनहार के कारण ब्राह्मणों का अपमान करने से, महर्षि अगस्त्य के शाप से, मुझे यह नीच योनि मिली है। तुम बहुत ही प्रियदर्शन और मेरे वंश के बालक हो, परन्तु मैं तुम्हें भक्षण करूँगा, दैव का विधान ही ऐसा है। मेरा यह नियम है कि दिन के छठे भाग में हाथी, भैंसा आदि जो प्राणी मिल जाता है उसे मैं नहीं छोड़ता, खा जाता हूँ। मैंने केवल अपने बल से तुमको नहीं पकड़ा है, तुम तो वरदान के प्रभाव से ही मेरे हाथ में आ गए हो। मैं [अपने अपराध के कारण] शाप पाकर जब इन्द्र के आसन से भ्रष्ट होकर स्वर्ग के विमान से नीचे गिरने लगा तब मैंने शाप से अपने छुटकारे के लिए महर्षि अगस्त्य से प्रार्थना की। महातेजस्वी अगस्त्य को मुझ पर दया आ गई। उन्होंने मुझसे कहा—हे राजेन्द्र ! कुछ समय के व्यतीत होने पर शाप से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा। मुनि के यों कह चुकने पर मैं मनुष्य-

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात्स्मृतिः।
स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाऽधिगतं तथा ॥ २० ॥
यस्तु ते व्याहृतान्प्रश्नान्प्रतिब्रूयाद्विभागवित् ।
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ॥ २१ ॥
गृहीतस्य त्वया राजन्प्राणिनोऽपि बलीयसः ।
सत्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याऽऽशु भविष्यति ॥ २२ ॥
इति चाऽप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥ २३ ॥
सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकांक्षी महाद्युते ॥ २४ ॥
तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजंगमम् ।
न च कुप्ये महासर्प न चाऽऽत्मानं विगर्हये ॥ २५ ॥
यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः ।
आगमे यदि वाऽपाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ २६ ॥
दैवं पुरुषकारेण को वंचयितुमर्हति ।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥ २७ ॥

लोक में गिर पड़ा, पर मेरी स्मरण-शक्ति नष्ट नहीं हुई। इसी कारण मैं अपने इतिहास को अभी तक नहीं भूला ॥१२।२०॥

महर्षि ने कहा था कि जो कोई प्राणी, धर्म और अधर्म का निर्णय करके, तुम्हारे प्रश्नों का ठीक उत्तर दे सकेगा वही तुमको शाप से छुड़ावेगा। इसके सिवा असाधारण बलवान प्राणी को भी जो तुम पकड़ लोगे तो उसी घड़ी उसका सारा बल जाता रहेगा। प्रीति और करुणा के कारण इतना कहकर वे मुनिवर चले गये। हे भीमसेन! मैं बड़ा ही पापी हूँ। तब से सर्प योनि पाकर, शाप से छूटने के समय की राह देखता हुआ, इस अपवित्र नरक में पड़ा हुआ हूँ। तब भीमसेन ने कहा — हे महासर्प! मैं न तो तुम पर रोष करता हूँ और न मुझे [यहाँ आने की अपनी मूर्खता का ही] पछतावा है; क्योंकि मनुष्य को जो सुख या दुःख मिलनेवाला होता है, वह टाले नहीं टल सकता। इसलिए दुःख मिलने पर या सुख नष्ट होने पर खेद न करना चाहिए। दैव के आगे पौरुष काम नहीं दे सकता, मैं दैव को ही श्रेष्ठ समझता हूं; पौरुष व्यर्थ है। देखो, इस प्रकार मेरा बाहुबल नष्ट होने का और अकारण इस शोचनीय अवस्था में

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम् ।
इमामवस्थां संप्राप्तमनिमित्तमिहाऽऽद्य माम् ॥ २८ ॥
किं तु नाऽऽत्माऽनुशोचामि तथाऽऽत्मानं विनाशितम् ।
यथा तु विपिने न्यस्तान्भ्रातॄन्राज्यपरिच्युतान् ॥ २९ ॥
हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः ।
मां समुद्वीक्षमाणास्ते प्रपतिष्यंति विह्वलाः ॥ ३० ॥
विनष्टमथ मां श्रुत्वा भविष्यंति निरुद्यमाः ।
धर्मशीला मया ते हि बाध्यंते राज्यगृद्धिना ॥ ३१ ॥
अथवा नाऽर्जुनो धीमान्विषादमुपयास्यति ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥ ३२ ॥
समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात्प्रच्यावयितुमंजसा ॥ ३३ ॥
किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दंभमोहपरायणम् ॥ ३४ ॥
मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
याऽस्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ॥ ३५ ॥

मेरे पड़ने का कारण दैव ही है । मैं अपने नष्ट होने के लिए शोक नहीं करता । मुझे तो दुःख इस बात का है कि राज्य से भ्रष्ट भाइयों को मैं वन में छोड़ आया हूं । यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त दुर्गम है और इसमें बड़े भयानक यक्ष तथा राक्षस भरे पड़े हैं । मेरे भाई मेरी राह देखते-देखते बहुत ही विकल हो जायंगे । वे मेरा पता लगाने के लिए चारों ओर दौड़ते फिरेंगे और जब मेरे मरने की सूचना पावेंगे तब दुःखित होकर राज्य पाने की आशा और उद्योग छोड़ देंगे ॥२१।३०॥

वे सब धर्मात्मा हैं ; मैंने ही उन्हें राज्य पाने का उद्योग करने के लिए अब तक उत्साहित कर रक्खा था । या अर्जुन मेरे मरने से खेद न करेंगे ; क्योंकि वे बुद्धिमान् और सब अस्त्रों के ज्ञाता हैं । सब देवता, गन्धर्व, और राक्षस मिलकर भी उनको परास्त नहीं कर सकते । वे महाबली महाबाहु इन्द्र को भी सहज ही उनके राज्य से भ्रष्ट कर सकते हैं । कपटी, सब लोगों के द्वेषी, दंभ और मोह के वशीभूत दुर्योधन को राज्य-भ्रष्ट कर देना तो उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं ; पर मुझे सबसे बढ़कर चिन्ता माता कुन्ती की है । वे सदा की दुखिया हैं । पुत्रों में ही उनके प्राण धरे हुए

तस्याः कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद्भुजंगम ।
अफलास्ते भविष्यंति मयि सर्वे मनोरथाः ॥ ३६ ॥
नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्तिनौ ।
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥ ३७ ॥
भविष्यतो निरुत्साहौ नष्टवीर्यपराक्रमौ ।
मद्विनाशात्परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ॥ ३८ ॥
एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः ।
भुजंगभोगसंरुद्धो नाऽशकच्च विचेष्टितुम् ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो बभूवाऽस्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान्घोरानुत्पातान्परिचिंतयन् ॥ ४० ॥
दारुणं ह्याशिव नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याऽऽश्रमस्य ह ॥ ४१ ॥
एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना ।
रक्तं वमंती ददृशे प्रत्यादित्यमभासुरा ॥ ४२ ॥
प्रववौ चाऽनिलो रूक्षश्चंडः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥ ४३ ॥

होंगे। वे सदा चाहती हैं कि हम सब लोग औरों (दुर्योधन आदि) से अधिक महत्व प्राप्त करें। हे सर्प! उन अनाथ कुन्ती के वे मनोरथ मेरे न रहने पर कैसे पूरे होंगे! उनके सिवा छोटे भाई नकुल और सहदेव का भी मुझे बडा खयाल है। वे बड़े भाइयों के आज्ञाकारी हैं। मेरे बाहुबल से रक्षित होने के कारण वे भी पौरुष के कामों में उत्साह, दिखाया करते हैं। मेरे न रहने से वे भी उत्साह, वीर्य, और पराक्रम से हीन हो जायँगे। हे राजा जनमेजय! भीमसेन इस प्रकार विलाप करने लगे। सर्प ने भीमसेन को इतना जकड़ लिया था कि वे हिल-डुल नहीं सकते थे। उधर महाराज युधिष्ठिर अनेक अमङ्गलसूचक घोर उत्पातों को देखकर बहुत ही व्याकुल हुए ॥३१।४०॥

उन्होंने देखा, दिशाओं में अग्नि सी लग रही है। डरी हुई सियारी, उनके आश्रम के पास दाहिनी ओर रो रही है। एक पंख, एक नेत्र और एक चरणवाली, घोर रूपवाली चपक सूर्य की ओर देखकर मुँह से खून उगल रही है। रूखी, प्रचण्ड कंकड़ उड़ाती हुई वायु ज़ोर से चल रही है। दाहनी ओर अशुभसूचक मृग और पक्षी विकट शब्द कर रहे हैं। पीछे की ओर काले रंग का कौआ

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति ।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ॥ ४४ ॥
हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परितप्यति ।
सव्यस्याऽक्ष्णो विकारश्चाऽप्यनिष्टः समपद्यत ॥ ४५ ॥
धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद्भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥ ४६ ॥
शशंस तस्मै पांचाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥ ४७ ॥
द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनञ्जयम् ।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान्प्रति ॥ ४८ ॥
स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाऽऽश्रमात्प्रभुः ।
मृगयामास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ॥ ४९ ॥
स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान् ।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्निताम् ॥ ५० ॥
ततो मृगसहस्राणि मृगेंद्राणां शतानि च ।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याऽऽविशन्नृपः ॥ ५१ ॥

'जाओ जाओ' कहता हुआ काँव काँव कर रहा है। बीच-बीच में शुभसूचक दाहना हाथ भी फड़कता जाता है। दिल धड़कता है और बायाँ पाँव काँपता सा है। अनिष्टसूचक बाईं आँख का फड़कना भी देख पड़ता है ॥४१।४५॥

बुद्धिमान् धर्मराज इन भयसूचक लक्षणों को देखकर घबरा गये। उन्होंने द्रौपदी से पूछा—हे पाञ्चाली! भीमसेन कहाँ हैं? द्रौपदी ने कहा—भीमसेन को गये तो बड़ी देर हुई। द्रौपदी के यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने अर्जुन को द्रौपदी की रक्षा का भार सौंपा, और नकुल तथा सहदेव को ब्राह्मणों की रक्षा करते रहने की आज्ञा दी। फिर वे भीमसेन को खोजने के लिए पुरोहित धौम्य के साथ चले। उस आश्रम से भीमसेन के पावों के निशान देखते-देखते, उन्हीं के सहारे, वे घोर वन के भीतर पहुंचे और वहाँ भीमसेन को ढूढ़ने लगे। पूर्व ओर जाने पर उन्होंने बहुत से हाथियों को देखा। वहाँ सैकड़ों सिंह और हजारों मृग मरे पड़े थे। वहीं पर भीमसेन के पावों के चिह्न देख पड़े ॥४६।५०॥

युधिष्ठिर उधर ही आगे बढ़े। शिकार खेलते समय भीमसेन के दौड़ने से टूटे हुए पेड़ राह में इधर-उधर पड़े थे। इन्हीं चिह्नों से पता चलाते हुए

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः ।
ऊरूवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्जिताः पथि ॥ ५२ ॥
स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे ।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले ॥ ५३ ॥
ईरिणे निर्जले देशे कंटकिद्रुमसंकुले ।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे ॥
गृहीतं भुजगेंद्रेण निश्चेष्टमनुजं तदा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि युधिष्ठिरभीमदर्शने ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७९॥

युधिष्ठिर उस गुफा में पहुच गये। वह स्थान बहुत ही विकट था। वहां रूखी और गर्म वायु चल रही थी। वहां के वृक्ष पत्तों से शून्य सूखे ठूंठ थे। वह ऊसर और निर्जन स्थान कटीले वृक्षों से भरा हुआ था और पत्थरों तथा बिना शाखाओं के छोटे वृक्षों से दुर्गम था। युधिष्ठिर ने देखा, भीमसेन के शरीर में एक बडा अजगर लिपटा हुआ है जिसके मारे वे हिल-डुल नहीं सकते ॥५१।५४॥

वनपर्व का एक सौ उनासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१७९॥

अथ अशीत्यधिकशततमोऽध्याय. ॥१८०॥

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम् ।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
कुंतीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान् ।
कश्चाऽयं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥ २ ॥
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
कथयामास तत्सर्वं ग्रहणादिविचेष्टितम् ॥ ३ ॥
भीम उवाच—अयमार्य महासत्त्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान् ।

एक सौ अस्सी अध्याय ॥१८०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! बुद्धिमान् धर्मराज अपने प्यारे भाई भीमसेन को इस दशा में देखकर कहने लगे—हे भीमसेन ! तुम इस विपत्ति में कैसे पड़ गये ? और, पर्वत जैसे डील-डौलवाला यह अजगर कौन है ? बड़े भाई युधिष्ठिर को देखकर भीमसेन ने आदि से अन्त तक अपने बन्धन का वृत्तान्त कह सुनाया ॥१।३॥

भीमसेन ने कहा—हे आर्य ! इस महासर्प

नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मुच्यतामयमायुष्मन्भ्राता मेऽमितविक्रमः ।
वयमाहारमन्यं ते दास्यामः क्षुन्निवारणम् ॥ ५ ॥

सर्प उवाच—आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः ।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत् ॥ ६ ॥
व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत् ।
स मे भक्ष्यो भवेत्तात त्वं चापि विषये मम ॥ ७ ॥
चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाऽहमेनं विमोक्ष्यामि न चाऽन्यमभिकांक्षये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान्यदि ।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः ।
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजंगम ॥ ९ ॥
किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजंगम ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुंचेद्भवानिमम् ॥ १० ॥

सर्प उवाच—नहुषो नाम राजाऽहमासं पूर्वस्तवाऽनघ ।
प्रथितः पंचमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥ ११ ॥

ने मुझे खा डालने के लिए ही पकड़ा है । ये महाप्रतापी राजर्षि नहुष हैं । तब युधिष्ठिर ने [सर्परूपधारी नहुष से] कहा—हे बड़ी अयुवाले ! तुम हमारे इन पराक्रमी भाई को छोड़ दो । हम तुम्हारी भूख मिटाने के लिये और तरह का आहार देंगे । सर्प ने कहा—हे धर्मराज ! यदुकुल के भीतर आये हुए आहार के रूप में मैंने इस राजकुमार को पाया है । इसलिए तुम यहाँ न ठहरो, चले जाओ, नहीं तो कल तुमको भी खा जाऊँगा । मेरा नियम यही है कि जो मेरे अधिकार के इस देश में आवेगा, उसे मैं खा जाऊँगा । तुम भी मेरे अधिकृत स्थान में आने के कारण मेरा आहार हो चुके हो । बहुत दिनों के पश्चात् खाने के लिए मैंने तुम्हारे भाई को पाया है, इस कारण मैं इसको नहीं छोड़ सकता । और, अन्य आहार के लिए भी मेरी इच्छा नहीं है ॥४।८॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! मैं तुमसे पूछता हूँ, सत्य-सत्य कहो । तुम देवता, दैत्य या सर्प, कौन हो ? तुम मेरे भाई को निगल जाने के लिए क्यों उद्यत हुए हो ? क्या लाकर देने से या क्या जानने से तुम सन्तुष्ट हो सकते हो ? मैं तुमको क्या आहार दूँ ? किस तरह तुम भीमसेन को छोड़

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥ १२ ॥
तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत्तदा ।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ १३ ॥
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान् ।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥ १४ ॥
न तु मामजहात्प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव ।
तस्यैवाऽनुग्रहाद्राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
षष्ठे काले मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाऽहमेनं विमोक्ष्यामि न चाऽन्यदपि कामये ॥ १६ ॥
प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजंगम ॥ १८ ॥
वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद्भवान्वेत्ति केवलम् ।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १९ ॥

सकते हो ॥९।१०॥

सर्प ने कहा—हे निष्पाप ! मैं तुम्हारा पूर्वपुरुष राजा नहुष हूं। मैं चन्द्रमा से पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। मेरे पिता का नाम आयु था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय, इन्द्रियदमन और पराक्रम के प्रभाव से ही मुझे त्रिलोकी का ऐश्वर्य अर्थात् इन्द्रपद प्राप्त हुआ था। उस ऐश्वर्य को पाने से मुझे ऐसा घमण्ड हो गया कि मैं एक हज़ार ब्राह्मणों के कन्धे पर पालकी में बैठकर चलने लगा। मैं ऐश्वर्यमद में ऐसा अन्धा हो गया कि ब्राह्मणों का अनादर करने लगा। उसका फल यह हुआ कि महर्षि अगस्त्य ने क्रोध करके मेरी यह दशा कर दी ॥११।१४॥

मुझे उसका स्मरण अभी तक बना हुआ है। उन्हीं महात्मा अगस्त्यजी की कृपा से अभी तक मुझे अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण है। उन्हीं अगस्त्य के अनुग्रह से मैंने दिन के छठे भाग में तुम्हारे भाई को आहार के रूप में पाया है। मैं इसे नहीं छोड़ूंगा। इसके बदले में और आहार भी नहीं चाहता। हाँ, मैं तुमसे कुछ प्रश्न करता हूँ; यदि तुम उनका ठीक ठीक उत्तर दे सकोगे तो मैं तुम्हारे भाई भीमसेन को छोड़ सकूँगा ॥१५।१७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे अजगर ! तुम जो चाहे

सर्प उवाच—ब्राह्मणः को भवेद्राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर ।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच—सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यंते यत्र नागेंद्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २१ ॥
वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत् ।
यत्र गत्वा न शोचंति भवतः किं विवक्षितम् ॥ २२ ॥
सर्प उवाच—चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
वेद्यं यच्चाऽत्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप ।
ताभ्यां हीने पदं चाऽन्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ २४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २५ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥
यत्पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदं नाऽस्तीति चेदपि ॥ २७ ॥

प्रश्न करो। मैं उत्तर दूंगा। सम्भव है कि मैं उन उत्तरों से तुमको प्रसन्न कर सकूँ; किन्तु पहले यह बताओ कि ब्राह्मण के लिए जिसे जानना आवश्यक है उस केवल अद्वितीय पुरुष को तुम जानते हो या नहीं? तुम्हारा उत्तर सुनकर मैं तुम्हारे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दूंगा ॥१८।१९॥

अजगर ने कहा—बातों से तो तुम अलौकिक बुद्धिमान् जान पड़ते हो। इसलिए पहले यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिए जानना क्या आवश्यक है ! ॥२०॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—सत्य, दान, क्षमा, शील, आनृशंस्य, तप और दया आदि सद्‌गुण जिस में देख पड़ें, वही ब्राह्मण है। और, हे सर्प, जिसे जान लेने से मनुष्य शोकशून्य हो जाता है, वह सुख-दुःख से रहित परब्रह्म ही जानने की वस्तु है। अब तुम अपने प्रश्न कहो ॥२१।२२॥

सर्प ने कहा—हे धर्मराज ! अभ्रान्त वेद चारों वर्णों का हित करता है। वह वेद जिनका प्रतिपादन करता है ऐसे सत्य, दान, क्षमा, आनृशंस्य, अहिंसा, दया आदि सद्‌गुण शूद्र में भी देख पड़ते

एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनं नास्ति पदं क्वचित् ।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २९ ॥
सर्प उवाच—यदि ते वृत्ततो राजन्ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन्कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ ३० ॥
युधिष्ठिर उवाच—जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥ ३१ ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ ३२ ॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥

हैं। तो फिर ब्राह्मण और शूद्र में विशेषता क्या रही? और, तुमने कहा है कि सुख-दुःख रहित पदार्थ जानने की वस्तु है किन्तु सुख-दुख से रहित तो कोई पदार्थ देख ही नहीं पड़ता ॥२३।२४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! जिस शूद्र में पहले कहे गये सत्य आदि गुण हैं, वह शूद्र शूद्र नहीं है। और जिस ब्राह्मण में वे गुण नहीं हैं, वह ब्राह्मण ब्राह्मण ही नहीं। तात्पर्य यह है कि केवल वंश से ही जाति का निश्चय नहीं होता। हे सर्प ! सत्य आदि वेदोक्त लक्षण जिस ब्राह्मण में नहीं हैं वह यथार्थ शूद्र है। और जिस शूद्र में वे लक्षण देख पड़ें वह यथार्थ में ब्राह्मण है। तुमने यह कहा कि सुख-दुःख से रहित कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि सुख और दुःख सर्वत्र देख पड़ते हैं। किन्तु जैसे शीत (जल) के भीतर गर्मी और उष्ण (अग्नि) के भीतर ठण्डक नहीं होती, वैसे ही सुख और दुःख से हीन-वस्तु भी, जिसका अनुभव साधारणतः नहीं होती, कहीं है। तुम चाहे जो समझते हो, पर मेरी समझ तो यही है कि जैसे ठण्डक और गर्मीरहित, अनुभव से परे किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार की जाती है, वैसे ही सुख-दुःख शून्य ज्ञेय पदार्थ का होना भी स्वीकार करना पड़ेगा ॥२५।२९॥

सर्प ने कहा—हे आयुष्मन् ! यदि वेदोक्त आचार से ही ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है, तो फिर जब तक मनुष्य में उस आचार के पालन की शक्ति नहीं आती, तब तक जातिविभाग वृथा है ॥३०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे बुद्धिमान् सर्प ! जन्म, मरण, भाषा और मैथुन आदि में सब मनुष्य समान हैं। सभी सब स्त्रियों में सदा सन्तान उत्पन्न किया करते हैं। इस कारण, मेरे मत में, सब वर्णों का इस प्रकार का संकर (मिश्रण) होने के कारण जाति की परीक्षा होनी अत्यन्त कठिन है। ऋषियों

प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्राऽस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ ३४ ॥
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्त्वत्र नागेंद्र बलवान्प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान्भुजगोत्तम ॥ ३७ ॥
सर्प उवाच—श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद्भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि अजगरयुधिष्ठिरसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८०॥

का कहना है कि यज्ञ करनेवाले ही ब्राह्मण हैं। इसी कारण तत्त्वदर्शी लोगों ने चरित्र को ही प्रधान यज्ञ माना है। 'नाल' काटने के पहले पुरुष को जातकर्म संस्कार कर दिया जाता है। उस समय उस बालक की माता सावित्री और पिता आचार्य कहा जाता है। इस जातिसम्बन्धी सन्देह के समय के लिए ही स्वायंभुव मनु ने व्यवस्था दी है कि पुरुष जब तक वेद नहीं पढ़ता—गायत्री का उपदेश नहीं पाता—तब तक शूद्र के समान रहता है ॥३१।३५॥

हे सर्प! यदि विधिपूर्वक यज्ञोपवीत आदि संस्कार हो जाने पर भी मनुष्य वेद में कहे गये आचार का पालन नहीं करता तो उसमें वर्णसङ्कर के भाव को ही प्रबल मानना चाहिए। इसी से मैं पहले कह चुका हूं कि जो वेदोक्त आचार का पालन करता है—जिसका चरित्र पूर्ण रूप से शुद्ध है—वही ब्राह्मण है ॥३६।३७॥

सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर! मैंने तुम्हारा कथन सुन लिया। मैं जान गया कि जो कुछ जानना चाहिए, उसे तुम अच्छी तरह जानते हो। इसलिए (प्रसन्न होकर, प्रतिज्ञा के अनुसार,) मैं तुम्हारे भाई को छोड़े देता हूं ॥३८॥

—०—

वनपर्व का एक सौ अस्सी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८० ॥

अथ एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८१॥

युधिष्ठिर उवाच—भवानेतादृशो लोके वेदवेदांगपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद्गतिरनुत्तमा ॥ १ ॥
सर्प उवाच—पात्रे दत्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।

अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—दानाद्वा सर्प सत्याद्वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥

सर्प उवाच—दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥
कस्माच्चिद्दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेंद्र किंचिद्दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥
एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥
एवमेतद्भवेद्राजन्कार्यापेक्षमनंतरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत्ते ब्रूहि यावद्ब्रवीम्यहम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ॥ ८ ॥

सर्प उवाच—तिस्रो वै गतयो राजन्परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।

एक सौ इक्यासी अध्याय ॥१८१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! सब वेदों और वेदाङ्गों को तुम बहुत अच्छी तरह जानते ही हो । इसलिए बताओ, कौन सा कर्म करने से अच्छी गति मिलती है ? सर्प ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! मेरी समझ से तो जो मनुष्य सुपात्र को दान करता है, सत्य और प्रिय वचन बोलता है और चाहे अपने प्राण चले जायँ पर जीवहिंसा नहीं करता, वही स्वर्ग को जाता है ॥१।२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे सर्प ! दान और सत्य इन दोनों में कौन मुख्य है ? अहिंसा और प्रिय बोलने में किसका दर्जा बड़ा है ? सर्प ने कहा—हे आयुष्मन् ! कार्य देखकर ही दान, सत्य, अहिंसा, प्रिय वचन बोलना आदि सद्गुण विषयों का गौरव या लाघव बताया जा सकता है । कहीं पर दान की अपेक्षा सत्य की, और कहीं सत्य की अपेक्षा दान की महिमा पाई जाती है । कहीं प्रिय वाक्य बोलने की अपेक्षा अहिंसा का और कहीं अहिंसा की अपेक्षा प्रियवादी होने का महत्त्व देखा जाता है । इस प्रकार कार्य के अनुसार ही इन सद्गुणों की प्रधानता निर्दिष्ट की जाती है । राजन् ! तुम्हें यदि और कुछ पूछना हो तो पूछो, मैं उत्तर देने के लिए तैयार हूँ ॥३।७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! यह देह छूट जाने पर मनुष्य स्वर्ग में जाकर किस तरह अपने

मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तात्त्रिधा ॥ ९ ॥
तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतंद्रितः ।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ १० ॥
विपरीतैश्च राजेंद्र कारणैर्मानुषो भवेत् ।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चाऽत्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥ १२ ॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते ।
गवादिभ्यस्तथाऽश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥ १३ ॥
सोऽयमेता गतीस्तात जंतुश्चरति कार्यवान् ।
नित्ये महति चाऽऽत्मानमवस्थापयते द्विजः ॥ १४ ॥
जातो जातश्च बलवान्भुंक्ते चाऽऽत्मा स देहवान् ।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजालक्षणभावनः ॥ १५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगंधयोः ।
तस्याऽधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥ १६ ॥

कर्म से मिली हुई बुरी या भली योनि में जाता है? शब्द आदि विषयों का उपभोग ही किस तरह करता है? सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर! अपने कर्मों के फल से मनुष्ययोनि, स्वर्गवास अथवा पशु-पक्षी कीड़े आदि की योनि, ये तीन गतियाँ मिलती हैं। जो कोई हिंसा और आलस्य छोड़कर दान आदि सत्कार्य करता है उसे स्वर्गलोक मिलता है ॥८।१०॥

यदि मनुष्य के पुण्य और पाप बराबर होते हैं तो उसे मनुष्ययोनि मिलती है और पाप अधिक होते हैं तो कीट-पतङ्ग आदि की तिर्यग्योनि। इसमें विशेषता यह है कि जो सदा काम-क्रोध-हिंसा-लोभ आदि बुरी प्रवृत्तियों के वशीभूत रहता है वह मनुष्यत्व से भ्रष्ट होकर तिर्यग्योनि में जन्म लेता है। बहुत जीव तिर्यग्योनि से छुटकारा पाकर मनुष्ययोनि में जन्म लेते हैं। कुछ गाय, घोड़े आदि जीव पशुयोनि से एकदम देवयोनि भी पा जाते हैं। हे धर्मराज! यह जीव कर्मानुसार अपने को ऊपर पहुँचाता है और नीचे भी ढकेल देता है। देहाभिमानी आत्मा फल की इच्छा से बारबार जन्म लेता है और देह के साथ फल भोगता है। किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे विषयवासना से बचकर एकमात्र नित्य परमेश्वर में ही आत्मा को स्थापित करते हैं; अर्थात् मुक्ति चाहते हैं ॥११।१५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे सर्प! आत्मा किस तरह

किं न गृह्णासि विषयान्युगपत्त्वं महामते ।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥ १७ ॥

सर्प उवाच—यदात्मद्रव्यमायुष्मन्देहसंश्रयणान्वितम् ।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुंक्ते यथाविधि ॥ १८ ॥
ज्ञानं चैवाऽत्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ॥ १९ ॥
मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान् ।
विषयायतनस्थेन भूतात्मा क्षेत्रनिःसृतः ॥ २० ॥
तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जंतोर्विधीयते ।
तस्माद्युगपदत्राऽस्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥
स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरंतरमाश्रितः ।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥ २२ ॥
बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः ।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम् ।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध का अलग-अलग भोग करता है ? तुम क्या एक साथ सब विषयों का उपभोग नहीं करते ॥१६।१७॥

सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर ! यह आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का आश्रय लेने पर इन्द्रियों से युक्त होकर, ईश्वरीय विधान के अनुसार, विषय-भोग करने में समर्थ होता है । ज्ञान, बुद्धि, मन, ये ही तीन आत्मा के भोगसाधन का सामान 'करण' अर्थात् अन्तःकरण हैं [इन्हीं को सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं]। जीवात्मा अपने आश्रयस्थान 'हृदय' से निकलकर, इन्द्रियासक्त मन की सहायता से, इन सब विषयों को ग्रहण करता है । विषयों का ग्रहण करने के लिए मन को नियुक्त करना बुद्धि का काम है । इसी कारण एक साथ सब विषयों का उपभोग किसी तरह सम्भव नहीं है । बुद्धि भी स्वाधीन नहीं है । जीवात्मा दोनों भौंहों के बीच की जगह में रहकर विविध विषयों में श्रेष्ठ और निकृष्ट बुद्धि को लगाता है ; तथापि बुद्धि के साथ जीवात्मा का कोई संबंध नहीं है । दोनों अलग-अलग हैं ; क्योंकि युक्ति और अनुभव के द्वारा किसी विषय को समझने के पश्चात् ही जिस ज्ञान का उदय होता है, उसी से जीवात्मा का अस्तित्व अलग प्रमाणित होता है ॥१८।२३॥

सर्प उवाच—बुद्धिरात्मानुगातीव उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि सा ज्ञेया बुद्धिस्तस्यैपिणी भवेत् ॥ २५ ॥
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि ।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद्भवेत् ॥ २६ ॥
एतद्विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदंतरम् ।
त्वमप्यत्राऽभिसंबुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ॥ २७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात्समनुपृच्छसि ॥ २८ ॥
सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत्स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥ २९ ॥
सर्प उवाच—सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे नागराज ! आपकी बातें सुनने से जान पड़ता है कि आप मन और बुद्धि का निरूपण करना अध्यात्म-विद्या के ज्ञाताओं का मुख्य कार्य समझते है । इसलिए बताइए कि मन और बुद्धि क्या हैं ? सर्प ने कहा—बुद्धि तो आत्मा की नितान्त अनुगत और आश्रित है । आत्मचेतना से युक्त होकर बुद्धि, कार्य द्वारा, आत्मा के वश में हो जाती है* । विषय और इन्द्रिय जब परस्पर संयुक्त होते हैं तब वे अच्छी या बुरी बुद्धि पैदा करते हैं । किन्तु इस तरह मन की सृष्टि करनेवाला कोई नहीं है । बुद्धि में सुख या दुःख पैदा करने की कोई सामर्थ्य नहीं है ; यह सामर्थ्य तो मन में ही है । इस प्रकार मन में और बुद्धि में जो अन्तर है वह स्पष्ट समझ में आ जाता है । हे धर्मराज! तुम भी बुद्धिमान् हो बताओ, इस विषय में तुम्हारी सम्मति क्या है ॥२४।२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सर्प ! तुम्हारा ज्ञान और बुद्धि सब मनुष्यों की अपेक्षा उन्नत है; इसी कारण जानने योग्य विषयों में तुम्हें यथेष्ट जानकारी भी है । फिर मुझसे इस विषय में सम्मति क्यों लेते हो ? मुझे एक बड़ा ही आश्चर्य प्रतीत पड़ता है । वह यह कि सर्वज्ञ और स्वर्गवासी होने पर भी तुम से यह भूल कैसे हो गई ? [मुझे विश्वास नहीं होता कि तुमने ब्राह्मणों का अनादर किया होगा । ऐसा अनुचित कर्म तुमसे कैसे बन पड़ा ?] ॥२८।२९॥

सांप ने कहा—हे धर्मराज ! मैं समझता हूँ कि अत्यन्त शूर और बुद्धिमान् पुरुष भी ऐश्वर्य के मद में अन्धे हो जाते हैं । विशेष कर विषय सुख के वशीभूत हो जाने पर हर एक व्यक्ति को भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता । इसलिए धन और ऐश्वर्य

* जीवात्मा पर जब माया अपना प्रभाव डालती है तब वह बुद्धि का आश्रय लेता है ।

सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसंबुद्धस्त्वां तु संबोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥
कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया संभाष्य साधुना॥ ३२ ॥
अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन्पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन्कंचिन्नाऽन्यमचिन्तयम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मर्षिदेवगंधर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
करान्मम प्रयच्छंति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥
चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥ ३५ ॥
ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ।
स मामपनयो राजन्भ्रंशयामास वै श्रियः ॥ ३६ ॥
तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन्स्पृष्टो मया मुनिः ।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ॥ ३७ ॥
ततस्तस्माद्विमानाग्र्यात्प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ।
प्रपतन्बुबुधे त्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् । ॥ ३८ ॥

के मद में उन्मत्त होकर मेरा ऐसा कार्य कर बैठना कुछ विचित्र नहीं । इस समय ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने पर मुझे ज्ञान हुआ है, इसलिए मैं तुमको भी सावधान किये देता हूँ कि ऐश्वर्य पाकर सदा सावधान रहना । हे युधिष्ठिर ! [तुम्हारा चरित्र बहुत ही अच्छा है ।] आज मुझे इस दारुण शाप से छुड़ाकर तुमने मेरा बड़ा भारी उपकार किया ॥३०।३२॥

मैं पूर्वजन्म में, विमान पर चढ़कर, स्वर्ग में विचरा करता था । ऐसा ऐश्वर्य पाकर मैं मदान्ध हो उठा । मैंने किसी की परवा नहीं की। देवता, गन्धर्व यक्ष, राक्षस, नाग, महर्षि आदि त्रैलोक्य की सब प्रजा मुझे 'कर' देती थी । मैं असाधारण दृष्टिशक्ति के प्रभाव से देखते ही सब प्राणियों के तेज को हर लेता था । हज़ारों ब्रह्मर्षि मेरी पालकी उठाते थे । उसी दुर्नीति के कारण मैं इस तरह श्री भ्रष्ट हो गया हूँ ॥३३।३६॥

एक समय महर्षि अगस्त्य मेरी पालकी में लगे हुए थे । मैंने उनको लात मार दी, तब उन्होंने क्रोध करके मुझे शाप दे दिया । कहा, तू शीघ्र श्री से भ्रष्ट होकर अजगर हो जा । मैं उसी दम श्री-भ्रष्ट होकर विमान से नीचे गिर पड़ा । गिरते समय मुझे सर्पयोनि मिली, तब मुझे होश आया । मैं महर्षि से

अयाचं तमहं विप्रं शापस्यांऽतो भवेदिति ।
सर्प उवाच—प्रमादात्संप्रमूढस्य भगवन्क्षंतुमर्हसि ॥ ३९ ॥
ततः स मामुवाचेदं प्रपतंतं कृपान्वितः ।
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात्त्वां मोक्षयिष्यति ॥ ४० ॥
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ।
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
ततो मे विस्मयो जातस्तद्दृष्ट्वा तपसो बलम् ।
ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाऽहमचूचुदम् ॥ ४२ ॥
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ॥ ४३ ॥
अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४४ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागत् ॥ ४६ ॥

गिड़गिड़ाकर कहने लगा—हे भगवन्! बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण मुझसे यह अपराध हो गया है। इसलिए क्षमा करके मुझे शाप से छुड़ा दीजिए। दयालु मुनि ने कहा—धर्मराज युधिष्ठिर तुमको शाप से छुड़ावेंगे। राजन्! तुम्हारे घोर अभिमान पाप का प्रायश्चित होने पर शाप से छुटकारा होगा और तुम फिर स्वर्ग में आ जाओगे ॥३७।४०॥

उस समय उनका तपोबल देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य प्रतीत हुआ था। इसी कारण मैंने तुमसे ब्रह्म और ब्राह्मण के बारे में पहले प्रश्न किया था। राजन्! मनुष्य सत्य, इन्द्रिय-दमन, तपस्या, दान, अहिंसा और नित्य धर्म का आचरण करने से ही अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है; जाति या कुल से कुछ नहीं होता। अब मैं स्वर्ग को जाता हूँ। तुम्हारा और भीमसेन का भला हो ॥४१।४४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! अब राजर्षि नहुष ने वह अजगर का शरीर छोड़ दिया। वे दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गलोक को चल दिये। धर्मराज युधिष्ठिर भी भीमसेन और धौम्य पुरोहित के साथ अपने आश्रम को लौट गये। उन्होंने वहाँ जाकर

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४७ ॥
तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चाऽस्य ये त्रयः ।
आसन्सुव्रीडिता राजन्द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ४८ ॥
ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पांडवानां हितेप्सया ।
मैवमित्यब्रुवन्भीमं गर्हयंतोऽस्य साहसम् ॥ ४९ ॥
पांडवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम् ।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजन्हुश्च मुदा युताः ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८१॥
समाप्तं चेदमाजगरपर्व ॥

सब भाइयों और ब्राह्मणों के आगे सब वृत्तान्त कहा। अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और सब ब्राह्मण यह हाल सुनकर बहुत लज्जित हुए। पाण्डवों के हित की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणों ने भीमसेन के इस दुस्साहस की निन्दा करके कहा— अब कभी ऐसा मत करना। विपत्ति से छूटे हुए भीमसेन को पाकर सब पाण्डव प्रसन्न हुए और उनके साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥४५।५०॥

वनपर्व का एक सौ इक्यासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८१॥

अथ मार्कण्डेयसमास्यापर्व ॥

अथ द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८२॥

वैशम्पायन उवाच—निदाघांतकरः कालः सर्वभूतसुखावहः ।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥
छादयंतो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः ।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ॥ २ ॥

एक सौ बयासी अध्याय ॥१८२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! ग्रीष्म ऋतु के व्यतीत होनेपर सब प्राणियों को सुख पहुँचानेवाली वर्षा ऋतु आ गई। तम्बुओं की तरह शोभायमान वर्षा के काले मेघ आकाश और दिशाओं को घेरकर बड़े जोर से गरजते हुए दिन-रात जल बरसाने लगे। सूर्य का प्रकाश छिप गया; इधर-उधर बादलों में बिजली चमकने लगी। जल से भीगी हुई पृथ्वी हरी-हरी नई घास से छा गई। डाँस,

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ॥ ३ ॥
विरूढशष्पा धरणी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शांता सर्वमनोरमा ॥ ४ ॥
न स्म प्रज्ञायते किंचिदंभसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वाऽपि नद्यो वा स्थावराणि च ॥ ५ ॥
क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाऽऽशुगाः ।
सिंधवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये ॥ ६ ॥
नदतां काननांतेषु श्रूयंते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥
स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपंतति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥ ८ ॥
तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ९ ॥
क्रौंचहंससमाकीर्णा शरत्प्रमुदिताऽभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥ १० ॥
विमलाकाशनक्षत्रा शरत्तेषां शिवाऽभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पांडवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥

मच्छड़ और कीड़ों-पतंगों का उपद्रव बढ़ गया। पृथ्वी पर इतना जल भर गया कि बराबर, ऊँचा और शून्य, नदी और स्थल, कुछ स्पष्ट रूप से नहीं जान पड़ता था ॥१।५॥

शीघ्रगामी बाण की तरह बहती हुई नदियों के प्रवाह से किनारे के वनों की भूमि शोभित हो गई। सुअर, मृग, पक्षी आदि जीव जल की बौछार में भीगकर वनों में तरह तरह की बोलियों से आनन्द प्रकट करने लगे। पपीहा, मोर, कोयल आदि पक्षी मस्त होकर उड़ने लगे। मेंडक भी ऐंठ क मोर गढ़ों में 'टरटर' करने लगे। पाण्डवों ने वहाँ बड़े सुख से वर्षा का समय बिताया। इसके पश्चात् रमणीय शरद ऋतु आ गई। क्रौंच, हंस आदि जलचर पक्षी प्रसन्न होकर इधर-उधर विचरने लगे। जङ्गलों में और पर्वतों पर घास निकली हुई थी। नदियों का जल स्वच्छ हो गया ॥६।१०॥

आकाश निर्मल रहने से चन्द्रमा और नक्षत्रों का प्रकाश भी उज्ज्वल हो उठा। शरद ऋतु पाण्डवों के लिए सुखदायक हुई। धूल का नाम न था; बादल कहीं देखने को न थे। ग्रहों और नक्षत्रों सहित

दृश्यंते शांतरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसंघैश्च सोमेन च विराजिताः ॥ १२ ॥
कुमुदैः पुंडरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥ १३ ॥
आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसंकुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥ १४ ॥
ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यंतो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥
तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत्कार्तिकी जनमेजय ॥ १६ ॥
पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पांडवाः ।
तत्सर्वे भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥ १७ ॥
तमिस्राभ्युदये तस्मिन्धौम्येन सह पांडवाः ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अजगरपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८२॥

चन्द्रमा का उदय होने से रात्रियें बहुत मनोहर प्रतीत होने लगीं । शीतल जल से भरी हुई नदियों में कुमुद श्वेत कमल आदि के फूल खिलने लगे । वेतसलताओं या पूर्ण और नीलरेखा के रूप में दीखते हुए किनारों से मनोहर, आकाश के समान शोभायमान सरस्वती नदी देखनेवालों के हृदय में हर्ष का सञ्चार करने लगी । शरद की सुन्दर शोभा देखकर पाण्डव बहुत प्रसन्न हुए । हे राजा जनमेजय ! पाण्डव लोग नारायण के आश्रम में ही थे कि कार्तिक की पूर्णिमा आ गई । तब वे वहां से चलने का उद्योग करने लगे । पुण्यात्मा महाबली पाण्डव महर्षि धौम्य, सूत, अनुचरों आदिके साथ काम्यकवन को चले ।११।१८।

वनपर्व का एक सौ बयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८२ ॥

अथ त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८३॥

वैशम्पायन उवाच—काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥ १ ॥
ततस्तान्परिविश्वस्तान्वसतः पांडुनंदनान् ।

ब्राह्मणा बहवस्तत्र समंतात्पर्यवारयन् ॥ २ ॥
अथाऽब्रवीद् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा ।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ॥ ३ ॥
विदिता हि हरेर्यूयमिहाऽऽयाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकांक्षी श्रेयोन्वेषी च वो हरिः ॥ ४ ॥
बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान्समेष्यति ॥ ५ ॥
तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः ॥ ६ ॥
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपायाद्देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥ ७ ॥
अवतीर्य रथात्कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववंदे मुदितो धीमान्भीमं च बलिनां वरम् ॥ ८ ॥
पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः ।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ॥ ९ ॥
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिंदमः ॥ १० ॥

एक सौ तिरासी अध्याय ॥१८३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि सब पाण्डव लोग काम्यक वन में पहुँच गये । मुनियों ने उनका अतिथिसत्कार किया। द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव जब सुखपूर्वक वहां बैठ तब वे ब्राह्मण भी उन्हें घेरकर बैठ गये । उनमें से एक ब्राह्मण ने कहा—हे पाण्डवो ! अर्जुन के प्रिय मित्र महाबाहु, उदारबुद्धि श्रीकृष्णजी सदा तुम लोगों की भलाई चाहते हैं । उन्हें सदा तुमसे मिलने की और तुम्हें देखने की चाह रहती है । उन्हें तुम्हारे यहां आने की सूचना मिल गई है, और वे शीघ्र ही यहां तुमसे मिलने के लिये आवेंगे । बड़ी आयुवाले, तप और स्वाध्याय में तत्पर, महात्मा मार्कण्डेय ऋषि भी तुम्हारे पास शीघ्र ही आवेंगे ॥१।५॥

उस ब्राह्मण की बात अभी पूर्ण भी न होने पाई थी कि शैब्य, सुग्रीव नाम के श्रेष्ठ घोड़ों से युक्त रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् यहां पर आ गये । इन्द्र के साथ इन्द्राणी के समान उनके साथ सत्यभामा भी थीं । पाण्डवों को देखने के लिए आये हुए श्री-

तथैव सत्यभामाऽपि द्रौपदीं परिषस्वजे ।
पांडवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥
ततस्ते पांडवाः सर्वे सभार्याः स पुरोहिताः ।
आनर्चुः पुंडरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्धनंजयेनाऽसुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा समेत्य साक्षाद्भगवान्गुहेन ॥ १३ ॥
ततः समस्तानि किरीटमाली वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत्पुनरन्वपृच्छत्कथं सुभद्रा च स चाऽभिमन्युः ॥ १४ ॥
स पूजयित्वा मधुहा यथावत्पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥ १५ ॥
धर्मः परः पांडव राज्यलाभात्तस्याऽर्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्त्वयाऽयं च परश्च लोकः ॥ १६ ॥
अधीतमग्रे चरता व्रतानि सम्यग्धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ॥ १७ ॥

कृष्णजी ने रथ से उतरकर धर्मराज, भीमसेन और पुरोहित धौम्य के पांव छुए। नकुल और सहदेव ने श्रीकृष्णजी को प्रणाम किया। फिर श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को बारबार गले से लगाकर द्रौपदी को मधुर वचनों से ढाढ़स बँधाया ॥६।१०॥

श्रीकृष्ण की प्यारी रानी सत्यभामा ने भी पाण्डवों की पटरानी द्रौपदी को गले से लगाया। पूजा-सत्कार करने के उपरान्त द्रौपदी, पुरोहित धौम्य और पाँचों पाण्डव श्रीकृष्णजी के चारों ओर बैठ गये। कृष्ण भगवान् अर्जुन से मिलकर कार्त्तिकेयसहित भगवान् शङ्कर के समान शोभित हुए। अर्जुन ने श्रीकृष्णजी से वन में और देवलोक में रहने का सब वृत्तान्त कहकर सुभद्रा और अभिमन्यु के कुशलसमाचार पूछे। अर्जुन, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य का सत्कार करके धर्मराज की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्णजी ने कहा—हे राजेन्द्र! राज्य पाने की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है। धर्म के लिए तप किया जाता है। आपने सत्य और सरलता के साथ अपने धर्म का पालन करके इस लोक और परलोक दोनों को जीत लिया ॥११।१६॥

आपने ब्रह्मचर्य के समय सब धनुर्वेद सीखा, फिर क्षत्रियधर्म के अनुसार धन उपार्जन किया। उसके पश्चात् विधिपूर्वक प्राचीन महायज्ञ भी किये। हे नरेन्द्र! आप विषय-भोग में उचित से अधिक आसक्त तो नहीं हैं। किसी कार्य को आप इच्छा के वशीभूत होकर तो नहीं करते; अर्थसिद्धि के

न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवाऽस्ति कामान्न किंचित्कुरुषे नरेन्द्र ।
न चाऽर्थलोभात्प्रजहासि धर्मं तस्मात्प्रभावादसि धर्मराजः ॥ १८ ॥
दानं च सत्यं च तपश्च राजञ्श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ॥ १९ ॥
यदा जनौघः कुरुजांगलानां कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं सहेत तत्पांडव कस्त्वदन्यः ॥ २० ॥
असंशयं सर्वसमृद्धकामः क्षिप्रं प्रजाः पालयिताऽसि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ॥ २१ ॥
धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः ॥ २२ ॥
प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
दिष्ट्या समग्राऽसि धनंजयेन समागतेत्येवमुवाच कृष्णः ॥ २३ ॥
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधानास्तवाऽऽत्मजास्ते शिशवः सुशीलाः ।
सद्भिः सदैवाऽऽचरितं सुहृद्भिश्चरंति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥ २४ ॥
राज्येन राष्ट्रैश्च निमंत्र्यमाणाः पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।

लोभ से कभी धर्म को तो नहीं छोड़ते। इसी से आपको पृथ्वी पर सब लोग धर्मराज कहते हैं। हे पार्थ! आप राज्य, धन और अनेक प्रकार की उपभोग की सामग्री पाकर भी दान, तप, सत्य, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा, धैर्य आदि पर सदा प्रेम रखते हैं। आपके शत्रुओं ने सभा के बीच, कुरुजाङ्गल और अन्य अनेक देशों के लोगों के सामने, द्रौपदी को लाकर नग्न करना चाहा था। उनके उस धर्मविरुद्ध निन्दित कार्य को आपके सिवा और कौन सह सकता था! अब आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा हो जायगा और आप धर्म से प्रजा का पालन करेंगे। हे युधिष्ठिर! यदि आपकी प्रतिज्ञा की अवधि पूरी हो गई हो तो कहिए, मैं अभी दुष्ट दुर्योधन-सहित कुरुवंश का नाश कर डालूं॥१७।२१॥

अब धौम्य आदि की ओर देखकर श्रीकृष्णजी ने कहा—हे महावीर अर्जुन! आप लोगों के भाग्य से ही अस्त्रविद्या प्राप्त करके प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग से लौट आये हैं। फिर अपने इष्टमित्रों-सहित यदुनाथ श्रीकृष्णजी ने द्रौपदी से कहा—हे पाञ्चाली! तुम्हारा सौभाग्य है कि अर्जुन लौटकर आ गये। द्वारका में रहनेवाले तुम्हारे सुशील पुत्र इस समय बड़ी लगन से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। वे सदा सत्सङ्ग में रहने के कारण सज्जनों के योग्य सदाचार की बातें भी सीख गये हैं॥२२।२४॥

न यज्ञसेनस्य न मातुलानां गृहेषु बाला रतिमाप्नुवंति ॥ २५ ॥
आनर्तमेवाऽभिमुखाः शिवेन गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवाऽऽत्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य न दैवतेभ्यः स्पृहयंति कृष्णे ॥ २६ ॥
यथा त्वमेवाऽर्हसि तेषु वृत्तं प्रयोक्तुमार्या च यथैव कुंती ।
तेष्वप्रमादेन तथा करोति तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा ॥ २७ ॥
यथाऽनिरुद्धस्य यथाऽभिमन्योर्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे तवाऽऽत्मजानामपि रौक्मिणेयः ॥ २८ ॥
गदासिचर्मग्रहणेषु शूरानस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग्विनेता विनयेदतंद्रीस्तांश्चाऽभिमन्युः सततं कुमारः ॥ २९ ॥
स चापि सम्यक्प्रणिधाय शिक्षां शस्त्राणि चैषां विधिवत्प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाऽभिमन्योः पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ॥ ३० ॥
यथा विहारं प्रसमीक्षमाणाः प्रयांति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयांति तत्र रथाश्च यानानि च दंतिनश्च ॥ ३१ ॥
अथाऽब्रवीद्धर्मराजं तु कृष्णो दशार्हयोधाः कुकुरांधकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयंतस्तिष्ठंतु यत्रेच्छसि तत्र राजन् ॥ ३२ ॥

हे द्रौपदी ! तुम्हारे पिता और भाइयों ने उन को कई बार बुला भेजा, और राज्य आदि का भी लोभ दिया, पर उन्हें नाना या मामा के पास रहना नहीं भाता । वे द्वारकापुरी में यादवों के पास बड़े सुख से रहते हैं और युद्धविद्या सीखते हैं । वे द्वारका को छोड़कर देवताओं के पास रहना भी पसन्द नहीं करते । आर्या कुन्ती और तुम जिस तरह उन्हें सच्चरित्रता सिखाती [और उनके लालन पालन में स्नेह दिखाती,] उसी तरह सुभद्रा उन्हें सदाचार सिखाती और स्नेह करती है । अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानु का जिस प्रकार प्रद्युम्न शिक्षक और रक्षक है उसी प्रकार वह तुम्हारे पुत्रों का भी है । शिक्षा देने में चतुर, आलस्यहीन कुमार अभिमन्यु तुम्हारे पुत्रों को गदायुद्ध, ढाल-तलवार का युद्ध, अनेक अस्त्रों का प्रयोग और रथ चलाना सिखाते रहते हैं । अनेक अस्त्र शस्त्र देकर और अच्छी तरह उनका प्रयोग सिखाकर प्रद्युम्न ने उन्हें चतुर बना दिया है । वह तुम्हारे पुत्रों के और अभिमन्यु के पराक्रम को देखकर बहुत प्रसन्न होता है । हे पाञ्चाली ! तुम्हारे बालक जब शिकार आदि खेलने जाते हैं तब उनकी सवारी के साथ हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना जाती है ॥२५।३१॥

अब श्रीकृष्णजी ने युधिष्ठिर से कहा—हे धर्मराज ! कुकुर, अन्धक आदि वंशों के वीर यादव,

आवर्ततां कार्मुकवेगवाता हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवाऽर्थेषु नरेंद्र यत्ता ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ॥ ३३ ॥
प्रस्थाप्यतां पांडव धार्तराष्ट्रः सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः ।
सप्तानुबंधः ससुहृद्गणश्च भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ॥ ३४ ॥
कामं तथा तिष्ठ नरेंद्र तस्मिन्यथा कृतस्ते समयः सभायाम् ।
दाशार्हयोधैस्तु हतारियोधं प्रतीक्षतां नागपुरं भवंतम् ॥ ३५ ॥
व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः प्रपत्स्यसे नागपुरं सराष्ट्रम् ॥ ३६ ॥
ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः कृतांजलिः केशवमित्युवाच ॥ ३७ ॥
असंशयं केशव पांडवानां भवान्गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः कर्ता भवान्कर्म न संशयोऽस्ति ॥ ३८ ॥
यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।
अज्ञातचर्या विधिवत्समाप्य भवद्गताः केशव पांडवेयाः ॥ ३९ ॥

जहां आप कहें वहां जाकर, आपकी आज्ञा का पालन करने को उद्यत हैं । हे नरेन्द्र ! बलदेव जिसके सेनापति होंगे वह मथुरानिवासी यादवों की चतुरङ्गिणी सेना धनुष-बाण आदि अस्त्र शस्त्र लेकर आपकी सहायता करने को उद्यत है । हे पाण्डुपुत्र ! आप महापापी दुर्योधन को उसके सहायकों और इष्टमित्रों के साथ वहीं भेज दीजिए जहां भौमासुर और शाल्व आदि गये हैं । सभा में आप जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं उसके पूर्ण होने की अवधि तक ठहरे रहिए । यादववंश के योधा उसके पश्चात् शत्रुपक्ष का नाश करेंगे और हस्तिनापुर का सिंहासन आप पावेंगे । अभी क्रोध और पाप से बचकर आप चाहे जहाँ रहिए, और प्रतिज्ञा पूर्ण होने की राह देखिए । समय के व्यतीत होने पर आप शोक को छोड़कर समृद्धियुक्त और साम्राज्य-सहित सिंहासन के अधिकारी होकर हस्तिनापुर में आइएगा ॥३२।३६॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी की सम्मति जानकर युधिष्ठिर ने उनकी प्रशंसा की और फिर हाथ जोड़कर कहा—हे केशव ! इसमें सन्देह नहीं कि आप ही पाण्डवों की एकमात्र गति हैं; पाण्डव आपके ही शरणागत हैं । प्रतिज्ञा की अवधि व्यतीत होने पर जब समय आवेगा तब अवश्य आप अपने इस कथन के अनुसार सब कार्य करेंगे । हे केशव ! प्रतिज्ञा के अनुसार वन में रहकर हम बारह वर्ष व्यतीत कर चुके हैं । इसके पश्चात् अज्ञातवास का एक वर्ष व्यतीत करके हम लोग

एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां सत्ये स्थिताः केशव पांडवेयाः ।
सदानधर्माः सजनाः सदाराः सबांधवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत ।
अथ पश्चात्तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ॥ ४१ ॥
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कंडेयो महातपाः ।
अजरश्चाऽमरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः ॥ ४२ ॥
व्यदृश्यत तथायुक्तो यथा स्यात्पंचविंशकः ।
तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ॥ ४३ ॥
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पांडवैः ।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ।
ब्राह्मणानां मतेनाऽऽह पांडवानां च केशवः ॥ ४४ ॥

कृष्ण उवाच - शुश्रूषवःपांडवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाऽहं परमं वचः ॥ ४५ ॥
पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान्सनातनान् ।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कंडेय विचक्ष्व नः ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ।

आपका ही आश्रय लेंगे । श्रीकृष्ण ! आपके आश्रय में रहनेवाले हम पाण्डवों की ऐसी ही बुद्धि बनी रहे; हम सत्य और धर्म को कभी न छोड़ें । हम सत्पथ पर चलनेवाले, दान और धर्म में तत्पर रहकर स्त्री-पुत्र-बान्धव आदि सहित आपकी ही शरण में रहें ॥३७।४०॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! श्रीकृष्ण और धर्मराज यह बातचीत कर ही रहे थे कि श्रेष्ठ रूप और गुणों से शोभित, धार्मिकश्रेष्ठ, महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि वहां देख पड़े । वे चिरजीवी है । इतने प्राचीन होने पर भी देखने में पचीस वर्ष की आयु के से जवान जान पड़ते हैं । सब ब्राह्मणों, पाण्डवों और श्रीकृष्णजी ने विधिपूर्वक उनका पूजन और सत्कार किया ॥४१।४४॥

पूजा ग्रहण करके आसन पर बैठकर जब ऋषि लोग कुछ विश्राम कर चुके तब पाण्डवों और ब्राह्मणों की इच्छा के अनुसार श्रीकृष्णजी ने कहा—हे मार्कण्डेय जी ! आप वयोवृद्ध हैं; इसकारण ये ब्राह्मण, पाण्डव, द्रौपदी, सत्यभामा और मैं, सभी आपके मुँह से पुरावृत्त, पुण्यकथा, राजा रानी और ऋषियों के सदाचार सुनना चाहते हैं । आप कृपा करके हमारी अभिलाषा को पूर्ण कीजिए ॥४५।४६॥

आजगाम विशुद्धात्मा पांडवानवलोककः ॥ ४७ ॥
तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुपर्षभाः ।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीपिणः ॥ ४८ ॥
नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ।
मार्कंडेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ॥ ४९ ॥
उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः ।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत्ते पांडवेषु विवक्षितम् ॥ ५० ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कंडेयो महातपाः ।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ॥ ५१ ॥
एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पांडवाः सह तैर्द्विजैः ।
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ॥ ५२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तं विवक्षंतमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ।
कथासंजननार्थाय चोदयामास पांडवः ॥ ५३ ॥
भवान्दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम् ।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ॥ ५४ ॥
सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः कांक्षितश्चिरम् ।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ॥ ५५ ॥

हे महाराज ! श्रीकृष्णजी के यह कह चुकने पर विशुद्ध-हृदय देवर्षि नारद भी पाण्डवों से मिलने के लिए वहां आ गये। पाण्डवों ने पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि देकर उनकी पूजा की। वहां के सब लोगों को मार्कण्डेय के मुँह से इतिहास कथा सुनने के लिए उत्सुक देखकर नारदजी ने उसका अनुमोदन किया। तब समय का ज्ञान रखनेवाले श्रीकृष्णजी ने मार्कण्डेय से कहा—हे ब्रह्मर्षि ! आप पाण्डवों को जो सुनाना चाहते हैं सो सुनाइए। मार्कण्डेय ने कहा—यह कथा बड़ी लम्बी-चौड़ी है; इस कारण उसे सुनने का एक समय निश्चित कर लो। तब पाण्डवों ने दोपहर का समय निश्चित किया ॥४७।५२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! धर्मराज ने मुनिवर को कथा का प्रारम्भ करने के लिए उद्यत देखकर कहा—हे भगवन् ! आप देवता, दैत्य, महात्मा ऋषि, राजर्षि आदि के चरित्रों को अच्छी तरह जानते हैं। आपकी और श्रीकृष्णजी की सेवा और उपासना करना हमारा कर्त्तव्य है, क्योंकि दोनों ही हमें प्रिय हैं। मेरा सौभाग्य है कि आप लोग यहां

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम् ।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ॥ ५६ ॥
कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याऽप्यशुभस्य वा ।
सफलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ॥ ५७ ॥
कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर ।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथवा पुनः ॥ ५८ ॥
देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥ ५९ ॥
ऐहलौकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क्व च कर्माणि तिष्ठंति जंतोः प्रेतस्य भार्गव ॥ ६० ॥
मार्कंडेय उवाच—त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद्वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ॥ ६१ ॥
अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहाऽमुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६२ ॥
निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।
ससर्ज धर्मतंत्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥
अमोघफलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ॥ ६४ ॥

मुझे दर्शन देने आये हैं। मै इस समय अपने को दु ख सहते और दुराचारी दुष्ट सुयोधन को दिन-दिन अधिक समृद्धिशाली होते देखकर यह सोचता हूँ कि पुरुष किस तरह शुभाशुभ कार्यों का कर्ता होकर उनका फल भोगता है ? न्यायी ईश्वर को क्या उस शुभाशुभ फल का देनेवाला स्वीकार कर लिया जाय ? मनुष्य के सुख दु ख का कारण क्या है ? मनुष्य उन कर्मों का फल इस लोक में भोगता है या परलोक में ? शुभाशुभ कर्मों का फल इस लोक में या परलोक में किसके सहारे रहता है ? ॥५३।६०॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तुमने यह प्रश्न बहुत ठीक किया। सब जानने योग्य विषयों को तुम जानते ही हो। इस समय केवल लोकाचार की रक्षा और अन्य लोगों की जानकारी के लिए तुम यह प्रश्न कर रहे हो। मनुष्य इस लोक या परलोक में जिस तरह सुख दु ख भोगता है सो मै कहता हूँ, एकाग्र होकर सुनो। हे कुरुश्रेष्ठ ! प्रजापति ब्रह्मा ने शरीरधारियों का शरीर निर्मल, पवित्र

सर्वे देवैः समायांति स्वच्छंदेन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायांति सर्वे स्वच्छंदचारिणः ॥ ६५ ॥
स्वच्छन्दमरणाश्चाऽऽसन्नराः स्वच्छन्दचारिणः ।
अल्पबाधा निरातंकाः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ॥ ६६ ॥
द्रष्टारो देवसंघानामृषीणां च महात्मनाम् ।
प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दांता विगतमत्सराः ॥ ६७ ॥
आसन्वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः ।
ततः कालांतरेऽन्यस्मिन्पृथिवीतलचारिणः ॥ ६८ ॥
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नराः ॥ ६९ ॥
अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः ।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ७० ॥
मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।
सर्वाभिशंकिनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ॥ ७१ ॥
अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ।
दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ॥ ७२ ॥

और धर्मतन्त्र बनाया था। पहले के मनुष्य सुव्रत (सचरित्र), सत्यवादी, ब्रह्मनिष्ठ और सफल संकल्प-वाले होते थे ॥६१।६४॥

वे सहज ही देवताओं के साथ आकाश में जा सकते और वहां से पृथ्वी पर आ सकते थे। वे स्वच्छन्द गतिवाले मनुष्य निर्भय और निरुपद्रव थे। जब चाहते थे तब उनकी मृत्यु होती थी। उनके कार्यों के सिद्ध होने में कोई बाधा न पड़ती थी। वे देवताओं और ऋषियों से भेंट कर सकते थे। सब धर्मों को वे प्रत्यक्ष सा देख लेते थे। वे जितेन्द्रिय थे, उनमें मत्सर या ईर्ष्या नहीं थी। उनकी आयु सहस्र वर्ष की होती थी और पुत्र भी सहस्रों उत्पन्न होते थे। इसके पश्चात् समय के व्यतीत होने पर पृथ्वी पर रहते-रहते उनके हृदय में काम-क्रोध आदि के भाव उत्पन्न हुए, और वे कपट के व्यवहार से अपनी जीविका चलाने लगे। तब उस पहले के शरीर की अपेक्षा हीन शरीर पाकर वे निन्दनीय कर्म करने लगे; साथ ही पापग्रस्त होकर तिर्यग्योनियों और नरकों में जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि वे संसार में बारम्बार जन्म-मरण का दुःख भोगने लगे ॥६५।७०॥

उनके मानसिक संकल्प और ज्ञान विफल होने

भवंत्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथंतः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः ॥ ७३ ॥
जंतोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति ॥ ७४ ॥
क्वस्थस्तत्समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राऽप्यनुनयं शृणु ॥ ७५ ॥
अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ॥ ७६ ॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सं भवत्येव युगपद्योनौ नाऽस्त्यंतराऽभवः ॥ ७७ ॥
तत्राऽस्य स्वकृतं कर्म च्छायेवाऽनुगतं सदा ।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाऽथ जायते ॥ ७८ ॥
कृतांतविधिसंयुक्तः स जंतुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादीनो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ ७९ ॥
एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ॥ ८० ॥

लगे। प्रायः सभी लोग निन्दनीय कार्य और आचरण करने लगे। वे लोग बुरे घरानों में उत्पन्न होकर रोग-ग्रस्त, दुरात्मा, प्रभावहीन, पापी, अल्प आयुवाले, कामभोग में लिप्त, भिन्नरुचि और कच्ची समझवाले तथा नास्तिक होने लगे ॥७१।७३॥

हे युधिष्ठिर! इस संसार के सब जीव मरने के पश्चात् अपने कर्मों का फल भोगते हैं। अब यह सुनो कि ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों के कर्मफल कहाँ रहते हैं और वे जीव कहाँ रहकर अच्छे और बुरे कार्यों के फल भोगते हैं? ईश्वर के सिरजे हुए आदिशरीर के द्वारा मनुष्य, शुभ और अशुभ, कार्य करता है। आयु समाप्त होने पर उस क्षीणप्राय शरीर को छोड़कर उसी घड़ी वह अन्य स्थूल शरीर पा जाता है और दूसरी योनि में जन्म लेता है। जीव क्षण भर भी देह के बिना नहीं रहता ॥७४।७७॥

इस समय अपने किये कर्मों से बना हुआ अदृष्ट (भाग्य) छाया की तरह उसके साथ रहता है। उसी से जीव सुख-दुःखमय फल भोगने का अधिकारी होता है। ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि काल के अधीन जीव अपने शुभाशुभ करने से उत्पन्न सुख या दुःख को टाल नहीं सकता। हे युधिष्ठिर! अज्ञानी पुरुषों की जो गति होती है सो मैं कह

मनुष्यास्तत्र सतपस. सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ८१ ॥
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षांता दांताः सुतेजसः।
शुचियोऽन्यंतरगताः प्रायश शुभलक्षणाः ॥ ८२ ॥
जितेंद्रियत्वाद्वशिन. शुक्लत्वान्मदरोगिणः ।
अल्पाबाधपरित्रासाद्भवंति निरुपद्रवाः ॥ ८३ ॥
च्यवंतं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यते ज्ञानचक्षुषा ॥ ८४ ॥
ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यांति सुरालयम् ॥ ८५ ॥
किंचिद्दैवाद्धतात्किंचित्किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवंति नरा राजन्मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ॥ ८६ ॥
इमामत्रोपमा चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः पर मन्ये युधिष्ठिर ॥ ८७ ।
इह चैकस्य नाऽमुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह चाऽमुत्र चैकस्य नाऽमुत्रैकस्य नो इह ॥ ८८ ॥

चुका, अब ज्ञानियों की श्रेष्ठ गति का हाल सुनो ॥७८।८०॥

ज्ञानी पुरुष प्राय दूसरे जन्म में तप और स्वाध्याय में तत्पर, सच्चरित्र, सत्यपरायण, गुरु सेवक, सुशील, योगाभ्यासी, तेजस्वी क्षमाशील, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होते हैं। वे जितेन्द्रिय होने के कारण स्वाधीन पवित्र रहने के कारण नीरोग और दुःख भय न रहने के कारण उपद्रव से बचे रहते हैं। वे अपनी और दूसरों की उन सब बातों को ज्ञान दृष्टि से जानते हैं, जो हो चुकी हैं, जो हो रही हैं और जो होनेवाली हैं। वे प्रत्यक्षदर्शी महात्मा ही ऋषि कहाते हैं। वे इस कर्मभूमि में आकर फिर स्वर्गलोक को चले जाते हैं ॥८१।८५॥

राजन्! मनुष्य कुछ फल दैववश कुछ फल अचानक और कुछ अपने कर्मों के कारण पाते हैं। इसलिए इस बारे में तुम और तरह का कुछ विचार मत करो। युधिष्ठिर! मैं इस विषय का एक उदाहरण सुनाता हूँ। मनुष्य जिस परम श्रेय (भलाई) समझते हैं वह किसी को इस लोक में मिलता है, परलोक में नहीं मिलता, किसी को परलोक में मिलता है, यहाँ नहीं मिलता, किसी को इस लोक

धनानि येषां विपुलानि संति नित्यं रमंते सुविभूषितांगाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नाऽसौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥ ८९ ॥
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयंति देहान् ।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्तास्तेषामसौ नाऽयमरिघ्न लोकः ॥ ९० ॥
ये धर्ममेव प्रथमं चरंति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजंते तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९१ ॥
ये नैव विद्यां न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतंति ।
न चाऽनु गच्छंति सुखान्न भोगांस्तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९२ ॥
सर्वे भवंतस्त्वतिवीर्यसत्त्वा दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ॥ ९३ ॥
कृत्वैव कर्माणि महांति शूरास्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन्प्रेतगणांश्च सर्वान्संतर्पयित्वा विधिना परेण ॥ ९४ ॥
स्वर्गं परं पुण्यकृतां निवासं क्रमेण संप्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद्विशंका तव कौरवेंद्र दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम् ॥ ९५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मार्कण्डेयसमागमे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

और परलोक दोनों में मिलता है ; और किसी को इस लोक या परलोक किसी लोक में नहीं मिलता ॥८६।८८॥

जो लोग बड़े ऐश्वर्यवान् है, वे इस लोक में सुख भोगते हैं ; किन्तु परलोक में उन्हें सुख नहीं मिलता । जो लोग तप और स्वाध्याय में लगे रहते हैं, इन्द्रियों को वश में रखते हैं, प्राणियों की हिंसा नहीं करते, मन मारकर या तप के कष्ट सहकर देह को जीर्ण करते है, वे इस लोक में नहीं, परलोक में सुख भोगते है । जो लोग पहले ब्रह्मचर्य, वेदपाठ आदि से धर्म उपार्जन करते हैं, फिर धर्म की राह से धन का उपार्जन और यथासमय विवाह करके गृहस्थाश्रम में आते हैं तथा यज्ञ आदि करके देवताओं की आराधना करते हैं वे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख भोगते है ॥८९।९१॥

जो मूर्ख पुरुष विद्याभ्यास, तप, दान आदि भी नहीं करते और पुत्र उत्पन्न करने का यत्न या सुखभोग की इच्छा भी नहीं करते, उनके लोक परलोक, दोनों मिट जाते हैं । हे युधिष्ठिर ! तुम लोग बड़े बली, पराक्रमी, तेजस्वी, सुदृढ़-शरीरवाले, शूर और सब विद्याओं में विशारद हो; तपस्वी, जितेन्द्रिय और सदाचारी सच्चरित्र भी हो । तुमने सब श्रेष्ठ और बड़े बड़े यज्ञ आदि कार्य करके पितरों, देवताओं और महर्षियों को सन्तुष्ट किया है । तुम अपने कर्मों के फल से स्वर्ग पाओगे, जहां पुण्यात्मा महापुरुष रहते हैं । हे कौरवेन्द्र ! तुम वर्तमान क्लेश

को देखकर छड़को मत। देवताओं का कार्य सँभालने के लिए तुम लोग पृथ्वी पर आये हो। यह दुःख तुम्हे आगे मिलनेवाले सुख का कारण है ॥९२।९५॥

—०—

वनपर्व का एक सौ तिरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८३ ॥

अथ चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८४॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयं महात्मानमूचुः पांडुसुतास्तदा ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥ १ ॥
एवमुक्तः स भगवान्मार्कंडेयो महातपाः ।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २ ॥
मार्कण्डेय उवाच—हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद्बली ॥ ३ ॥
चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासंगं ददर्श मुनिमंतिके ॥ ४ ॥
स तेन निहितोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
व्यथितः कर्म तत्कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥ ५ ॥
जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ।
तेषां च तद्यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥ ६ ॥

एक सौ चौरासी अध्याय ॥१८४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महर्षि मार्कण्डेय से युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने कहा कि हे ऋषिवर! आप हमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों का माहात्म्य सुनाइए। सब शास्त्रों के ज्ञाता, महातेजस्वी, मार्कण्डेय मुनि कहने लगे—हे राजेन्द्र! हैहयवंश में एक परपुरंजय नाम के बड़े रूपवान् राजकुमार थे। एक समय वे शिकार खेलने के लिए वृक्ष-लता और घास से भरे एक वन में गये। काले मृग की खाल ओढ़े हुए एक मुनि को कृष्णसार मृग के धोखे में उस राजकुमार ने बाण चलाकर मार डाला। पास जाने मे जब उन्हें ब्रह्महत्या का हाल मालूम पड़ा तब बहुत ही शोक मे व्यथित और दुःखित होकर वे हैहयवंश के राजाओं के पास गये। वहां उन्होंने सब हाल कह सुनाया ॥१।५॥

मुनिवर की मृत्यु का वृत्तान्त सुनकर हैहयवंश के राजा वन में गये और वहां उनकी लाश पाकर बहुत ही दुःखित हुए। तब वे पता लगाने के लिए चारों ओर फिरने लगे कि मृत महापुरुष किसके पुत्र

तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥ ७ ॥
कस्याऽयमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ।
जग्मुश्चाऽरिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याऽऽश्रममंजसा ॥ ८ ॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम् ।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाऽऽहरत् ॥ ९ ॥
ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ॥ १० ॥
तानब्रवीत्स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।
क चाऽसौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ॥ ११ ॥
ते तु तत्सर्वमखिलमाख्यायाऽस्मै यथातथम् ।
नाऽपश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ॥ १२ ॥
अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ।
तानब्रवीत्तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय: ॥ १३ ॥
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः ।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ॥ १४ ॥
ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ॥ १५ ॥

हैं। खोजते खोजते वे काश्यप के पुत्र अरिष्टनेमा के आश्रम में पहुँचे। उन महात्मा मुनि को प्रणाम करके वे सामने खड़े हो गये। महर्षि ने उनका आदर-सत्कार किया। तब उन्होंने कहा—हे मुनिवर! हम ब्रह्महत्या कर चुके हैं इसलिए आपसे सत्कार पाने के योग्य नहीं हैं ॥६।१०॥

अरिष्टनेमा ने कहा—आपने किस तरह ब्रह्महत्या कर डाली? वह मृत ब्राह्मण कहां है? मैं इसी समय आप लोगों को अपना तपोबल दिखाता हूँ। उन राजाओं ने ब्रह्महत्या का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया; फिर वे उन्हें उस जगह ले गये जहां ब्राह्मण की लाश छोड़ आये थे; परन्तु उस स्थान पर उन्हें वह लाश नहीं देख पड़ी। उन्हें यह सब स्वप्न सा जान पड़ने लगा। वे अपनी असावधानी के लिए लज्जित और अचेत से हो गये। तब महर्षि ने उनसे कहा—हे राजाओ! देखो, यह वही ब्राह्मण है जिसे तुमने मार डाला था। यह तपस्वी मेरा ही पुत्र है ॥११।१४॥

मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ।
किमेतत्तपसो वीर्यं येनाऽयं जीवितः पुनः ॥ १६ ॥
श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ।
स तानुवाच नाऽस्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ॥ १७ ॥
कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः ।
सत्यमेवाऽभिजानीमो नाऽनृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १८ ॥
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १९ ॥
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
संभोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २० ॥
शांता दांताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २१ ॥
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।
एतद्वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ॥
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद्भयमस्ति वः ॥ २२ ॥

जब मुनि ने उस मृत ब्राह्मण को जीवित अवस्था में दिखा दिया तब वे राजा "कैसा आश्चर्य है।" कहकर बड़े अचम्भे में पड़ गये। उन्होंने अरिष्टनेमा से कहा—हे भगवन्! ये मृत महर्षि कैसे फिर जी-कर यहां आ गये? ये क्या तप के प्रभाव से फिर जी उठे? हे विप्र! हम इन प्रश्नों का उत्तर सुनना चाहते हैं। यदि हमारे सुनने योग्य बात हो तो कृपा करके कहिए ॥१५।१७॥

अरिष्टनेमा ने कहा—हे राजेन्द्र! मृत्यु हम तपस्वियों के आगे अपना प्रभाव नहीं प्रकट कर सकती। आपसे संक्षेप में हम इसका कारण कहते हैं। हम ब्राह्मण केवल सत्य के ही वशवर्ती हैं; हमारा मन कभी मिथ्या की ओर नहीं जाता। हम सदा अपने धर्म के अनुकूल ही आचरण किया करते हैं, इसी कारण हमें मृत्यु का भय नहीं है। हम ब्राह्मणों की भली बातें ही प्रकट करते हैं, उनके बुरे कार्यों को हम प्रकट नहीं करते, इसलिए हमें मृत्यु का भय नहीं है ॥१८।२०॥

हम लोग पहले खाने-पीने की सामग्री से अतिथियों का सत्कार करते हैं, फिर जिनके भरण-पोषण का भार हमारे सिर पर है उन्हें तृप्त और सन्तुष्ट करके अन्त में स्वयं भोजन करते हैं; इसी

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम् ।
स्वदेशमगमन्हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहात्म्यकथने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८४॥

॥ हमें मृत्यु का भय नहीं है। हम शान्त, जितेन्द्रिय, और क्षमाशील हैं; हम तीर्थयात्रा और दान करते हैं तथा पवित्र देश में रहते हैं; इसलिए हमें मृत्यु का भय नहीं है। हम तेजस्वी पुरुषों के पास रहते हैं, इस कारण हमें मृत्यु का खटका नहीं है। यह अपने मृत्यु-भयहीन होने का कारण हमने संक्षेप में कह दिया है। अब आप लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने घर को जाइए; ब्रह्महत्या के पाप का भय न कीजिए। मुनि की आज्ञा मानकर राजा लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने अपने स्थान को चले गये ॥२१।२३॥

वनपर्व का एक सौ चौरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८४॥

अथ पंचाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

मार्कण्डेय उवाच—भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥ १ ॥
तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम् ।
भूयोऽर्थं नाऽनुरुध्यत्स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥ २ ॥
स विचिन्त्य महातेजा वनमेवाऽन्वरोचयत् ।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥
प्राप्स्यामः फलमत्यंतं बहुलं निरुपद्रवम् ।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥ ४ ॥
तं भार्या प्रत्युवाचाऽथ धर्ममेवाऽनुतन्वती ।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥ ५ ॥

एक सौ पचासी अध्याय ॥१८५॥

श्रीमार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! ब्राह्मणों की और भी महिमा सुनाता हूँ, सुनो। हमने सुना है कि एक समय महाराज वेन नामक राजर्षि ने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। अत्रि ऋषि ने धन माँगने की इच्छा से उनके पास जाने का विचार किया; किन्तु उन्होंने ब्राह्मण के धर्म—सन्तोष-की रक्षा करने के विचार से उस विचार को छोड़ दिया। अन्त को विशेष रूप से विचार करके उन्होंने वन जाने का ही निश्चय किया। तब अपनी धर्मपत्नी और पुत्रों को बुलाकर कहा—चलो, हम सब चल-

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम् ।
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥ ६ ॥
भृत्यान्सुतान्संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम् ।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥ ७ ॥
अत्रिरुवाच—कथितोऽसौ महाभागे गौतमेन महात्मना ।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥ ८ ॥
किं त्वस्ति तत्र द्वेष्टारो निवसंति हि मे द्विजाः ।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥ ९ ॥
तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ॥ १० ॥
गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चाऽर्थसंचयम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा जगामाऽऽशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥ १२ ॥
वाक्यैर्मंगलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद्वचः ।
अत्रिरुवाच—राजन्धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ॥ १३ ॥

कर वन में रहें । वहाँ हमें अत्यन्त श्रेष्ठ, बाधाहीन फल (तप) प्राप्त होगा। इसलिए तुम वन में चलना पसन्द कर लो ॥१।४॥

उनकी स्त्री ने धर्म पर ध्यान देकर कहा—आप महानुभाव राजा वेन के पास जाकर उनसे बहुत धन माँगिए । वे राजर्षि यज्ञ कर रहे हैं ; अवश्य ही आपको बहुत सा धन देंगे। वहाँ से धन लाकर पुत्रों को और जिनके भरण पोषण का भार आपके सिर पर है उनको बाँटकर आप चाहे जहाँ जाइए। यह आपका कर्त्तव्य है । धार्मिक पुरुषों ने यही धर्म बताया है ॥५।७॥

अत्रि ने अपनी पत्नी से कहा—हे महाभागे ! महात्मा गौतम ने कहा है कि राजा वेन धर्म और सत्यव्रत में स्थिर हैं; किन्तु उनकी सभा में कुछ ऐसे ब्राह्मण भी हैं जो मुझसे द्वेष करते हैं । गौतम की इस बात के कारण वहा जाने को मेरा जी नहीं चाहता। वहा मेरे विद्वेषी ब्राह्मण मेरे कहे धर्मार्थयुक्त वचनों को निरर्थक बतावेंगे, कुछ का कुछ कहेंगे; परन्तु तुम्हारे कहने से अब मैं अवश्य उनके यहा जाऊँगा। राजा वेन प्रसन्न होकर मुझे गायें और बहुत सा धन अवश्य देंगे ॥८।११॥

महात्मा अत्रि शीघ्र ही वेन राजा की सभा में पहुँचे।

स्तुवंति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नाऽस्ति धर्मवित् ।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ॥ १४ ॥
गौतम उवाच—मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेंद्रो वै प्रजापतिः ॥ १५ ॥
अथाऽत्रिरपि राजेंद्र गौतमं प्रत्यभाषत ।
अयमेव विधाता हि यथैवेंद्रः प्रजापतिः ।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवाऽस्ति ह ॥ १६ ॥
गौतम उवाच—जानामि नाऽहं मुह्यामि त्वमेवाऽत्र विमुह्यसे ।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ॥ १७ ॥
न वेत्थ परमं धर्मं न चाऽवैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥ १८ ॥
विवदंतौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छंत कथं त्विमौ ॥ १९ ॥
प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि ।
उच्चैः समभिभाषंतौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥ २० ॥

उचित सत्कार करके मङ्गलमय वचनों से वे राजा की स्तुति करने लगे—हे राजेन्द्र! आप धन्य, ईश्वर (समर्थ) और पृथ्वी के सबसे पहले राजा हैं। मुनि लोग भी इसी से आपकी स्तुति, किया करते हैं। आपसे बढ़कर धर्मज्ञ कोई नहीं है ॥१२।१४॥

इस प्रकार अत्रि के स्तुति करने पर महर्षि गौतम ने क्रोधित होकर उनसे कहा—हे अत्रि! तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं जान पड़ती। अब ऐसे वचन कभी मत कहना। महेन्द्र और प्रजापति चन्द्र हमारे प्रथम राजा तथा पालन करनेवाले हैं। तब अत्रि ने कहा—हे गौतम! महाराज वेन विधाता, इन्द्र और प्रजापति सब कुछ हैं। हे गौतम! तुम प्रज्ञाहीन और मोहवश होने के कारण ऐसी बात कह रहे हो। गौतम ने कहा—मैं भली भांति जानता हूँ कि मुझे मोह ने नहीं दबा रक्खा है; मोह में तो तुम्हीं स्वार्थवश पड़े हुए हो। राजा से भेंट करने को मोहवश सभा के बीच ऐसी खुशामद कर रहे हो। न तो तुम श्रेष्ठ धर्म को जानते हो, और न तुम्हें उससे कुछ प्रयोजन ही है। अवस्था में वृद्ध होने पर भी तुम मूढ़ हो, तुम्हारी बुद्धि बालकों की सी है ॥१५।१९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि दोनों मुनियों को इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद करते देखकर राजा के यज्ञ में दीक्षा लिये हुए अन्य महर्षियों ने

ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥ २१ ॥
अथाऽब्रवीत्सदस्यांस्तु गौतमो मुनि सत्तमान् ।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥
वैन्यं विधातेत्याहाऽत्रिरत्र नौ संशयो महान् ।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन्द्रुतम् ॥ २३ ॥
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।
प्रत्युवाचाऽथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥ २४ ॥
सनत्कुमार उवाच—ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
संयुक्तौ दहतः शत्रून्वनानीवाऽग्निमारुतौ ॥ २५ ॥
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥ २६ ॥
प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नाऽर्चितुमर्हति ॥ २७ ॥
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः ।
स्वर्णेता सहजिद्बभ्रुरिति राजाऽभिधीयते ॥ २८ ॥

कहा—ये यहां क्यों आये हैं ? राजा वेन के यज्ञ-सभा में इन्हें भीतर किसने आने दिया ? ये यहां इस तरह क्यों वाद-विवाद कर रहे हैं ? तब सब धर्मों के जाननेवाले महर्षि काश्यप ने दोनों मुनियों के पास जाकर उनके उस झगड़े का कारण पूछा ॥२०।२१॥

महर्षि गौतम ने सब सदस्यों से कहा—हे मुनिवरो ! हमारे झगड़े का कारण सुनो । ये अत्रि राजा वेन को विधाता कहते हैं, पर मैं नहीं मानता; मुझे इसके ठीक होने में सन्देह है । गौतम के ये वाक्य सुनकर सब मुनि इस सन्देह को दूर करने के लिए महात्मा सनत्कुमार के पास गये । उक्त महात्मा उनके मुँह से सब समाचार सुनकर इस प्रकार धर्म-सङ्गत वचन कहने लगे—॥२२।२४॥

जैसे अग्नि को वायु की सहायता मिलने से बड़ा भारी वन भस्म हो जाता है वैसे ही ब्रह्मतेज के साथ क्षत्रिय का तेज मिलने से वह सब शत्रुओं का नाश कर सकता है । राजा धर्म को स्थापित करनेवाला, नीतिमार्ग को दिखानेवाला और प्रजा का प्रतिपालक होता है । इसी कारण राजा शक्र, बृहस्पति और

सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः ।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥ २९ ॥
आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥ ३० ॥
ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात् ।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥ ३१ ॥
मार्कण्डेय उवाच—ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः ।
तमत्रिमब्रवीत्प्रीतः पूर्वं येनाऽभिसंस्तुतः ॥ ३२ ॥
यस्मात्पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाऽब्रवीः ।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे संमितं श्रेष्ठमेव च ॥ ३३ ॥
तस्मात्तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ॥ ३४ ॥
दशकोटिर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश ।
एतद्ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥ ३५ ॥
तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याऽभिसत्कृतः ।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥ ३६ ॥

विधाता का रूप है क्योंकि वह रक्षक, नीतिज्ञ, पिता के तुल्य और हित का उपदेश करनेवाला है। प्रजापति, सम्राट्, विराट्, क्षत्रिय, भूपति आदि शब्दों से जिसकी स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन नहीं करेगा! राजा धर्म और स्वर्ग की राह दिखाता है। वह लोक-रक्षा का प्रधान कारण है। वह संग्राम में विजय पाता है, सत्य का प्रचार करता है, और ईश्वर तथा विष्णु का रूप है। वह स्वयं निर्भय होकर सबकी रक्षा करता है। पहले अधर्म के भय से डरे हुए महर्षियों ने क्षत्रियों को बहुत बलवान् बनाया है। सूर्य जैसे अपनी किरणें फैलाकर स्वर्ग में देवताओं के अँधेरे को दूर करते हैं, वैसे ही राजा पृथ्वीमण्डल के सब लोगों के अधर्म को मिटाता रहता है॥२५।३०॥

इस कारण शास्त्र का प्रमाण देखने से राजा की ही प्रधानता माननी पड़ती है। जिन मुनि ने राजा को श्रेष्ठ और प्रधान कहा है उन्हीं का कहना ठीक है। मार्कण्डेय कहते हैं कि तब महात्मा वेन ने इस सिद्धान्त को सुनकर, सन्तुष्ट होकर, स्तुति करनेवाले अत्रि से कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझे देवता-सदृश और मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा है, इस कारण मैं आपको बहुत सा धन, वस्त्र, गहने, हज़ार दासियाँ, दस करोड़ सुवर्णमुद्रा और चाँदी के ढेर देता हूँ,

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसंधाय वनमेवाऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पंचाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

लीजिए। हे ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ! आप सब कुछ जानते हैं। आप मुझे मान्य हैं। इस प्रकार राजा से सत्कार और सम्पत्ति पाकर, धन और गोधन लेकर, महर्षि अत्रि प्रसन्नतापूर्वक अपने घर आये। उन्होंने वह सम्पत्ति पुत्रों को बांट दी और फिर आप तप करने के लिए वन को चले गये ॥३१।३७॥

वनपर्व का एक सौ पचासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८५॥

अथ षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

मार्कण्डेय उवाच—अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥ १ ॥
तार्क्ष्य उवाच-किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥ २ ॥
कथं चाऽग्निं जुहुयां पूजये वा कस्मिन्काले केन धर्मो न नश्येत् ।
एतत्सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान्विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥
मार्कण्डेय उवाच एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥
सरस्वत्युवाच-यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै पारं देवलोकस्य गंता सहामरैः प्राप्नुयात्प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥

एक सौ छियासी अध्याय ॥१८६॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे युधिष्ठिर! तार्क्ष्य अर्थात् काश्यप ऋषि के यही प्रश्न करने पर सरस्वती ने जो उत्तर दिया है, सो सुनो। एक समय तार्क्ष्य ने सरस्वती से कहा-हे भद्रे! इस लोक में मनुष्य का श्रेय क्या है? कौनसा आचरण करने से मनुष्य का धर्म भ्रष्ट नहीं होता? मैं किस समय, किस प्रकार अग्निहोत्र और देवपूजा करूं? क्या करने से धर्म का नाश नहीं होता? हे सुभगे! यह सब कहो। वह उपदेश करो जिससे मैं रजोगुण के प्रभाव से बचकर पवित्र लोकों में चला जाऊँ ॥१।३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! उत्तम बुद्धिवाले प्रसन्नचित्त ब्रह्मर्षि के यों प्रश्न करने पर सरस्वती ने कहा—जो कोई पवित्र सावधान, स्वाध्याययुक्त होकर गुरु के उपदेश के अनुसार परब्रह्म को जानता है, वही देवलोक को जाता है और वहाँ देवताओं के साथ रहकर प्रसन्न होता है। देवलोक

तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ॥ ६ ॥
तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो न हीयमानाः पृथगप्सरोभिः ।
सुपुण्यगंधाभिरलंकृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥ ७ ॥
परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवंति दत्वाऽनडुहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।
वासो दत्वा चान्द्रमसं तु लोकं दत्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥ ८ ॥
धेनुं दत्वा सुप्रभां सुप्रदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावंति रोमाणि भवंति तस्यास्तावद्वर्षाण्यासते देवलोके ॥ ९ ॥
अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनंतवीर्यम् ।
धुरंधरं बलवन्तं युवानं प्राप्नोति लोकान्दशधेनुदस्य ॥ १० ॥
ददाति यो वै कपिलां सचैलां कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाऽथ भूत्वा नरं प्रदातारमुपेति सा गौः ॥ ११ ॥
यावंति रोमाणि भवंति धेन्वास्तावत्फलं भवति गोप्रदाने ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥ १२ ॥
सदक्षिणां कांचनचारुशृंगीं कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवंति ॥ १३ ॥

में बहुत चौड़े, रमणीय, पवित्र, फूले हुए कमलों से शोभित सरोवर है। मछलियाँ और सुवर्ण के सहस्रदल कमल उन सरोवरों में हैं। उन सरोवरों में कीचड़ का नाम तक भी नहीं है। पुण्यात्मा महापुरुष उनके किनारे पवित्र सुगन्ध, अलङ्कार और सुनहरे रङ्ग से शोभित अप्सराओं के साथ बैठते और विहार करते है। गोदान करनेवाले पुरुषों को उत्तम लोक मिलते हैं। वृषभ दान करनेवाले सूर्य-लोक को जाते है। वस्त्र का दान करनेवाले चन्द्रलोक में आनन्द भोगते हैं और सुवर्णदान करने से देवयोनि मिलती है। सीधी, दुधार, अच्छे रङ्ग की, बचेवाली गाय देनेवाला मनुष्य उतने ही असंख्य वर्षों तक देवलोक में रहता है, जितने रोएँ उस गाय के शरीर में होते हैं। जवान, हल चलाने में समर्थ, बली, धुरा (जुआ) धारण करनेवाला एक बैल देने से दस गाय देने का फल होता है ॥४।१०॥

जो कोई धन, दक्षिणा, वस्त्र और कांसे की दोहनी के साथ कपिला गऊ दान करता है वह जब स्वर्ग में जाता है तब पूर्वोक्त गुणोंवाली गाय, काम धेनु के रूप से, उसके पास आ जाती है। उस पुरुष के पुत्र, पोते, सारा कुल और पहले की सात पीढ़ियां गोदान के पुण्य से तर जाती हैं। उस गाय के जितने

स्वकर्मभिर्दानवसंज्ञिरुद्धे तीव्रांधकारे नरके संपतंतम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥ १४ ॥
यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ १५ ॥
यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यं स्वग्नौ नियतः साधुशीलः ।
सप्तावरान्सप्त पूर्वान्पुनाति पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ॥ १६ ॥
तार्क्ष्य उवाच—किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चाऽनुरूपे ।
त्वयाऽनुशिष्टोऽहमिहाऽद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥ १७ ॥
सरस्वत्युवाच न वाऽशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणिर्नाऽब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुक्षवः शुचिकामा हि देवा नाऽश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषंति ॥ १८ ॥
नाऽश्रोत्रियं देवहव्ये नियुंज्यान्मोघं पुरा सिंचति तादृशो हि ।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम् ॥ १९ ॥
कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं पश्यंति देवं परमं चापि सत्यम् ॥ २० ॥

रोएँ होते हैं उतना अनन्त फल (पुण्य) मनुष्य को मिलता है। ऐसे ही जो पुरुष दक्षिणा, कासे की दोहनी, द्रव्य, वस्त्र आदि सामग्री के साथ सुवर्ण के सींगों सहित तिल की धेनु देते हैं उन्हें वसुलोक की गति सुलभ होती है। काम, क्रोध आदि असुरों के अधीन होकर जो मनुष्य बुरे कार्य करता है और मरकर उन्हीं बुरे कार्यों के कारण अन्धकारमय घोर नरक में गिरने लगता है उसे परलोक में गाय वैसे ही उबार लेती है जैसे समुद्र में डूबते हुए मनुष्य को जहाज़ उबार लेता है। जो ब्राह्म विधि से कन्यादान करता है, ब्राह्मण को विधिपूर्वक भूमिदान और अन्य दान करता है उसे इन्द्रलोक मिलता है। हे तार्क्ष्य! जो कोई सदाचारी सज्जन सात वर्ष तक नियम से अग्निहोत्र करता है वह अपने पुण्य के बल से सात पहले की और सात पीछे की पीढ़ियों को तार देता है ॥११।१६॥

तार्क्ष्य ने कहा—हे भगवती! वेदोक्त अग्निहोत्र व्रत की विधि क्या है? कृपा करके कहिए। आपके उपदेश से अग्निहोत्र के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। सरस्वती ने कहा—हे तार्क्ष्य! अशुद्ध, हाथ न धोये हुए, ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ, अविद्वान् व्यक्ति को अग्निहोत्र का अधिकार नहीं है; क्योंकि अन्तर्यामी देवता शुद्धि चाहते हैं; वे श्रद्धाहीन अशुद्ध पुरुष के दिये हुए द्रव्य को ग्रहण नहीं करते। जो श्रोत्रिय अर्थात् वेदपाठी नहीं है, उसे देवहव्य के कार्य में नियुक्त न करना चाहिए।

ताक्ष्यर्उवाच—क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमति प्रविष्टाम् ।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥ २१ ॥
सरस्वत्युवाच—अग्निहोत्रादहमभ्यागताऽस्मि विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥ २२ ॥
ताक्ष्यं उवाच—न हि त्वया सदृशीकाचिदस्ति विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमनंतकांति प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥ २३ ॥
सरस्वत्युवाच—श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयंति ।
तैरेव चाहं संप्रवृद्धा भवामि चाप्यायिता रूपवती च विप्र ॥ २४ ॥
यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥ २५ ॥
ताक्ष्यं उवाच-इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यायच्छंते मुनयः संप्रतीताः ।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं मोक्षं परं यं प्रविशंति धीराः ।
सांख्या योगाः परमं यं विदंति परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥ २६ ॥
सरस्वत्युवाच-तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ।

उसका किया हुआ हवन व्यर्थ होता है। अश्रोत्रिय ब्राह्मण अधूरा माना गया है; इसी से उसको अग्निहोत्र का अधिकार नहीं है। जो लोग श्रद्धापूर्वक, सत्य-व्रत धारण करके, अग्निहोत्र करते हैं और उस से बची हुई सामग्री से अपना निर्वाह करते हैं वे सत्यस्वरूप परम देव विष्णु के दर्शन पाते हैं और गोलोक को जाते है ॥१८।२०॥

ताक्ष्यं ने फिर पूछा—हे देवि ! आप परलोक के भावों को क्षेत्रज्ञ आत्मा की तरह जानती है और बुद्धि के समान कर्मकाण्ड के मर्म को भली भाँति जानती हैं। हे सुभगे ! मेरे विचार से आप प्रज्ञा हैं। अब मैं आप से पूछता हूँ कि आप कौन और क्या हैं ? सरस्वती ने कहा—महर्षियों के सन्देह दूर करने के लिए मैं अग्निहोत्र से आई हूँ। तुमको मैंने यह यथार्थ बात बता दी ॥२१।२२॥

ताक्ष्यं ने कहा—हे देवि ! आपके समान कोई नहीं है। आप साक्षात् लक्ष्मी के समान हैं, रूप दिव्य और कान्ति अनन्त है। हे सुभगे ! आप ही प्रज्ञा देवी को धारण करती हैं। सरस्वती ने कहा—हे द्विजेन्द्र ! ऋत्विक् लोग यज्ञ में जिन लकड़ी, लोहे और मिट्टी के पात्रों का उपयोग करते हैं और जिन श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करते हैं, उन्हीं से रूपवती होकर मैं बढ़ती हूँ। हे विद्वन् ! मेरे उस दिव्य रूप और प्रज्ञा से ही सिद्धि मिलती है। ॥२३।२५॥

ताक्ष्यं ने कहा—श्रद्धालु मुनि लोग जिस मोक्ष को सबसे बढ़कर मानते और जिसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-दमन आदि कठोर व्रत करते हैं, उस शोक-रहित मोक्ष का स्वरूप मुझे बताइए। सांख्य-

स्वाध्यायवंतो व्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥ २७ ॥
तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगंधः सहस्रशाखो विपुलो विभाति ।
तस्य मूलात्सरितः प्रस्रवंति मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ॥ २८ ॥
शाखां शाखां महानद्यः संयांति सिकताशयाः ।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥ २९ ॥
यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेंद्राः सह मरुद्गणाः ।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मम ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

योगशास्त्र के ज्ञाता जिसे पुरातन और श्रेष्ठ समझते हैं उस परमात्मा को भी मैं अच्छी तरह नहीं जानता। इसलिए इस विषय को भी बताइए। इस प्रश्न के उत्तर में सरस्वती ने कहा—हे तार्क्ष्य! स्वाध्याय निरत वेदार्थ के ज्ञाता लोग शोक और विषयवासना छोड़कर व्रत, पुण्य कर्म और योगाभ्यास के द्वारा जिस पुरातन परम पुरुष को प्राप्त करते हैं वही परब्रह्म है। उस परम पुरुष के भीतर सहस्र शाखा शोभित, पुण्य गन्धवाली, विशाल वेतसलता है।* उसके मूल से मधुर जल के बहाववाली पवित्र नदियाँ बहती हैं।† उसकी प्रत्येक शाखा में सिकताशययुक्त, धानापूपविशिष्ट, मांसशाकवती, पायसकर्दमपरिपूर्ण महानदियाँ जाती हैं।‡ जहाँ अग्नि, इन्द्र, मरुद्गण आदि देवताओं ने श्रेष्ठ यज्ञ किये हैं वही परम पद है। हे तार्क्ष्य! मेरी स्थिति का स्थान भी वही है। मैं विद्यारूपिणि सरस्वती हूँ ॥२९।३०॥

वनपर्व का एक सौ छियासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८६॥

अथ सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८७॥

वैशम्पायन उवाच—ततः स पांडवो विप्रं मार्कंडेयमुवाच ह ।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ १ ॥
मार्कण्डेय उवाच—विवस्वतः सुतो राजन्महर्षिः सुप्रतापवान् ।

एक सौ सत्तासी अध्याय ॥१८७॥

वैशम्पायन ने कहा कि हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से कहा-हे ब्रह्मन्! अब आप वैवस्वत मनु का चरित्र कहिए। मार्कण्डेय ने कहा—हे महाराज! विवस्वान् (सूर्य)

* शाखा=भोगस्थान। पुण्यगन्ध=शब्द आदि विषय। वेतसलता=ब्रह्माण्ड। † मूल=अविद्या। मधुर पानी के बहाव=तृप्तिजनक भोग। नदियां=भोग वासनाएँ। ‡ सिकताशय=बालू के कणों की तरह परस्पर विच्छिन्न। धाना=भुने जव, जिनमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती। अपूप=बहुत से छेदोंवाला खाने का पदार्थ, पुआ। मांस=हिंसा से प्राप्त शाक=निःसार। पायस=पहले देखने में सुन्दर पर अन्त में गरिष्ठ। कर्दम=कल्मषमयी। महानदी=पुत्र धन आदि की इच्छा।

बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २ ॥
ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिप ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत्तपः ॥ ४ ॥
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ ५ ॥
तं कदाचित्तपस्यंतमार्द्रचीरजटाधरम् ।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
भगवन्क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ ७ ॥
दुर्बलं बलवंतो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।
आस्वदंति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ॥ ८ ॥
तस्माद्भयौघान्महतो मज्जंतं मां विशेषतः ।
त्रातुमर्हसि कर्ताऽस्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥ ९ ॥
स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाऽभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात्तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥ १० ॥

के पुत्र, मनु के नाम से प्रसिद्ध, एक बड़े ही प्रतापी महर्षि थे । वे प्रजापति के समान तेजस्वी थे । बल, तेज, कान्ति, दीप्ति और तप में वे अपने पिता सूर्य और पितामह कश्यप से भी बढ़कर थे। उन्होंने बदरिकाश्रम में दस हज़ार वर्ष तक ऊर्ध्वबाहु होकर एक पांव से खड़े रहकर घोर तप किया। इस दशा में वे नीचे सिर किये रहते और आँखों की पलकें न गिरने देते थे ॥१।५॥

वे एक दिन चीरिणी नदी में स्नान करके तप कर रहे थे । उनके वस्त्र और सिर की जटाएँ गीली थीं । इसी समय एक छोटी सी मछली ने आकर उनसे कहा—हे भगवन् ! बड़े और बली मच्छ दुर्बल, छोटी मछलियों को खा जाते हैं । यही पुराना नियम है । मैं दुर्बल छोटी मछली हूँ, बड़े मच्छों से मुझे भय लगता है । उनके भय से आप मेरी रक्षा कीजिए । मैं भय के महासागर में डूब रही हूँ ; आप कृपा करके मुझे उससे उबार लीजिए । आप मेरा यह उपकार करेंगे तो मैं भी बदले में आपका उपकार करूँगी । महात्मा वैवस्वत मनु को मछली के वचन सुनकर उस पर दया आ गई ।

उद्कांतमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिंजरे प्राक्षिपत्तं चंद्रांशुसदृशप्रभे ॥ ११ ॥
स तत्र ववृधे राजन्मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत्स्वीकरोत्तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥ १२ ॥
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलिंजरे यथा चैव नाऽसौ समभवत्किल ॥ १३ ॥
अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाऽभ्यभापत ।
भगवन्साधु मेऽद्याऽन्यत्स्थानं संप्रतिपादय ॥ १४ ॥
उद्धृत्याऽलिंजरात्तस्मात्ततः स भगवान्मनुः ।
तं मत्स्यमनयद्वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥ १५ ॥
तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।
अथाऽवर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्पगणान्बहून् ॥ १६ ॥
द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नाऽसौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचनः ॥ १७ ॥
विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशांपते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाऽभ्यभापत ॥ १८ ॥
नय मां भगवन्साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गंगां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥ १९ ॥

उन्होंने अपने हाथ में उसे ले लिया ॥६।१०॥

उस मछली को निकालकर उन्होंने चन्द्रमा के समान श्वेत रङ्गवाले अलिञ्जर (मिट्टी के घड़े) में डाल दिया। वह मछली मनु की देख रेख में रहकर उस बर्तन में बढ़ने लगी। मनु उस पर अपने पुत्र का सा स्नेह रखने लगे। कुछ समय के पश्चात् वह मछली इतनी बड़ी कि उस छोटे बर्तन में उसका रहना कठिन हो गया। तब उसने फिर मनु से कहा—हे भगवन्! मेरे लिए और कोई जगह ठीक कीजिए ॥१०।१४॥

मनु ने उस जीव को अलिञ्जर से निकालकर दो योजन लम्बे और एक योजन चौड़े एक जलाशय (बावली) में रख दिया। वह मछली बहुत वर्षों तक उस जलाशय में बढ़ती रही। फिर वह बढ़कर एक बड़ा भारी मच्छ हो गई और उस जलाशय में भी समा न सकी। एक दिन फिर उस मच्छ ने मनु

निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयाऽनघ ॥ २० ॥
एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद्भगवान्वशी ।
नदीं गंगां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥ २१ ॥
स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
गंगायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवान्निति ॥ २३ ॥
उद्धृत्य गंगासलिलात्ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत्पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥ २४ ॥
सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद्यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै ॥ २५ ॥
यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
भगवन्हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।

से कहा—हे भगवन् ! मुझे इसमें बड़ा कष्ट है । मुझे हिलने-डुलने के लिए भी इसमें जगह नहीं । इस कारण समुद्र की पत्नी गङ्गा में ले जाकर मुझे छोड़ दीजिए अथवा आप जो उचित समझिए सो कीजिए । मैं कुछ भी बुरा न मानकर आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा; क्योंकि आपकी ही कृपा से मैं इतना बड़ा हुआ हूँ ॥१५।२०॥

मच्छ के ये वचन सुनकर मनु उसे गङ्गाजी में डाल आये । हे शत्रुदमन ! कुछ दिन गङ्गा में रहकर फिर वह मच्छ इतना बढ़ गया कि वहां रहना भी असम्भव हो गया । मनु जब उसे देखने गये तब उस मच्छ ने उनसे कहा—हे प्रभो ! मेरा शरीर इतना बढ़ गया है कि मैं गङ्गा में स्वच्छन्दता के साथ चल-फिर नहीं सकता । मुझ पर प्रसन्न हूजिए और मुझे समुद्र में ले चलिए । मनु उसे गङ्गा से निकालकर पूर्वसमुद्र में ले गये । इतना बड़ा होने पर भी मनु के उठाने पर वह मच्छ ऐसा हलका हो जाता था कि वे उसे बड़ी सुगमता से उठा ले जाते थे; इसके सिवा उसका गन्ध और स्पर्श भी सुखदायक था ॥२१।२५॥

मनु ने उसे ज्योंही समुद्र के भीतर छोड़ा त्योंही उसने मुसकाकर कहा—हे भगवन् ! आपने सब तरह कृपा करके मेरी रक्षा की है । समय आने पर मैं जो आपका उपकार करूँगा सो मुझसे सुनिए ।

प्राप्तकालं तु यत्कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥ २७ ॥
अचिराद्भगवन्भौममिदं स्थावरजंगमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥ २८ ॥
संप्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात्त्वां बोधयाम्यद्य यत्ते हितमनुत्तमम् ॥ २९ ॥
त्रसानां स्थावराणां च यच्चेंगं यच्च नेंगति ।
तस्य सर्वस्य संप्राप्तः कालः परमदारुणः ॥ ३० ॥
नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥ ३१ ॥
बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।
तस्यामारोहयेर्नौवि सुसंगुप्तानि भागशः ॥ ३२ ॥
नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृंगी विज्ञेयस्तेन तापस ॥ ३३ ॥
एवमेतत्त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना ॥ ३४ ॥
नाऽभिशंक्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥ ३५ ॥
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।

हे महाभाग! यह पृथ्वी और चराचर जगत् शीघ्र ही, प्रलय होने से, नष्ट हो जायगा। यह समय सब पदार्थों के नाश का आ गया। इसी लिए मैं आपको हित की बात बता रहा हूँ ॥२६।२९॥

आप एक दृढ़ नाव बनवा लीजिए और उसमें दृढ़ रस्सी भी रख लीजिए। प्रलय के समय सप्त-ऋषियों के साथ आप उस नाव पर सवार हो जाइएगा। पहले आपको जिस तरह द्विजों ने बताया है उसी तरह पृथ्वी भर के सब विभाग के बीजों को रख लीजिएगा और उनकी सब तरह रक्षा कीजिएगा। हे ऋषिश्रेष्ठ! उसी नाव पर बैठकर आप मेरे आने की राह देखना। मैं उस समय आपकी सहायता करने आऊँगा। मेरे मस्तक पर एक सींग होगा। यही मेरी पहचान रहेगी। जो मैंने कहा है, उसे उसी तरह कीजिएगा। अब मैं जाता हूँ। स्मरण रहे कि मेरी सहायता के बिना आप इस घोर आपत्ति से बच नहीं सकते। हे तापस! आप मेरे इन वचनों में तनिक भी सन्देह न कीजिएगा ॥३०।३५॥

ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥ ३६ ॥
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ॥ ३७ ॥
चिंतयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते ।
स च तच्चिंतितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय ॥ ३८ ॥
श्रृंगी तत्राऽऽजगामाऽऽशु तदा भरतसत्तम ।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ॥ ३९ ॥
श्रृंगिणं तं यथोक्तेन रूपेणाऽद्रिमिवोच्छ्रितम् ।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ॥ ४० ॥
मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन्श्रृंगे न्यवेशयत् ।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय ॥ ४१ ॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणांभसि ।
स च तांस्तारयन्नावा समुद्रं मनुजेश्वर ॥ ४२ ॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवांऽभसा ।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ ॥ ४३ ॥
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय ।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥ ४४ ॥

वैवस्वत मनु ने कहा—अच्छा, मैं वही करूँगा। मीन और मनु दोनों परस्पर इस तरह कहकर इच्छा के अनुसार चल दिये। हे महाराज ! अब प्रलयकाल उपस्थित होने पर, मच्छ के कहने के अनुसार, सब बीज उस नाव पर रखकर मनुजी उस भयानक महासमुद्र में उसी मच्छ के आने की राह देखने लगे। समुद्र में पर्वत की सी बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं। हे राजेन्द्र ! मनु को अपने आगम के लिए चिन्तित और उत्कण्ठित जानकर वह मच्छ उसी समय उन के पास आ गया। समुद्र के जल में सींगवाले उस पर्वताकार मच्छ को देखकर मनु प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी रस्सी से मच्छ के सींग में वह नाव बांध दी ॥३६।४१॥

वह मच्छ अपने सींग में बँधी हुई नाव को खींचता हुआ बड़े वेग से उस खारी समुद्र में चलने लगा। समुद्र का दृश्य बड़ा ही भयानक था। लहरों के देखने से जान पड़ता था मानों वह नाच रहा है; लहरों का शब्द सुनकर जान पड़ता था मानों वह डांट बताता हुआ गरज रहा है। आंधी के झोंकों और लहरों की टक्करों से वह नाव मदोन्मत्त

सर्वमां भसमेवाऽऽसीत्खं द्यौश्च नरपुंगव ।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
अदृश्यंत सप्तर्षयो मनुर्मत्स्यस्तथैव च ।
एवं बहून्वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥ ४६ ॥
चकर्षाऽतन्द्रितो राजंस्तस्मिन्सलिलसंचये ।
ततो हिमवतः श्रृंगं यत्परं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
तत्राऽऽकर्षत्ततो नावं स मत्स्यः कुरुनंदन ।
अथाऽब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन्प्रहसञ्शनैः ॥ ४८ ॥
अस्मिन्हिमवतः श्रृंगे नावं बध्नीत मा चिरम् ।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा श्रृंगे हिमवतस्तदा ।
तच्च नौबंधनं नाम श्रृंगं हिमवतः परम् ॥ ५० ॥
ख्यातमद्यापि कौंतेय तद्विद्धि भरतर्षभ ।
अथाऽब्रवीदनिमिषस्तानृषीन्सहितांस्तदा ॥ ५१ ॥
अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाऽधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयाऽस्मान्मोक्षिता भयात् ॥ ५२ ॥

चञ्चल स्त्री की तरह लटपटाने और घूमने लगी। उस समय पृथ्वी, दिशा, उपदिशा, आकाश आदि कुछ भी नहीं देख पड़ता था, सब ओर जल ही जल था। उस जलमय दृश्य में केवल मनु, सप्तर्षि-गण, नाव और मच्छ, यही देख पड़ रहे थे। वह मच्छ लगातार बहुत वर्षों तक उस जल के भीतर नाव को खींचता फिरता रहा। आलस्य या थकन का नाम भी न था। कुछ दिनों के पश्चात् पर्वत-राज हिमालय की सबसे ऊची चोटी देख पड़ी। वह विचित्र मच्छ नाव को उसी ओर खींच ले गया। फिर उसने मुसकाकर नाव पर बैठे हुए मनु और ऋषियों से कहा—आप लोग शीघ्र नाव को इस पर्वत के शिखर में बाध दें ॥४२।४८॥

हे युधिष्ठिर! उस मच्छ के कहने से उन्होंने उसी बोत (रस्सी) से हिमालय की चोटी में नाव बांध दी। ऋषियों ने हिमालय के जिस शिखर से नाव बाधी थी, वह अब तक 'नौबन्धन' के नाम से विख्यात् है। इसके पश्चात् उस अद्भुत मच्छ ने कहा—मैं प्रजापति ब्रह्मा हू। तुम्हें इस भय से बचाने के लिए ही मैंने यह मत्स्यरूप धारण किया है। मैं ही इस ब्रह्माण्ड में सबसे श्रेष्ठ हू; मेरे सिवा और कोई नहीं। हे मनु! तुम देवता, मनुष्य, असुर आदि

मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ ५३ ॥
तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्यं भविष्यति ।
मत्प्रसादात्प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनाऽदर्शनं गतः ।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥ ५५ ॥
प्रमूढोऽभूत्प्रजासर्गे तपस्तेपे महत्ततः ।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ५६ ॥
सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद्यथावद्भरतर्षभ ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥
आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ।
य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः ।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः स्वर्गं लोकमियान्नरः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८७॥

सब चराचर जीवों की सृष्टि करो । तीव्र तप के बल से तुम्हें सृष्टि-रचना की प्रतिभा प्राप्त होगी । मेरी कृपा से सृष्टि-रचना में तुमको न तो मोह होगा और न तुझसे भूल होगी; तुम यथार्थ रूप से सृष्टि-रचना कर सकोगे ॥४९।५४॥

इतना कहकर मत्स्यरूपधारी भगवान् ब्रह्मा अदृश्य हो गये । हे महाराज ! तब वैवस्वत मनु ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की; परन्तु वे यह निश्चय न कर सके कि उसे किस ढङ्ग से किस रूप में करें । बुद्धि के मोहित होने पर मनस्वी मनु ने अत्यन्त घोर तप किया । हे भरतश्रेष्ठ ! उसमें सिद्धि पाकर, तपोबलयुक्त होकर, मनु ने ठीक तौर से सृष्टि का आरम्भ किया । राजन् ! सब पापों को दूर करनेवाली यह कथा मैंने तुमको सुना दी । यह उपाख्यान मत्स्यपुराण के नाम से प्रसिद्ध है । जो कोई इस मनु के चरित्र को नित्य आदि से अन्त तक सुनता है, उसके सब मनोरथ पूरे होते हैं; वह सुखी होकर सब लोकों में जाने की शक्ति पाता है ॥५५।५८॥

—०—

वनपर्व का एक सौ सत्तासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८७॥

अथ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

वैशम्पायन उवाच—ततः स पुनरेवाऽथ मार्कण्डेयं यशस्विनम् ।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
नैके युगसहस्रांतास्त्वया दृष्टा महामुने ।
न चाऽपीह समः कश्चिदायुष्मान्दृश्यते तव ॥ २ ॥
वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ॥ ३ ॥
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन्देवदानववर्जिते ।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥ ४ ॥
प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे ।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥ ५ ॥
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत्परमेष्ठिना ।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्याऽऽपस्ततस्ततः ॥ ६ ॥
त्वया लोकगुरुः साक्षात्सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥ ७ ॥
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाऽऽविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥ ८ ॥

एक सौ अट्ठासी अध्याय ॥१८८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर ने यशस्वी मार्कण्डेय से विनयपूर्वक कहा—हे मुनिवर ! आप हजारों युगों का अन्त देख चुके हैं । महात्मा ब्रह्मा के सिवा और कोई प्राणी इस जगत् में आपकी इतनी आयु का नहीं देख पड़ता । प्रलयकाल में, जब इस लोक में और अन्तरिक्ष में कोई देवता, मनुष्य या दानव आदि प्राणी नहीं रह जाते तब आप ही प्रजापति ब्रह्मा की अराधना करते हैं । प्रलय समाप्त होने पर, पितामह जागकर जब दिशाओं को वायुरूप बनाकर और समुद्र के जल को यथास्थान हटाकर—जरायुज (मनुष्य), अण्डज (पक्षी), स्वेदज (जूँ-लीख आदि) और उद्भिज (वृक्ष)—चार प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करते हैं, तब आप उस सृष्टि-रचना को देखते हैं । हे द्विजवर ! आपने समाधि लगाकर लोकगुरु ब्रह्मा की आराधना की है । आप अद्वितीय तप करके मरीचि आदि प्रजापतियों से भी बढ़ गये हैं । आप शेषशायी नारायण के समीपवर्ती भक्त हैं, इसलिए लोग आपको

नारायणांकप्रख्यस्त्वं सांपरायेऽतिपठ्यसे ।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत् ॥ ९ ॥
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥ १० ॥
तस्मात्त्वांतको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥ ११ ॥
यदा नैव रविर्नाऽग्निर्न वायुर्न च चंद्रमाः ।
नैवांऽतरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ॥ १२ ॥
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजंगमे ।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥ १३ ॥
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥ १४ ॥
एतत्प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ॥ १५ ॥
अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्सर्वलोकेषु नित्यदा ॥ १६ ॥
मार्कंडेय उवाच—हंत ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाऽव्ययाय च ॥ १७ ॥

विशेष प्रशंसा और स्तुति करते है। आपने योगबल से हृदयकमल को खोलकर, योग और वैराग्य की आँखों से, हृदय में स्थित, कामरूपी, विश्व के स्रष्टा, स्वयंभू ब्रह्मा के दर्शन अनेक बार किये है ॥९।१०॥

ब्रह्मन्! उन्हीं कमलयोनि ब्रह्मा की कृपा से, शरीर को नष्ट करनेवाला, बुढ़ापा आप पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता और न काल या मृत्यु ही आपके शरीर को नष्ट कर सकती है। जिस समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, स्वर्ग, पृथ्वी, देवता, दानव, नाग आदि सहित सब चराचर जगत् नष्ट हो जाता है, चारों ओर जल ही जल देख पड़ता है, उस समय एक आप ही पद्म पर सोते हुए सब प्राणियों के ईश्वर ब्रह्मा की आराधना करते हैं। हे द्विजोत्तम! सृष्टि और प्रलय की सब बातें आपने प्रत्यक्ष देखी हैं [त्रिभुवन में ऐसा कुछ भी नहीं है ।जिसे आप न जानते हों] इसी लिए मैं आपसे यह सब कथा सुनना चाहता हूं ॥११।१६॥

मार्कण्डेय ने कहा—राजन्! मैं उन्हीं पुराण-

अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥ १८ ॥
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत्प्रभुः ।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥ १९ ॥
अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥ २० ॥
यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम ॥ २१ ॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ॥ २२ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥ २३ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च ततः परम्।
तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥ २४ ॥
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।
सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ॥ २५ ॥

पुरुष, अनादि, अविनाशी; अव्यक्त, अत्यन्त सूक्ष्म, निर्गुण और गुणमय जगदीश्वर को प्रणाम करके यह सब वृत्तान्त कहता हूं। ये जो तुम्हारे पास पीताम्बरधारी कमलनयन जनार्दन कृष्ण बैठे हुए हैं, यही कर्ता, विधाता, सब प्राणियों में व्याप्त और उनका निर्माण करनेवाले हैं। ये अचिन्त्य, महान् आश्चर्य और पवित्र हैं। ये आदि और अन्त से रहित, विश्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं। ये सबका कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं है। यही सबके पौरुष का कारण हैं। वेद और देवता भी जिन परमपुरुष को नहीं जानते उन्हें, अर्थात् ब्रह्म को, ये जानते हैं ॥१७।२१॥

हे पुरुषसिंह! प्रलयकाल में सबका संहार हो जाता है। फिर सृष्टि का समय आने पर यह आश्चर्य-मय सब जगत् उन्हीं आदि-पुरुष से प्रकट होता है। सृष्टि के उपरान्त सत्ययुग का आरम्भ होता है। सत्ययुग का परिमाण चार हजार वर्ष का है। सत्य युग की सन्ध्या और सन्ध्यांश दोनों का परिमाण चार-चार सौ वर्ष का है। त्रेतायुग की आयु तीन हजार वर्ष की है। उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश भी तीन-तीन सौ वर्ष के हैं। द्वापरयुग का परिमाण दो हजार वर्ष का है। उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
वहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥ ३४ ॥
मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आंध्राः शकाः पुलिंदाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥ ३५ ॥
कांबोजा वाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम ।
न तदा ब्राह्मण. कश्चित्स्वधर्ममुपजीवति ॥ ३६ ॥
क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।
अल्पायुषः स्वल्पवलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥
अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
वहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥ ३८ ॥
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चाऽऽर्यवादिनः ॥ ३९ ॥
युगांते मनुजव्याघ्र भवंति वहुजंतव ।
न तदा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशांपते ॥ ४० ॥
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
वहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।

देंगे और शूद्र लोग जप आदि कर्म करने लगेंगे । पृथ्वी पर इस तरह जब विपरीत भाव देख पड़ने लगे तब उसे प्रलय की पूर्व सूचना समझना चाहिए ॥२१।३४॥

राजन् ! कलियुग के अन्त समय में आन्ध्र, शक पुलिन्द, यवन, काम्बोज, वाह्लीक, शूर और आभीर आदि म्लेच्छ जातियों के राजा राज्य करेंगे। वे मिथ्यावादी, पापी होकर अधर्म से राज्य का शासन करेंगे । उस समय कोई भी ब्राह्मण अपने धर्म का पालन नहीं करेगा । क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्मों को छोड़कर धर्म विरुद्ध कार्य करने लगेंगे । मनुष्यों की आयु, बल, वीर्य, पराक्रम, साराश और शरीर आदि घट जायँगे । वे सत्य बहुत कम बोलेंगे । बस्तियाँ सूनी हो जायँगी । दिशाओं में मृग और सर्प आदि हिंसक जीव अधिकता से देख पड़ेंगे । अनुभव न होने के कारण मनुष्य वृथा ब्रह्मवाद का ढोंग रचेंगे । शूद्र लोग ब्राह्मणों को 'आप' 'तुम' कहेंगे और ब्राह्मण लोग शूद्रों को 'आप' कहेंगे । हे पुरुषसिंह ! चारों ओर मनुष्यों की कमी और जीव जन्तुओं की बढ़ती देख पड़ेगी । सुगन्ध कीवस्तुओं में वैसी सुगन्ध नहीं रहेगी । रसीली वस्तुओं में रस न रह जायगा । मनुष्यों के बाल बच्चे बहुत

तस्य वर्षशतं संधिः संध्यांशश्च ततः परम् ।
संधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥ २६ ॥
क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तति कृतं युगम् ।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता ॥ २७ ॥
एतत्सहस्रपर्यंतमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥ २८ ॥
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ।
अल्पावशिष्टे तु तदा युगांते भरतर्षभ ॥ २९ ॥
सहस्रांते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ।
यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥ ३० ॥
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन्काले प्रवर्तते ।
ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥ ३१ ॥
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयंति गते युगे ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दंडाजिनविवर्जिताः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यंति कलौ युगे ।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ॥ ३३ ॥

भी दो-दो सौ वर्ष के है। कलियुग की आयु एक हज़ार वर्ष की है। उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश सौ सौ वर्ष के हैं। ये वर्ष दिव्य अर्थात् देवताओं की आयु के समझने चाहिएँ। [मनुष्य की आयु का एक वर्ष देवताओं की आयु का एक दिन रात है।] हे महाराज ! कलियुग का क्षय होने पर फिर सत्ययुग आता है। चारों युगों की आयु का परिमाण बारह हज़ार वर्ष है। इस तरह की एक हज़ार चौयुगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। उसे कल्प भी कहते हैं। प्रत्येक कल्प में लोकों का प्रलय हो जाता है। हे भरतश्रेष्ठ ! हज़ार वर्ष की आयुवाले कलियुग का कुछ अंश जब शेष रह जाता है तब सब मनुष्य प्रायः मिथ्यावादी हो जाते हैं। उस समय यज्ञ दान और व्रत कोई नहीं कर सकता, इसलिए उनके स्थान पर प्रतिनिधि कर्म प्रचलित हो जाते हैं ॥२२।३०॥

उस युगान्त के समय ब्राह्मण लोग शूद्रों के काम करने लगते हैं और शूद्र लोग क्षत्रियों की वृत्ति से अथवा वैश्यों की वृत्ति से धन उपार्जन करने लगते हैं। कलियुग में ब्राह्मण लोग तप और स्वाध्याय छोड़कर, दण्ड मृगचर्म आदि को त्यागकर सर्वभक्षी हो जाएँगे। ब्राह्मण लोग जप आदि अपने कर्म छोड़

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
वहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥ ३४ ॥
मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आंध्राः शकाः पुलिंदाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥ ३५ ॥
कांवोजा वाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम।
न तदा ब्राह्मणः कश्चित्स्वधर्ममुपजीवति ॥ ३६ ॥
क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।
अल्पायुषः स्वल्पवलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥
अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
वहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥ ३८ ॥
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चाऽऽर्यवादिनः ॥ ३९ ॥
युगांते मनुजव्याघ्र भवंति वहुजंतवः ।
न तदा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशांपते ॥ ४० ॥
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
वहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।

देंगे और शूद्र लोग जप आदि कर्म करने लगेंगे । पृथ्वी पर इस तरह जब विपरीत भाव देख पड़ने लगे तब उसे प्रलय की पूर्व सूचना समझना चाहिए ॥३१।३४॥

राजन् ! कलियुग के अन्त समय में आन्ध्र, शक पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लीक, शूर और आभीर आदि म्लेच्छ जातियों के राजा राज्य करेंगे। वे मिथ्यावादी, पापी होकर अधर्म से राज्य का शासन करेंगे । उस समय कोई भी ब्राह्मण अपने धर्म का पालन नहीं करेगा । क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्मों को छोड़कर धर्म विरुद्ध कार्य करने लगेंगे । मनुष्यों की आयु, बल, वीर्य, पराक्रम, साराश और शरीर आदि घट जायँगे । वे सत्य बहुत कम बोलेंगे । बस्तियाँ सूनी हो जायँगी । दिशाओं में मृग और सर्प आदि हिंसक जीव अधिकता से देख पड़ेंगे । अनुभव न होने के कारण मनुष्य वृथा ब्रह्मवाद का ढोंग रचेंगे । शूद्र लोग ब्राह्मणों को 'तुम' कहेंगे और ब्राह्मण लोग शूद्रों को 'आप' कहेंगे । हे पुरुषसिंह ! चारों ओर मनुष्यों की कमी और जीव-जन्तुओं की बढ़ती देख पड़ेगी । सुगन्ध कीवस्तुओं में वैसी सुगन्ध नहीं रहेगी । रसीली वस्तुओं में रस न रह जायगा । मनुष्यों के बाल-बच्चे बहुत

मुखेभगाः स्त्रियो राजन्भविष्यंति युगक्षये ॥ ४१ ॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियो राजन्भविष्यंति युगक्षये ॥ ४२ ॥
अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यंति जनाधिप ।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ॥ ४३ ॥
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णंति वै द्विजाः ॥ ४४ ॥
लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चंचूर्यंते द्विजैर्दिशः ॥ ४५ ॥
करभारभयाद्भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ॥ ४६ ॥
मिथ्या च नखरोमाणि धारयंति तदा द्विजाः ।
अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ॥ ४७ ॥
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः ।
इह लौकिकमीहंते मांसशोणितवर्धनम् ॥ ४८ ॥
बहुपापंडसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः ।

अधिकता से होंगे । सबके शरीर छोटे हो जायँगे । सुशीलता और सदाचार मिट जायगा ॥३५।४१॥

स्त्रियां मुख से भग-कार्य करेंगी । बस्तियों में अन्न का अभाव होगा । चौराहों पर वेश्याओं और धूर्तों की भीड़ रहा करेगी । स्त्रियां निर्लज्ज हो जायँगी । गायों का दूध घट जायगा । वृक्ष कम फूलें-फलेंगे और उन पर कौए आदि पक्षी अधिकता से बैठे देख पड़ेंगे । ब्राह्मण लोग लोभ और मोह के वश में हो जायँगे, दिखावे के लिए धर्म के चिह्न धारण करके ढोंग रचेंगे । ब्रह्महत्या आदि पापों के करनेवाले मिथ्यावादी राजाओं के पास जाकर ब्राह्मण लोग उनसे दान लेंगे । भिक्षावृत्ति का सहारा लेकर ब्राह्मण लोग देश-देश मारे-मारे फिरेंगे ॥४२।४६॥

गृहस्थ लोग राजा के लगाये कर (टैक्स) के बोझ से दबकर चोरी और बेईमानी पर उतारू हो जायँगे । ब्राह्मण लोग मुनियों का वेष बनाकर छिपे-छिपे वाणिज्य-व्यापार करेंगे । धन के लोभ से झूठे ब्रह्मचारी बने हुए ब्राह्मण नख और केश बढ़ावेंगे । चारों आश्रमों के लोग आचार का ढोंग रचेंगे । मद्यपान और गुरुशय्यागमन का पाप बहुत बढ़ जायगा । लोग इस लोक के सुखों में लिप्त रहकर केवल रक्त और मांस बढ़ाने की चेष्टा करेंगे । चारों आश्रमों के

आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यंति युगक्षये ॥ ४९ ॥
यथर्तुवर्षी भगवान्न तथा पाकशासनः ।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग्रोहंति भारत ॥ ५० ॥
हिंसाभिरामश्च जनस्तथा संपद्यते शुचिः ।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चाऽनघ ॥ ५१ ॥
तदा च पृथिवीपाल यो भवेद्धर्मसंयुतः ।
अल्पायुः स हि मंतव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ ५२ ॥
भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीयते जनैः ।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवंत्युत ॥ ५३ ॥
धर्मिष्ठाः परिहीयंते पापीयान्वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ५४ ॥
अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ५५ ॥
नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरंत्युत ॥ ५६ ॥
संचयेन तथाऽल्पेन भवंत्याढ्यमदान्विताः ।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥ ५७ ॥

लोग तरह-तरह के पाखण्ड रचेंगे और पराया अन्न खाकर उसके गुणों का बखान करेंगे। भगवान् इन्द्र वर्षाकाल में ठीक समय पर जल नहीं बरसावेंगे और बीजों में उपजाऊ शक्ति नहीं रहेगी ॥४७।५०॥

धर्म का फल सर्वत्र हीन हो जायगा, अर्थात् धर्म का फल पूर्णरूप से होता न देख पड़ेगा। लोग अपवित्र और हिंसा पर विशेष रुचि रखनेवाले देख पड़ेंगे। अधर्म करनेवालों का भला होते देख पड़ेगा। हे नरेन्द्र! उस समय धार्मिक पुरुष अल्पायु होते देख पड़ेंगे; कोई धर्म न रह जायगा। सौदा बेचनेवाले लोग कम तौलेंगे और बेईमानी करेंगे। धोखेबाजी का चलन बहुत बढ़ जायगा। धर्म के बल की हानि और अधर्म के बल की वृद्धि होगी ॥५१।५५॥

इसी से धार्मिक लोग दुर्बल, अल्पायु, दरिद्र और हीनदशा से पीड़ित देख पड़ेंगे। अधर्मी पापी लोग दीर्घायु, समृद्धिशाली, प्रबल और बढ़ रहे देख पड़ेंगे। ये लोग व्यवहार में अधर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेंगे। लोग थोड़ा ही धन पास होने पर धनाढ्यों की तरह मदान्ध हो उठेंगे। यदि कोई विश्वास करके किसी के पास धरोहर के तौर पर अपना धन रख

हर्तुं व्यवसिता राजन्पापाचारसमन्विताः ।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तते निरपत्रपाः ॥ ५८ ॥
पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५९ ॥
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ६० ॥
भवंति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।
आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥ ६१ ॥
क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।
तरुणानां च यच्छीलं तद्वृद्धेषु प्रजायते ॥ ६२ ॥
विपरीतास्तदा नार्यो वंचयित्वाऽर्हतः पतीन् ।
व्युच्चरंत्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥ ६३ ॥
वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयंति नरान्नृप ।
भर्तारमपि जीवंतमन्यान्व्यभिचरन्त्युत ॥ ६४ ॥
तस्मिन्युगसहस्रांते संप्राप्ते चाऽऽयुषः क्षये ।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥ ६५ ॥
ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै ।
प्रलयं यांति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ६६ ॥

देगा तो उसे धोखा दिया जायगा। पापाचारी लोग दूसरे का धरोहर हज़म करने में सङ्कोच नहीं करेंगे, जिसका धन होगा उससे निर्लज्ज होकर कहेंगे कि तूने हमारे पास धन रक्खा ही नहीं। नगरों के विहार स्थानों और देवस्थानों में भेड़िये, व्याघ्र, मांसभक्षी पक्षी और मृग सोवेंगे। राजन्! उस समय सातआठ वर्ष की स्त्रिया गर्भवती होंगी और दस-बारह वर्ष के पुरुष बालक के बाप बन बैठेंगे ॥५६।६०॥

सोलह वर्ष की अवस्था में ही पुरुषों के बाल पकने लगेंगे। इस तरह शीघ्र ही बूढ़े होकर लोग यमपुर सिधार जायेंगे। जवान बूढ़े से हो जायेंगे और बूढ़ों का स्वभाव जवानों का सा बना रहेगा। स्त्रियां अपने धर्म के विपरीत पूज्य पतियों को धोखा देकर दासों और पशुओं तक के साथ कुकर्म करेंगी। साधारण स्त्रियां और वीरों की स्त्रियां भी जीते हुए पतियों को धोखा देकर परपुरुषों से प्रीति करेंगी ॥६१।६४॥

हे महाराज! इस प्रकार हज़ार वर्ष की कलियुग की आयु समाप्त होने पर बहुत वर्षों तक जल नहीं

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥ ६७ ॥
यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चाऽऽर्द्रं च भारत ।
सर्वं तद्भस्मसाद्भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥ ६८ ॥
ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥ ६९ ॥
ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम् ।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥ ७० ॥
निर्दहन्नागलोकं च यच्च किंचित्क्षिताविह ।
अधस्तात्पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥ ७१ ॥
ततो योजनकोटीनां सहस्राणि शतानि च ।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥ ७२ ॥
सदेवासुरगंधर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद्विभुः ॥ ७३ ॥
ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ।
उत्तिष्ठंति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥ ७४ ॥

बरसेगा। अन्न आदि उत्पन्न न होने के कारण कलियुग के सारहीन प्राणी भूख से मरने लगेंगे। इस प्रकार अधिकांश प्राणियों का संहार हो जाने पर सात प्रचण्ड सूर्य एक साथ तपकर समुद्र, नदी आदि का सब जल सोख लेंगे। तब सूखी और गीली घास तथा लकड़ियां जल उठेंगी और भस्म हो जायँगी। फिर संवर्तक नाम का अग्नि, प्रचण्ड वायु की सहायता से बढ़कर सूर्य के सुखाये हुए सब भुवनों को भस्म करने लगेगा। वह पृथ्वी को जलाकर पृथ्वी के नीचे रसातल तक पहुँच जायगा; जिसे देखकर वहां के निवासी देवता, दानव, यक्ष आदि भय के मारे व्याकुल हो जायँगे ॥६५।७०॥

वह अग्नि नीचे पाताल लोक तक जलाता हुआ पृथ्वी के सब पदार्थों को क्षण भर में भस्म कर डालेगा। उस अग्नि के द्वारा बीस हजार सौ योजन तक का स्थान राख का ढेर बन जायगा। अशुभ कठोर वायु की सहायता से वह संवर्तक अग्नि, देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि प्राणियों सहित सब जगत् को एक साथ भस्म कर डालेगा। इसके पश्चात् हाथियों के झुण्डके समान विचित्र आकारवाले महामेघ आकाशमण्डल में छा जायँगे। उनमें विकट बिजलियां चमकने लगेंगी ॥७१।७४॥

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्कुमुदसन्निभाः ।
केचित्किंजल्कसंकाशाः केचित्पीताः पयोधराः ॥ ७५ ॥
केचिद्धारिद्रसंकाशाः काकांडकनिभास्तथा ।
केचित्कमलपत्राभाः केचिद्धिंगुलसप्रभाः ॥ ७६ ॥
केचित्पुरवराकाराः केचिद्गजकुलोपमाः ।
केचिदंजनसंकाशाः केचिन्मकरसन्निभाः ॥ ७७ ॥
विद्युन्मालापिनद्धांगाः समुत्तिष्ठंति वै घनाः ।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ॥
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवंति नभस्तलम् ॥ ७८ ॥
तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥ ७९ ॥
ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।
सर्वतः प्लावयंत्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥ ८० ॥
वर्षमाणा महत्तोयं पूरयंतो वसुंधराम् ।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयंति च पावकम् ॥ ८१ ॥
ततो द्वादश वर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।
धाराभिः पूरयंतो वै चोद्यमाना महात्मना ॥ ८२ ॥
ततः समुद्राः स्वां वेलामतिक्रामन्ति भारत ।

कुछ नीले कमल के रङ्ग के, कुछ कोकाबेली के फूल के रङ्ग के, कुछ कमल-केसर के रङ्ग के, कुछ केसरिया रङ्ग के, कुछ पीले रङ्ग के, कुछ कौए के अण्डे के रङ्ग के, कुछ कमल के पत्ते के रङ्ग के, कुछ हींग के रङ्ग के, कुछ अञ्जन के रङ्ग के, कुछ हाथियों के आकार के, कुछ पुर के आकार के और कुछ मगर के आकार के मेघ चारों ओर छा जायँगे। अनेक बिजलियों से जगमगाते हुए घोर मेघ भयङ्कर शब्द से गरजने लगेंगे। विधाता की प्रेरणा से वे मेघ जल बरसाकर पर्वत, वन, खान आदि सहित पृथ्वीमण्डल को डुबा देंगे। बड़े बड़े पर्वत भी उस जलराशि में बह जायँगे। वे बादल बहुत जल बरसाकर उस प्रलयकाल के अमङ्गलरूप अग्नि को बुझा देंगे ॥७५।८१॥

हे महाराज! इस तरह वे बादल लगातार बारह वर्ष तक मूसलाधार जल बरसाते रहेंगे; तब समुद्र

पर्वताश्च विदीर्यंते मही चाऽप्सु निमज्जति ॥ ८३ ॥
सर्वतः सहसा भ्रांतास्ते पयोदा नभस्तलम् ।
संवेष्टयित्वा नश्यंति वायुवेगपराहताः ॥ ८४ ॥
ततस्तं मारुतं घोरं स्वयंभूर्मनुजाधिप ।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ॥ ८५ ॥
तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजंगमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥ ८६ ॥
निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनंतरिक्षे लोकेऽस्मिन्भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ॥ ८७ ॥
एकार्णवे जले घोरे विचरन्पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन्सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ॥ ८८ ॥
ततः सुदीर्घं गत्वाऽहं प्लवमानो नराधिप ।
श्रांतः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतंद्रितः ॥ ८९ ॥
ततः कदाचित्पश्यामि तस्मिन्सलिलसंचये ।
न्यग्रोधं सुमहांतं वै विशालं पृथिवीपते ॥ ९० ॥
शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्यंके पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ९१ ॥

अपनी मर्यादा छोड़कर उमड़ पड़ेगा। पर्वत फट जायेंगे और पृथ्वी भी फटकर रसातल में डूब जायगी। फिर वे बादल एकाएक आकाश में चक्कर लगाकर वायु के वेग से फटकर नष्ट हो जायँगे ॥८३।८४॥

तब आदिदेव भगवान् ब्रह्मा उस पवन को पीकर जल में शयन करेंगे। राजन्! उस घोर प्रलय काल के समय देवता, यक्ष, राक्षस, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, अन्तरिक्ष आदि में से कुछ भी नहीं बच रहेगा। चारों ओर जल ही जल देख पड़ेगा। मैं अकेला उस अपार जलराशि में विचरता हुआ जल के सिवा और कुछ न देख पाऊँगा। नीचे से ऊपर तक जल ही जल देखकर मैं बहुत ही व्याकुल होऊँगा। हे महाराज! मैं ऐसे ही एक व्यतीत हुए-हुए प्रलय का हाल कहता हूँ; सुनिए। मैं बहुत समय तक इसी तरह इधर-उधर फिरता रहा। मुझे विश्राम करने के लिए कहीं कुछ आधार नहीं मिला। इतने में जल में बहते-बहते एकाएक उसी जलराशि के बीच मैंने एक विशाल बरगद का पेड़ देखा ॥८५।९०॥

उस वृक्ष की एक बड़ी भारी शाखा पर, एक

उपविष्टं महाराज पद्मेंदुसदृशाननम् ।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥ ९२ ॥
ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥ ९३ ॥
तपसा चिंतयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ॥ ९४ ॥
अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवाऽऽवासः स तदा प्रतिभाति मे॥ ९५ ॥
ततो मामब्रवीद्बालः स पद्मनिभलोचनः ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥ ९६ ॥
जानामि त्वां परिश्रांतं ततो विश्रामकांक्षिणम् ।
मार्कण्डेय इहाऽऽस्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥ ९७ ॥
अभ्यंतरं शरीरं मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥ ९८ ॥
ततो बालेन तेनैव मुक्तस्याऽऽसीत्तदा मम ।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥ ९९ ॥

पलँग पर, सुन्दर स्वच्छ और कोमल बिछाने बिछे हुए थे। उस पलँग के ऊपर मुझे कमल जैसे नयन और पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाला मनोहर बालक देख पड़ा। उसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। मै मन में कहने लगा—अहो कैसा आश्चर्य है! सब लोक नष्ट हो गये हैं, फिर यह सन्दर बालक कैसे यहाँ पर विराजमान है! महाराज! तीनों काल का जाननेवाला होकर भी, बारबार ध्यान के द्वारा विचारकर भी, मै जान न सका कि वह बालक कौन है और कैसे प्रलय के नाश से बच रहा है ॥९१।९४॥

उस बालक का रंग अलसी के फूल का सा था। श्रीवत्स-चिह्न उसकी शोभा बढा रहा था। वह साक्षात् लक्ष्मी अर्थात् शोभा और ऐश्वर्य की खान जान पड़ता था। उस कमलनयन, तेजस्वी, श्रीवत्स-चिह्नधारी बालक ने कानों को सुख देनेवाले मधुर स्वर से मुझसे कहा—"हे मार्कंडेय! मैं तुमको जानता हू। तुम थककर विश्राम के लिए मेरे पास आये हो। इसलिए मेरे शरीर के भीतर प्रवेश करके जब तक जी- चाहे, विश्राम करो। हे मुनिश्रेष्ठ! मै तुम पर प्रसन्न हूं।" हे युधिष्ठिर! उस बालक के ये वाक्य सुनकर मुझे अपने मनुष्य और चिरजीवन होने के बारे में ग्लानि मालूम पड़ी।

ततो बालेन तेनाऽऽस्यं सहसा विवृतं कृतम् ।
तस्याऽहमवशो वक्त्रे दैवयोगात्प्रवेशितः ॥ १०० ॥
ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप ।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ॥ १०१ ॥
गंगां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम् ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चंद्रभागां सरस्वतीम् ॥ १०२ ॥
सिंधुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि ।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ॥ १०३ ॥
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥ १०४ ॥
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम् ।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किंपुनामपि ॥ १०५ ॥
एताश्चाऽन्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन्प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥ १०६ ॥
ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥ १०७ ॥
तत्र पश्यामि गगनं चंद्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥ १०८ ॥

इसके पश्चात् उस बालक ने अपना मुँह फैलाया और मैं विवश सा होकर उसके मुंह के भीतर चला गया ॥९९।१००॥

हे महाराज ! उस विचित्र बालक के पेट में जाकर मैंने राज्यों और नगरों सहित समूचा पृथ्वीमण्डल देखा। उसके भीतर गङ्गा, शतद्रु, सीता, यमुना, कौशिकी, चर्मण्वती, वेत्रवती, चन्द्रभागा, सरस्वती, सिन्धु, विपाशा, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रा, वेणा, पुण्यतोया, शुभावहा, सुवेणा, कृष्णावेणा, महानदी, इरामा, वितस्ता, कावेरी, शोण, विशल्या, किंपुना और पृथ्वीमण्डल की अन्य अनेक नदियां मैंने देखीं ॥१०१।१०६॥

भीतर फिरते-फिरते मैंने जल-जन्तुओं से पूर्ण रत्नाकर समुद्र को देखा। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा गणसहित प्रकाशमान आकाशमण्डल भी मैंने वहां देखा। विविध वनों, पर्वतों और द्वीपों सहित सम्पूर्ण

पश्यामि च महीं राजन्काननैरुपशोभिताम् ।
यजंते हि तदा राजन्ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ॥१०९॥
क्षत्रियाश्च प्रवर्तंते सर्ववर्णानुरंजनैः ।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयंति नराधिप ॥११०॥
शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।
ततः परिपतन्राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥१११॥
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ॥११२॥
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मंदरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ॥११३॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ॥११४॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चाऽन्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥११५॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वरत्नविभूषिताः ।
सिंहान्व्याघ्रान्वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥११६॥
पृथिव्यां यानि चाऽन्यानि सत्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन्पर्यचरं तदा ॥११७॥
कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन्दिशः ।

पृथ्वीमण्डल भी दृष्टिगोचर हुआ । उस अद्भुत बालक के पेट के भीतर ही मैंने देखा कि ब्राह्मण लोग विविध यज्ञ कर रहे है; क्षत्रियगण सब वर्णों का पालन कर रहे हैं; वैश्य लोग खेती और वाणिज्य आदि अपनी वृत्तियों में लगे हुए हैं और शूद्र लोग तीनों वर्णों की सेवा कर रहे हैं ॥१०७।११०॥

इधर-उधर विचरकर उसी के भीतर मैंने हिमालय, हेमकूट, निषध, चाँदी का श्वेत पर्वत, गन्धमादन, मन्दराचल, नील पर्वत, सुवर्णमय मेरुपर्वत, महेन्द्र, विन्ध्याचल, मलयगिरि और पारियात्र आदि सभी रत्नपूर्ण पर्वत देखे ॥१११।११५॥

पृथ्वी पर सिंह, बाघ, वराह आदि जितने प्राणी पाये जाते हैं वे सब मुझे उस बालक के पेट में विचरते हुए देख पड़े । इन्द्र आदि सब देवता,

शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान्देवगणानहम् ॥ ११८ ॥
साध्यान्रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्गुह्यकान्पितरस्तथा ।
सर्पान्नागान्सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥ ११९ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसंघांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥ १२० ॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजंगमम् ॥ १२१ ॥
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
त्वरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥ १२२ ॥
अंतःशरीरे तस्याऽहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याऽहं देहस्यांऽतं कदाचन ॥ १२३ ॥
सततं धावमानश्च चिंतयानो विशांपते ।
आसादयामि नैवांऽतं तस्य राजन्महात्मनः ॥ १२४ ॥
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत्तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥ १२५ ॥
ततोऽहं सहसा राजन्वायुवेगेन निःसृतः ।
महात्मनो मुखात्तस्य निवृत्तात्पुरुषोत्तम ॥ १२६ ॥
ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशांपते ।

साध्यगण, रुद्रगण, आदित्यगण, गुह्यक, पितृगण, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसुगण, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, ऋषिगण, देवताओं के वैरी दैत्य, दानव, नाग, असुर आदि सब तीनों लोकों के रहनेवाले मुझे उस बालक के पेट के भीतर देख पड़े ॥११६।१२०॥

अधिक कहाँ तक कहूँ, पृथ्वी पर जो कुछ चर और अचर पदार्थ मैंने देखे थे वे सब वहाँ मुझे देखने को मिले। केवल फलाहार करता हुआ मैं उस बालक के पेट में कुछ अधिक सौ वर्ष तक फिरता रहा- किन्तु मुझे उसके असीम शरीर की सीमा न मिली। तब मैं सर्वश्रेष्ठ वरदायक परमेश्वर का ध्यान और स्तुति करता हुआ उसी परमपुरुष की शरण में गया ॥१२१।१२५॥

राजन्! फिर जम्हाई लेकर उस बालक ने मुँह खोला और मैं उसके पेट के बाहर आ गया। बाहर

आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥१२७॥
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥ १२८॥
ततो मामब्रवीद्बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्पीतवासा महाद्युतिः ॥ १२९॥
अपीदानीं शरीरेऽस्मिन्मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं परिश्रांतो मार्कंडेय ब्रवीहि मे ॥ १३०॥
मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥ १३१ ॥
तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरंगुलीभिर्विराजितौ ॥ १३२॥
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवंदितौ ।
दृष्ट्वाऽपरिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥ १३३॥
विनयेनांऽजलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥ १३४॥
तमहं प्रांजलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम् ॥१३५॥
आस्येनाऽनुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।

आकर मैंने देखा कि वे महातेजस्वी, श्रीवत्सधारी, पीताम्बर-शोभित बालमुकुन्द सब जगत् को अपने में लीन किये हुए उसी बर्गद की शाखा पर वैसे ही विराजमान हैं। तब प्रसन्नतापूर्वक मुसकाते हुए मेरी ओर देखकर बालरूपी हरि ने कहा—हे मुनिवर मार्कण्डेय ! तुम क्या मेरे इस शरीर के भीतर रहकर और घूमकर थक गये हो ? बालमुकुन्द के यों पूछने पर मुझे नई दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। मैं ईश्वरी माया के फेर से छुटकारा पाकर मानों होश में आ गया ॥१२६।१३१॥

तब बालमुकुन्द के अच्छी तरह रक्खे हुए चरणों पर सिर रखकर मैंने उनको प्रणाम किया। उनके पावों के तलवे लाल थे। कोमल, लाल, सुडौल उंगलियां उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। उन बालमुकुन्द के अपरिमेय प्रभाव को देखकर, पास जाकर, नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर मैंने अपने को धन्य समझा। फिर मैंने

दृष्टवानखिलान्सर्वान्समस्ताञ्जठरे हि ते ॥ १३६॥
तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १३७॥
त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमंतःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥ १३८॥
निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुंडरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाऽहमनिंदितम् ॥ १३९॥
इह भूत्वा शिशुः साक्षात्किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ १४०॥
किमर्थं च जगत्सर्वं शरीरस्थं तवाऽनघ ।
कियंतं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥ १४१॥
एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥ १४२॥
महद्ध्येतदचिंत्यं च यदहं दृष्टवान्प्रभो ।
इत्युक्तः स मया श्रीमान्देवदेवो महाद्युतिः ।
सांत्वयन्मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ १४३॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

प्रणाम करके, हाथ जोड़कर, उनसे कहा—हे देव ! मैं आपको और आपकी अद्भुत माया को जानना चाहता हूं । आपके मुख से शरीर के भीतर जाकर वहां मैंने सब लोकों को और देव, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि सब प्राणियों को—चराचर जगत् को—देखा है ॥१३२।१३७॥

आपके शरीर के भीतर शीघ्रता से घूमने पर भी मेरी स्मृतिशक्ति बनी रही । हे प्रभो ! अपनी अभिलाषा न रहने पर भी आपकी इच्छा से मैं बाहर निकल आया हूं । हे कमलनयन ! आपको अच्छी तरह जानने के लिए मैं फिर यत्न करूंगा । हे भगवन् ! कृपा करके यह बताइए कि सब ब्रह्माण्ड को अपने में लीन करके इस बालक के रूप से आप यहां पर क्यों विराजमान हैं ? चराचर जगत् को आपने अपने शरीर के भीतर क्यों लीन कर रक्खा है ? आप इस रूप से इस तरह यहां पर कब तक रहेंगे ? नाथ !

यह सब मैं विस्तार के साथ आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ; क्योंकि ब्राह्मण वही है जिसे आपका और आपकी माया का ज्ञान हो। मैं इस ज्ञान को प्राप्त कर ब्राह्मण बनना चाहता हूं। ईश्वर! यह जो कुछ मैंने देखा है वह बहुत बड़ा और गूढ़ विषय है। हे युधिष्ठिर! मेरे यों कहने पर वे परम तेजस्वी, श्रीमान्, देवदेव, भगवान् सान्त्वना देते हुए मुझसे यों कहने लगे ॥१३८।१४३॥

वनपर्व का एक सौ अट्ठासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८८॥

अथ एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८९॥

देव उवाच—कामं देवापि मां विप्र न हि जानंति तत्त्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥ १ ॥
पितृ भक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।
ततो दृष्टोऽस्मि ते साक्षाद्ब्रह्मचर्यं च ते महत् ॥ २ ॥
अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया ।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत्त्वयनं सदा ॥ ३ ॥
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाऽहं सुराधिपः ।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥ ५ ॥
अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाऽहं द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

एक सौ नवासी अध्याय ॥१८९॥

बालमुकुन्द ने कहा—हे विप्र! जानने की इच्छा रखने पर भी देवगण मेरे यथार्थ तत्त्व को नहीं जान पाते। किन्तु तुम पर मैं बहुत प्रसन्न हूं, इस कारण तुम्हारे सन्तोष के लिए मैं तुमको वह क्रम सुनाता हूं जिस क्रम से मैं सृष्टि की रचना करता हूं। हे मुनिवर! तुम पिता के भक्त और मेरे शरणागत हो। साथ ही बहुत समय तक तुमने ब्रह्मचर्य धारण किया है। इसी कारण तुमको मेरे साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए हैं। मैंने पहले जल को 'नार' नाम दिया था। वह नार अर्थात् जल मेरा आश्रय है, इसी से मैं लोक में नारायण के नाम से प्रसिद्ध हूं। मैं सर्व का अनादि कारण और अविनाशी हूं। हे द्विज! मैं सब प्राणियों का विधाता और संहारकर्ता हूं। विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, राजा कुबेर, प्रेतराज यम, शिव, चन्द्र, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ आदि सब मैं ही हूं ॥१।६॥

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चंद्रादित्यौ च लोचने ।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽऽपः स्वेदसंभवाः ॥ ७ ॥
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ८ ॥
यजंते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकांक्षिणः ॥ ९ ॥
यजंते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।
चतुःसमुद्रपर्यंतां मेरुमंदरभूषणाम् ॥ १० ॥
शेषो भूत्वाऽहमेवैतां धारयामि वसुंधराम् ।
वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥ ११ ॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणाऽऽसीत्समुद्धृता ।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाऽहं द्विजसत्तम ॥ १२ ॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैव विसृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ॥ १३ ॥
पादौ शूद्रा भवंतीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥ १४ ॥
मत्तः प्रादुर्भवंत्येते मामेव प्रविशंति च ।
यतयः शांतिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥ १५ ॥

अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी मेरे पांव हैं, चन्द्र और सूर्य मेरे नेत्र हैं। आकाश मेरा सिर है। दिशाएं मेरे कान हैं। जल मेरा पसीना है। महादिशाएं और महाकाश मेरा शरीर है और वायु मेरा मन है। मैंने बहुत बड़ी-बड़ी दक्षिणाएं देकर कई सौ महायज्ञ किये हैं। वेद का अर्थ जानने की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण, देवलोक की इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ आदि में मेरी ही आराधना किया करते हैं। मैं ही शेषनाग का रूप रखकर सुमेरु, मन्दराचल आदि पर्वतों-सहित चार समुद्रों से भूषित पृथ्वीमण्डल को धारण किये हुए हूँ ॥७।१०॥

मैंने ही पहले युग में वराह का अवतार लेकर, अपने पराक्रम के प्रभाव से, प्रलयसागर के जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया है। हे द्विज ! मैं वड़वामुख अग्नि के रूप से सम्पूर्ण जल को सोखकर फिर बरसाता हूँ। ब्राह्मण मेरा मुख हैं, क्षत्रिय मेरी भुजाएँ हैं, वैश्य मेरी जाँघें और शूद्र मेरे पाँव हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व, ये चारों वेद मुझमें

कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसंज्ञा वीतकल्मषाः ।
सत्त्वस्था निरहंकारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ॥ १६ ॥
मामेव सततं विप्राश्चिंतयंत उपासते ।
अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ॥ १७ ॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यंते यान्येतानि नभस्तले ॥ १८ ॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ॥ १९ ॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे ।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये ॥ २० ॥
कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥ २१ ॥
प्राप्नुवंति नरा विप्र यत्कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जंतुषु ॥ २२ ॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाभिभूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥ २३ ॥
सम्यग्वेदमधीयाना यजंते विविधैर्मखैः ।
शांतात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवंति द्विजातयः ॥ २४ ॥

उत्पन्न होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥ ११।१५॥

शान्तिपरायण, काम-क्रोध आदि से रहित, निर्भय, पापशून्य, अहङ्काररहित, अध्यात्म विद्या में निपुण, जितेन्द्रिय, मोक्ष की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण ध्यानयोग से मेरी ही उपासना किया करते हैं। मैं ही प्रलय करनेवाला अग्नि हूँ; मैं ही प्रलय करनेवाला यम हूँ, मैं ही प्रलय करनेवाला सूर्य हूँ और मैं ही प्रलय करनेवाला वायु हूँ। आकाश में देख पड़नेवाले तारागण मेरे रोमछिद्र हैं। रत्नाकर समुद्र और दिशाएं मेरे वस्त्र, शयन और निलय अर्थात् निवासस्थान हैं। देवताओं के कार्य और प्रयोजन की सिद्धि के लिए मैंने ही इनको अलग अलग स्थापित किया है। १६।२०।

काम, क्रोध, मोह, भय, हर्ष, मनुष्यों के मङ्गल का साधन सत्य, दान, उग्र तप, प्राणियों से अहिंसा का व्यवहार आदि सब भाव मेरे रोम हैं और मेरे ही शरीर में स्थित हैं। मेरे ही विधान के अनुसार सब प्राणी इन भावों का आश्रय ग्रहण करते हैं, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं। अच्छी तरह वेद

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन्नैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ २५ ॥
तस्मान्महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गयोगैर्निषेवितम् ॥ २६ ॥
यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २७ ॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यंति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥
सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ॥ ३० ॥
कर्मकाले पुनर्देहमविचिंत्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबंधकारणात् ॥ ३१ ॥
श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम ।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

का अध्ययन और उसके अर्थ का अनुशीलन करनेवाले, अनेक यज्ञ करनेवाले, शान्तहृदय और क्रोध को जीतनेवाले ब्राह्मण ही मुझे पा सकते हैं ॥२१।२४॥

कुकर्म करनेवाले (दुराचारी), लोभी, अनार्य, कृपण और अपने मनको वशमें न रख सकनेवाले लोग मुझे नहीं पा सकते । योगी लोग जिसको ग्रहण करते हैं वह मेरा मार्ग मूढ़ अज्ञ जनों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है । उसी मार्ग पर चलनेवाले को महाफल (मुक्ति) प्राप्त होता है । हे मुनिवर ! जब-जब अधर्म बढ़ने से धर्म घटने लगता है तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूं । जब देवताओं के लिए अवध्य राक्षस और दैत्य उत्पन्न होकर पृथ्वी पर हिंसा आदि भयङ्कर कर्म करने लगते हैं तब मैं मनुष्यरूप से पुण्यात्माओं के घर जन्म लेता हूं और दैत्यों को मारकर उनका उपद्रव शान्त करता हूं । मैं अपनी माया के प्रभाव से देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस आदि सब चराचर प्राणियों को उत्पन्न करके यथासमय उनका संहार करता हूं ॥२५।३०॥

लोक में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए या देवताओं के कार्य करने की आवश्यकता से मैं मनुष्य-शरीर धारण करता हूं । मेरा सत्ययुग में श्वेत वर्ण, त्रेतायुग में पीत वर्ण, द्वापर में रक्त वर्ण

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन्काले भवंति च ।
अंतकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वाऽतिदारुणः ॥ ३३ ॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजंगमम् ।
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥ ३४ ॥
आविर्भूः सर्वगोऽनंतो हृषीकेश उरुक्रमः ।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ॥ ३५ ॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममाऽऽत्मा मुनिसत्तम ।
सर्वभूतेषु विप्रेंद्र न च मां वेत्ति कश्चन ॥ ३६ ॥
सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयंति च सर्वशः ।
यच्च किंचित्त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ॥ ३७ ॥
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवाऽनघ ।
यच्च किंचित्त्वया लोके दृष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ३८ ॥
विहितः सर्वथैवाऽऽसौ ममाऽऽत्मा भूतभावनः ।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ॥ ३९ ॥
अहं नारायणो नाम शंखचक्रगदाधरः ।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात् ॥ ४० ॥

और कलियुग में कृष्ण वर्ण है । कलियुग में अधर्म के तीन भाग होते है । पहले में अधर्म की उत्पत्ति, दूसरे में वृद्धि और तीसरे में अत्यन्त वृद्धि होती है। जब कलियुग का अन्तसमय होता है तब अत्यन्त दारुण काल का रूप रखकर अकेला मैं ही इस चराचर जगत् का नाश करता हूं । मै त्रिवर्त्मा हूं अर्थात् मेरे तीन मार्ग हैं । मै विश्वरूप, सर्व प्राणियों को सुख देनेवाला, सर्वव्यापी, अजित, अनन्त, हृषीकेश, कालचक्र को चलानेवाला और रूपरहित हूं । मैं सृष्टि-स्थिति-संहार आदि के समयों में सर्वदा अपना कार्य करने के लिए उद्यत रहता हूं ॥३१।३५॥

हे मुनिवर ! इस प्रकार अपनी माया से ही छिपा हुआ मैं सर्व प्राणियों के हृदय में आत्मा-रूप से स्थित हूं; पर मुझे कोई नहीं जान सकता । सर्व लोकों में जो मेरे भक्त हैं वे मेरी पूजा और आराधना किया करते है । हे द्विजश्रेष्ठ ! तुमने मेरे पेट के भीतर जो कुछ कष्ट पाया है उसको तुम अपने सुख के उदय और भावी कल्याण का कारण समझो । इस लोक में जो कुछ चर और अचर पदार्थ तुमने देखे हैं उन सबको तुम मेरा ही रूप समझो । देखो, सब

तावत्स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन् ।
एवं सर्वमहं कालमिहाऽऽस्से मुनिसत्तम ॥ ४१ ॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ।
मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ॥ ४२ ॥
असकृत्परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ४३ ॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ।
अभ्यंतरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ॥ ४४ ॥
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नाऽवबुध्यसे ।
ततोऽसि वक्त्राद्विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ॥ ४५ ॥
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ॥ ४६ ॥
यावत्स भगवान्ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत्त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥ ४७ ॥
ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥ ४८ ॥
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजंगमम् ॥ ४९ ॥

लोकों के पितामह ब्रह्मा मेरे शरीर का आधा भाग है। मैं शङ्ख-चक्र-गदा-धारी नारायण हूँ। एक सहस्र युग तक मैं सर्व लोकों के पितामह ब्रह्मा के रूप से, सर्व प्राणियों को मोहित करके, शयन करता हूँ ॥३६।४०॥

जब तक ब्रह्मा नहीं जागते तब तक मैं, पुरातन पुरुष होकर भी, इसी बालरूप से यहां रहता हूँ। सृष्टि के समय प्रकट होनेवाला सब चराचर जगत् तब तक मेरे पेट में लीन रहता है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मैंने प्रसन्न होकर ब्रह्मा के रूप से कई बार तुमको श्रेष्ठ वर दिये हैं। जलमय, एकाकार, प्रलय-सागर में चराचर जगत् को डूबा हुआ देखकर तुम व्याकुल हो उठे थे। यह जानकर मैंने तुमको अपने पेट के भीतर सब जगत् दिखा दिया। मेरे पेट के भीतर पहुँचकर जब तुमने सब जगत् को देखा था तब आश्चर्य के मारे तुम कुछ भी नहीं समझ सके थे। इसी से मैंने तुमको अपने मुख के द्वारा पेट के भीतर से शीघ्र ही बाहर निकाल दिया। देवता और दैत्य भी मेरे जिस तत्त्व को नहीं जान सकते, वही अपने रूप का तत्त्व मैंने तुमको सुना दिया। अब

मार्कण्डेय उवाच—इत्युक्त्वाऽन्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ॥ ५० ॥
एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन्प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥ ५१ ॥
यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र संबंधी ते जनार्दनः ॥ ५२ ॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौंतेय स्वच्छंदमरणं मम ॥ ५३ ॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिंत्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५४ ॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविंदः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५५ ॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५६ ॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ५७ ॥

जब तक भगवान् कमलयोनी ब्रह्मा योगनिद्रा से नहीं उठते तब तक तुम यहीं सुखपूर्वक बेखटके विचरते रहो। ब्रह्मा के उठने पर अनेंम लीन होकर मै अकेला आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और अन्य चराचर प्राणियों को उत्पन्न करूँगा ॥४१।४९॥

मार्कण्डेय कहते हैं—हे धर्मात्मा पुरुषों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह परम अद्भुत रूप धारण करनेवाले देव मुझसे यों कहकर वहीं पर अन्तर्द्धान हो गये। उसके पश्चात् सब विचित्र प्रजा की सृष्टि हुई और उसे मैंने देखा। इस प्रकार मैंने प्रलय के समय अद्भुत दृश्य देखा है। मैंने उस समय जिन कमलनयन नारायण को देखा था वही ये तुम्हारे सम्बन्धी जनार्दन कृष्ण है। हे कुन्ती के पुत्र! इन्हीं के वरदान से उस प्रलयकाल की स्मरण मुझे बनी हुई है। बड़ी आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी मुझे इन्हीं के वरदान से मिली है। ये जो वृष्णिवंशी महापुरुष मनुष्यलोक में प्रकट होकर लीलाएँ कर रहे हैं सो वही अचिन्त्यरूप हरि और पुराणपुरुष विभु हैं। ये धाता, विधाता, संहार करनेवाले, सनातन, श्रीवत्स-चिह्नधारी, गोविन्द, ब्रह्मा आदि प्रजापतियों के स्वामी, प्रभु, आदिदेव और जन्म-रहित हैं। इन कृष्णचन्द्र को देखकर ही मुझे यह पूर्वजन्म की याद आ गई

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥ ५८ ॥
स चैतान्पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सांत्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ॥ ५९ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कण्डेयसमास्यापर्वणिभविष्यकथनेएकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः।१८९।

है। ये पीताम्बरधारी पुरुष ही जिष्णु, विष्णु, आदिदेव, सब प्राणियों के पिता (उत्पन्न करनेवाले) और माता (पालन करनेवाले) हैं। हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ पाण्डवो! इन्हीं शरणागतवत्सल श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करो ॥५०।५७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मार्कण्डेय के मुँह से यह कथा सुनकर द्रौपदी-सहित पाण्डवों ने श्रीकृष्णजी को प्रणाम किया। हे पुरुषसिंह! माननीय कृष्णचन्द्रजी ने भी उनके सम्मान को स्वीकार करके मधुर वचनों से उन्हें आश्वासन दिया ॥५८।५९॥

—०—

वनपर्व का एक सौ नवासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८९ ॥

अथ नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९०॥

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो मार्कंडेयं महामुनिम् ।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच—आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर ।
मुने भार्गव यद्वृत्तं युगादौ प्रभवाप्ययम् ॥ २ ॥
अस्मिन्कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम ।
समाकुलेषु धर्मेषु किं तु शेषं भविष्यति ॥ ३ ॥
किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः ।
किमायुषः किंवसना भविष्यंति युगक्षये ॥ ४ ॥

एक सौ नब्बे अध्याय ॥१९०॥

वैशम्पायन ने कहा कि हे राजा जनमेजय! जगत् की आगे की गति जानने के लिए युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से पूछा—हे भगवन्! आपके मुँह से मैंने युग के आरम्भ के समय का, उत्पत्ति और विनाश के सम्बन्ध का, अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त सुना। अब कलियुग का हाल सुनने के लिए मेरा बहुत जी चाहता है। इसलिए आप अब कलियुग की करनी का बखान कीजिए। इस कलिकाल में सब धर्मों के पीड़ित होने पर अन्त को क्या होगा? कलियुग में मनुष्यों का बल, वीर्य, आहार, विहार,

कां च काष्ठां समासाद्य पुनः संपत्स्यते कृतम् ।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥ ५ ॥
इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाऽभ्यभाषत ।
रमयन्वृष्णिशार्दूलं पांडवांश्च महानृषिः ॥ ६ ॥
मार्कण्डेय उवाच—शृणु राजन्मया दृष्टं यत्पुरा श्रुतमेव च ।
अनुभूतं च राजेंद्र देवदेवप्रसादजम् ॥ ७ ॥
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तांतं भरतर्षभ ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ॥ ८ ॥
कृते चतुष्पात्सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥ ९ ॥
अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥ १० ॥
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ ११ ॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पांडव ॥ १२ ॥
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ।
राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

आयु और पहनावा कैसा होगा? फिर किस समय सत्ययुग का आरम्भ होगा? महाराज युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से जब यह प्रश्न किया तब यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और पाण्डवों की प्रसन्नता के लिए उन्होंने कहा—हे महाराज! मैंने जो पहले प्रलयकाल में देखा था वह तो सब आप सुन चुके। अब मैं कलियुग का वह भविष्य वृत्तान्त कहता हूं जिसका अनुभव अभी से श्रीकृष्णजी की कृपा के कारण मुझे प्राप्त हो गया है। राजन्! सत्ययुग में कपट, लोभ आदि न होने के कारण धर्म चारों चरणों से मनुष्यों में स्थित था। धर्म के, बैल की तरह, चार चरण थे, इसी से उसका एक नाम वृष भी है। त्रेतायुग में धर्म के तीन चरण रह गये। एक चरण को अधर्म ने निर्बल बना दिया ॥१।१०॥

द्वापर में धर्म के दो ही चरण रह गये। [उसके दो चरणों को अधर्म ने हीन कर दिया।] कलियुग में धर्म का एक ही चरण रह गया। [अधर्म के तीन चरण मनुष्यों में प्रबल हो उठे।] कलियुग

व्याजैर्धर्मं चरिष्यंति धर्मवैतंसिका नराः ।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पंडितमानिभिः ॥ १४ ॥
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
आयुषः प्रक्षयाद्विद्या न शक्ष्यंत्युपजीवितुम् ॥ १५ ॥
विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ॥ १६ ॥
वैरबद्धा भविष्यंति परस्परवधेषिणः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यंतः परस्परम् ॥ १७ ॥
शूद्रतुल्या भविष्यंति तपःसत्यविवर्जिताः ।
अंत्या मध्या भविष्यंति मध्याश्चांऽत्या न संशयः ॥ १८ ॥
ईदृशो भविता लोको युगांते पर्युपस्थिते ।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः ॥ १९ ॥
भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यंति युगक्षये ।
मत्स्यामिषेण जीवंतो दुहंतश्चाऽप्यजैडकम् ॥ २० ॥
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यंति युगक्षये ॥ २१ ॥

में मनुष्यों में तीन भाग अधर्म और एक भाग धर्म रह जाता है। ज्यों-ज्यों धर्म घटता जाता है त्यों-त्यों हर युग में मनुष्यों की आयु, वीर्य, बुद्धि, बल और तेज घटता रहता है। कलियुग में ये बातें बहुत ही कम हो जाती हैं। उस युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र दिखावे के लिए धर्म करेंगे; धर्म का जाल फैलाकर लोगों को ठगेंगे। पण्डित होने का अभिमान रखनेवाले मनुष्य सत्य का संहार करेंगे। सत्य की हानि होने के कारण मनुष्य अल्पायु होंगे। अल्पायु होने के कारण वे अच्छी तरह विद्याभ्यास करने में समर्थ न होंगे। विद्या की कमी होने से लोभ, लोभ से क्रोध और क्रोध से मोह की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार सब मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह के अधीन होकर वैरभाव उत्पन्न करेंगे और परस्पर एक दूसरे को मार डालने की चेष्टा में लगे रहेंगे। युग के अंत का समय जब आवेगा तब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के आचरण शूद्रों के से हो जायेंगे। वे तप और सत्य को छोड़ देंगे। अन्त्यज जातियां अपने को क्षत्रिय बनाकर उन्हीं का सा व्यवहार करने पर उतारू होंगा। सन के कपड़े और 'कोदों' अन्न उत्तम वस्त्र और आहार समझे जायेंगे। पुरुष स्त्रियों के भक्त होकर उन्हीं

अन्योन्यं परिमुष्णंतो हिंसयंतश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यंति युगक्षये ॥ २२ ॥
सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यंति चौषधीः ।
ताश्चाऽप्यल्पफलास्तेषां भविष्यंति युगक्षये ॥ २३ ॥
श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यंतीह परस्परम् ॥ २४ ॥
पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रांतानि भोज्यानि भविष्यंति युगक्षये ॥ २५ ॥
न व्रतानि चरिष्यंति ब्राह्मणा वेदनिंदकाः ।
न यक्ष्यंति न होष्यंति हेतुवादविमोहिताः ॥
निम्नेष्वीहां करिष्यंति हेतुवादविमोहिताः ॥ २६ ॥
निम्ने कृषिं करिष्यंति योक्ष्यंति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यंति मानवाः ॥ २७ ॥
पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निंदामुपलप्स्यते ॥ २८ ॥
म्लेच्छाभूतं जगत्सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम् ।

को अपना सबसे बड़ा मित्र समझेंगे । गायों का नाश हो जाने से बड़े बड़े व्रतधारी भी बकरियों और भेड़ों का दूध पियेंगे ॥११।२०॥

लोग मछलियां खाने में कुछ सङ्कोच न करेंगे। सब मनुष्य लोभी होकर परस्पर एक दूसरे को ठगेंगे; चोरी और हिंसा करने में भी कदापि सङ्कोच न करेंगे। लोग जप-तप नहीं करेंगे; चोर और नास्तिक बन जायँगे । नदी-तट पर कुदाल से खोदकर ओषधियां (अन्न) बोई जायँगी, और उनमें भी फल कम होंगे। श्राद्ध आदि पितृकर्म और पूजा-पाठ में लगे हुए मनुष्य भी लोभ के वशीभूत होकर एक दूसरे का धन छीन लेंगे । पिता पुत्र के धन को और पुत्र पिता के धन को हर लेने की चेष्टा करेगा । खाद्य-अखाद्य का कुछ विचार नहीं किया जायगा । ब्राह्मण लोग चारित्र और आचार-विचार से हीन होकर वेद-विद्वेषी होंगे और वृथा ही वाद-विवाद में मोहित होकर यज्ञ,होम आदि शुभ कर्मों पर श्रद्धा नहीं रक्खेंगे—नीच और हीन कर्मों को पसन्द करेंगे और उन्हीं में अपनी उन्नति समझेंगे । नीची जगहों में खेती करेंगे; गायों से और एक वर्ष के बछड़ों से भी बोझ ढोने का काम लेंगे। पिता को पुत्र की हत्या और पुत्र को पिता की हत्या करने में कुछ हिचकिचाहट न होगी । इस प्रकार की

भविष्यति निरानंदमनुत्सवमथो तथा ॥ २९ ॥
प्रायशः कृपणानां हि तथा बंधुमतामपि ।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यंतीह मानवाः ॥ ३० ॥
स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः ।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ॥ ३१ ॥
परिग्रहं करिष्यंति मायाचारपरिग्रहाः ।
समाह्वयंतः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ॥ ३२ ॥
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पंडितमानिनः ।
भविष्यंति युगस्याऽन्ते क्षत्रिया लोककंटकाः ॥ ३३ ॥
अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहंकारदर्पिताः ।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यंति युगक्षये ॥ ३४ ॥
आक्रम्याऽऽक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ।
भोक्ष्यंते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ॥ ३५ ॥
न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते ।
स्वयंग्राहा भविष्यंति युगांते समुपस्थिते ॥ ३६ ॥
राजानश्चाऽप्यसंतुष्टाः परार्थान्मूढचेतसः ।

हत्या करनेवाले भी बढ़-बढ़कर बातें करेंगे, उनकी कोई निन्दा नहीं करेगा । सब लोगों के आचरण म्लेच्छों की तरह हो जायंगे । वे कर्मकाण्ड के काम और दान आदि नहीं करेंगे । कहीं आनन्द और उत्सव का नाम नहीं रहेगा । दीन-गरीब, इष्टमित्र, नातेदार और विधवा अनाथ आदि का धन हर लेने से भी लोग न चूकेंगे ॥२१।३०॥

सब मनुष्य थोड़े बल-वीर्यवाले, जड़, लोभ और मोह के अधीन, और ऐसे ही लोगों के कहे पर चलनेवाले होकर छल-कपट का व्यवहार करेंगे । हे राजा युधिष्ठिर ! उस समय के पापी राजा लोग भी मूर्ख और अपने को पण्डित माननेवाले होंगे । वे लोककण्टक क्षत्रिय एक दूसरेके गले पर छुरी चलावेंगे । वे लोभी, अभिमान और अहङ्कार से भरे हुए, केवल दण्ड देने की ही रुचि रक्खेंगे; किसी की रक्षा नहीं करेंगे । निर्दय राजा लोग सज्जनों को सतावेंगे; उनकी सम्पत्ति और स्त्रियों को छीनकर अपने काम में लावेंगे । सज्जनों को रोते देखकर भी उन्हें दया न आवेगी । न तो कोई किसी से विवाह के लिए कन्या मांगेगा और न कोई कन्यादान ही करेगा । कन्याएँ स्वयं मनुष्य ढूंढ लेंगी । मूढ़ बुद्धिवाले राजा सन्तोष छोड़कर तरह-तरह के उपायों से प्रजा का धन हरने

सर्वोपायैर्हरिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ३७ ॥
म्लेच्छीभूतं जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद्युगांते समुपस्थिते ॥ ३८ ॥
सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पंडितमानिभिः ।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ॥ ३९ ॥
भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ।
न विश्वसंति चाऽन्योन्यं युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४० ॥
एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्त्तते ॥ ४१ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यंति जनाधिप।
एकवर्णस्तदा लोके भविष्यति युगक्षये ॥ ४२ ॥
न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यंति संक्षये ॥ ४३ ॥
ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान्देशान्संश्रयिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४४ ॥
स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशांपते ।
अन्योन्यं न सहिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ॥ ४५ ॥

लगेंगे। सब जगत् म्लेच्छ हो जायगा। सगा भाई भाई को धोखा देगा, या यों कहिए कि अपना ही एक हाथ दूसरे हाथ से दग़ा करेगा। अपने को पण्डित माननेवाले लोग सत्य की हत्या करेंगे। वृद्धों की बुद्धि बालकों की सी हो जायगी। बालक अपनी समझ को वृद्धों मे बढ़कर समझेंगे। कायर लोग अपने को वीर कहकर डींग हाकेंगे और शूरों को कायर बन जाना पड़ेगा। कोई किसी का विश्वास नहीं करेगा ॥३१।४०॥

खान-पान का भेद-भाव न रहेगा। लोभ मोह के प्रभाव से अधर्म की बढ़ती होगी और धर्म का क्षय होगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों वर्ण मिटकर सब एकवर्ण अर्थात् शूद्र हो जायेंगे। पिता पुत्र को क्षमा नहीं करेगा। और पुत्र पिता को क्षमा नहीं करेगा। स्त्री अपने स्वामी की सेवा करनी भी छोड़ देगी। जब-गेहूँ आदि अन्न जहां उत्पन्न होने होंगे, उन्हीं देशों का आश्रय सब लोग ग्रहण करेंगे। स्त्री और पुरुष मनमाने खान-पान और आचरण को पसन्द करेंगे। कोई किसी का शासन सहने के लिए उद्यत न होगा। हे युधिष्ठिर! कोई पितरों के लिए श्राद्ध-

म्लेच्छभूतं जगत्सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यंति दैवतानीह मानवाः ॥ ४६ ॥
न कश्चित्कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित्कस्यचिद्गुरुः ।
तमोग्रस्तस्तदा लोके भविष्यति जनाधिप ॥ ४७ ॥
परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश ।
ततः प्राणान्विमोक्ष्यंति युगांते समुपस्थिते ॥ ४८ ॥
पंचमे वाऽथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते ।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यंति नरास्तदा ॥ ४९ ॥
पत्यौ स्त्री तु तदा राजन्पुरुषो वा स्त्रियं प्रति ।
युगांते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ॥ ५० ॥
अल्पद्रव्या वृथालिंगा हिंसा च प्रभविष्यति ।
न कश्चित्कस्यचिद्दाता भविष्यति युगक्षये ॥ ५१ ॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यंति युगक्षये ॥ ५२ ॥
म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु ।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नाऽत्र संशयः ॥ ५३ ॥
क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वंचनम् ।
युगांते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात्करिष्यति ॥ ५४ ॥

तर्पण और देवताओं के लिए पूजा-पाठ नहीं करेगा। कोई किसी की बात नहीं सुनेगा। कोई किसी को गुरु नहीं मानेगा। सब लोग अज्ञान के अँधेरे में रहेंगे। लोगों की आयु सोलह वर्ष से अधिक न होगी। सोलह वर्ष के पश्चात् वृद्ध होकर लोग मरने लगेंगे। पांच या छः वर्ष की बालिका बच्चे उत्पन्न करेगी; सात या आठ वर्ष का बालक बच्चों का बाप बन जायगा। राजन्! उस युगान्त के समय में स्त्री को स्वामी से और स्वामी को स्त्री से सन्तोष न होगा ॥४६।५०॥

धनहीन लोग धनियों का सा ठाठ दिखावेंगे। हिंसा और डाह बहुत बढ़ जायगी। कोई किसी को कुछ देना न चाहेगा। दान पुण्य एकदम उठ जायगा। नगरों और गांवों में अन्न का अकाल होगा। चौराहों पर कुलटाओं और धूर्तों का जमाव रहेगा। स्त्रियां धन के लिए अपना सतीत्व बेचेंगी। हे महाराज! कलियुग के पिछले समय में लोग म्लेच्छाचारी, सर्वभक्षी और दारुण कर्म करनेवाले होंगे। लोभ के दास लोग बेचने-ख़रीदने में ठगविद्या से काम लेंगे।

ज्ञानानि चाऽप्यविज्ञाय करिष्यंति क्रियास्तथा ।
आत्मच्छंदेन वर्तन्ते युगांते समुपस्थिते ॥ ५५ ॥
स्वभावात्क्रूरकर्माणश्चाऽन्योन्यमभिशंसिनः ।
भवितारो जनाः सर्वे संप्राप्ते तु युगक्षये ॥ ५६ ॥
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यंति निर्व्यथाः ।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम् ॥ ५७ ॥
तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यंति नरा नृप ।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यंति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः ॥ ५८ ॥
हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभंतो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥ ५९ ॥
जीवितांतकराः क्रूरा रौद्राःप्राणिविहिंसकाः ।
यदा भविष्यंति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ६० ॥
आश्रयिष्यंति च नदीः पर्वतान्विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ॥ ६१ ॥
दस्युभिः पीडिता राजन्काका इव द्विजोत्तमाः ।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥ ६२ ॥

जिसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं है उन कर्मों को भी लोग बेधड़क करने लगेंगे। सब लोग स्वेच्छाचारी हो जायँगे । स्वभाव से ही लोगों की रुचि क्रूर कर्मों की ओर होगी । सब एक दूसरे की निन्दा करेंगे । हरे-भरे वृक्षों को और बागों को भी निष्ठुर लोग काट डालेंगे । लोगों को सदा जीवन के लिए खटका लगा रहेगा। लोभी राजा धन के लिए ब्रह्महत्या तक कर डालेंगे । ब्राह्मण लोग शूद्रों से सताये जाकर हाहाकार करते हुए इस पृथ्वी पर मारे मारे फिरेंगे; उन्हें कोई रक्षा करनेवाला नहीं मिलेगा । जब लोग क्रूर और हत्या करनेवाले आधिकता से देख पड़ेंगे, दया का नाम तक न रह जायगा, तब कलियुग का अन्त होगा ॥५१।६०॥

ब्राह्मण आदि द्विजवर्ण के लोग भय के मारे भागकर नदियों, पर्वतों और भयङ्कर स्थानों में आश्रय लेंगे । दस्यु लोग सतावेंगे और धर्मविरुद्ध आचरण करनेवाले राजा लोग 'कर' के बोझ से पीड़ा पहुँचावेंगे। तब, उस दारुण समय में, धैर्य को छोड़कर ब्राह्मण लोग काकवृत्ति का आश्रय लेंगे, अपना धर्म छोड़कर शूद्रों की सेवा करेंगे । शूद्र धर्म का उपदेश करेंगे और ब्राह्मण उसे सुनेंगे, उनकी खुशामद करेंगे और उनकी बात को 'प्रमाण' मानेंगे । सब जगह

धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
त्रिकर्माणि करिष्यंति शूद्राणां परिचारकाः ॥ ६३ ॥
शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यंति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यंति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥ ६४ ॥
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान्पूजयिष्यंति वर्जयिष्यंति देवताः ॥ ६५ ॥
शूद्राः परिचरिष्यंति न द्विजान्युगसंक्षये ।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ॥ ६६ ॥
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ॥ ६७ ॥
भविष्यति युगे क्षीणे तद्युगांतस्य लक्षणम् ।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ॥ ६८ ॥
भविष्यंति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
पुष्पं पुष्पे यदा राजन्फले वा फलमाश्रितम् ॥ ६९ ॥
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ॥ ७० ॥
अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यंति तदा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यंति वृषला ब्राह्मणैः सह ॥ ७१ ॥
मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।

सब बातें उलटी देख पड़ेंगी । उच्च जाति के लोग नीच और नीच जाति के लोग उच्च बन जायेंगे । लोग देवताओं की पूजा छोड़कर कबरों की पूजा करेंगे । ब्राह्मण सेवक और शूद्र प्रभु बनेंगे । पृथ्वी पर देवमन्दिर नहीं देख पड़ेंगे । महर्षियों के आश्रमों में, ब्राह्मणों की बस्तियों में, देवस्थानों में, चैत्य और नागों के भवनों में हड्डी से चिह्नित स्थान देख पड़ेंगे। ये सब युगान्त के लक्षण हैं । जब लोग भयानक स्वभाववाले, धर्मभाव से हीन, मांसभोजी और मद्य-पान में आसक्त होंगे, तब कलियुग का अन्त होगा। जब फूल पर फूल और फल पर फल पैदा होगा, तब कलियुग का अन्त होगा । उस समय मेघ असमय वर्षा करेंगे ॥६९।७०॥

मनुष्यों के काम क्रम से नहीं होंगे । शूद्र लोग ब्राह्मणों से विरोध करेंगे । पृथ्वी शीघ्र ही म्लेच्छों से भर जायगी । प्रजा 'कर' के बोझ से व्याकुल होकर

करभारभयाद्विप्रा भविष्यंति दिशो दश ॥ ७२ ॥
निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः ।
आश्रमानुपलप्स्यंति फलमूलोपजीविनः ॥ ७३ ॥
एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति ।
न स्थास्यंत्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ॥ ७४ ॥
आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनंतरम् ।
अर्थयुक्त्या प्रवास्यंति मित्रसंबंधिबांधवाः ॥ ७५ ॥
अभावः सर्वभूतानां युगांते संभविष्यति ।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च ॥ ७६ ॥
ज्योतींपि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा ।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ॥ ७७ ॥
षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति ।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ॥ ७८ ॥
कबंधांतर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा ।
अकालवर्षी भगवान्भविष्यति सहस्रदृक् ॥ ७९ ॥
सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगांते पर्युपस्थिते ।
अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ॥ ८० ॥

इधर-उधर भागी-भागी फिरेंगी। सब लोगों के आचार और पहनावे एक से हो जायँगे। बेगार के डर से लोग जङ्गलों में जाकर बसेंगे और वहां फल-मूल खा-कर अपना निर्वाह करेंगे। इस प्रकार सब लोगों के व्याकुल होने पर किसी बात की कोई मर्यादा न रह जायगी। शिष्य लोग गुरु के उपदेश को न मानेंगे और अप्रिय आचरण करेंगे। धनहीन आचार्य धन के लिए शिष्यों को डांट बतावेंगे। मित्र, नातेदार और भाई आदि सब धन के साथी होंगे। उस युगान्त के समय सभी प्राणियों का नाश देख पड़ेगा। सब दिशाओं में अग्नि सी लगी हुई देख पड़ेगी। नक्षत्रों की प्रभा फीकी पड़ जायगी। सब ज्योतियां धुँधली देख पड़ेंगी। वायु रूखी और आंधी सी चलेगी। महाभय की सूचना देनेवाले उल्कापात अधिकता से होंगे। छः और सूर्यों के साथ प्रचण्ड रूप धारण करके सूर्य तपेंगे। दिग्दाह देख पड़ेगा। बिना मेघ के आकाश में बिजली की कड़क सुन पड़ेगी। उदय और अस्त के समय सूर्य को राहु छिपा लेगा। इन्द्र भगवान् कुसमय में जल बरसावेंगे। बोने पर भी अन्न नहीं उगेगा। स्त्रियां कठोर और क्रूर वचन कहेंगी,

भर्तॄणां वचने चैव न स्थास्यंति ततः स्त्रियः ।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यंति युगक्षये ॥ ८१ ॥
सूदयिष्यंति च पतीन्स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ॥ ८२ ॥
युगांते हुतभुक्चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाऽध्वगाः ॥ ८३ ॥
न लप्स्यंते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ।
निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ॥ ८४ ॥
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ।
मित्रसंबंधिनश्चापि संत्यक्ष्यंति नरास्तदा ॥ ८५ ॥
जनं परिजनं चापि युगांते पर्युपस्थिते ।
अथ देशान्दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ॥ ८६ ॥
क्रमशः संश्रयिष्यंति युगांते पर्युपस्थिते ।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ॥ ८७ ॥
विक्रोशमानश्चाऽन्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ।
ततस्तुमुलसंघाते वर्तमाने युगक्षये ॥ ८८ ॥
द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।
ततः कालांतरेऽन्यस्मिन्पुनर्लोकविवृद्धये ॥ ८९ ॥

बात-बात पर रोने लगेंगी और अपने स्वामी का कहा न मानेंगी ॥७१।८०॥

पुत्र अपने मा-बापों को और स्त्रियां अपने पतियों तथा पुत्रों को मार डालने में नहीं हिचकेंगी। अमावस के सिवा और दिन भी सूर्य को राहु ग्रसेगा। सब ओर अग्नि लगने का उत्पात जोर पकड़ेगा। बटोही प्यास से व्याकुल होकर गृहस्थ के द्वार पर जाकर जल मागेंगे तो उन्हें जल या भोजन कुछ नहीं मिलेगा। किसी के द्वार पर टिकने के लिए जगह न पाकर बटोही राह में पड़े रहेंगे। कौए, सांप, पक्षी और मृग आदि कठोर शब्द सुनावेंगे। पेट भर खाने को न मिलने से लोग अपने मित्र, नातेदार, भाई-बन्धु आदि को छोड़कर दूर के देशों, नगरों और गावों को चले जायेंगे। हाय पिता! हाय पुत्र! आदि दारुण शोक-जनक वाक्य कहते-चिल्लाते लोग पृथ्वी पर सब जगह देख पड़ेंगे। हे युधिष्ठिर! इस प्रकार दारुण दृश्य उपस्थित होने पर कलियुग का अन्त हो जायगा। और फिर क्रमशः ब्राह्मण वर्णों की स्थापना होगी।

भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।
यदा सूर्यश्च चंद्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ॥ ९० ॥
एकराशौ समेष्यंति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ॥ ९१ ॥
प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यंत्यनुलोमगाः ।
क्षेमं सुभिक्ष्यमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥ ९२ ॥
कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः ।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ९३ ॥
संभूतः संभलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे ।
मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ॥ ९४ ॥
उपस्थास्यंति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ॥ ९५ ॥
स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयांतकृदुदारधीः ॥ ९६ ॥
संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ।
स सर्वत्र गतान्क्षुद्रान्ब्राह्मणैः परिवारितः ।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान्द्विजः ॥ ९७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९०॥

कालान्तर में फिर दैव अनुकूल होगा, फिर सत्ययुग का आरम्भ होने से लोगों का अभ्युदय होने लगेगा। चन्द्रमा,सूर्य,बृहस्पति जब पुष्यनक्षत्रमें आकर एक राशि में स्थित होंगे तब सत्ययुग का आरम्भ होगा॥८१।९०।

सत्ययुग में ठीक समय पर मेघ बरसेंगे, नक्षत्र शुभ फलदायक होंगे। ग्रहों की गति अनुकूल हो जायगी। सर्वत्र क्षेम, सुभिक्ष और आरोग्य देख पड़ेगा। कालान्तर में कलियुग के नाश और सत्ययुग के सुधार के लिए विष्णु का कल्की अवतार होगा। सम्भल ग्राम में विष्णुयश ब्राह्मण के घर महाबल-पराक्रम-बुद्धि आदि से युक्त कल्की भगवान् अवतार लेकर ज्योंही स्मरण करेंगे त्योंही उनके विविध अस्त्र-शस्त्र, कवच, वाहन आदि आकर उपस्थित हो जायँगे। वे धर्म की विजय दिलानेवाले भगवान् अधर्म से पीड़ित पृथ्वी पर शान्ति की स्थापना करके स्वयं सम्राट् होंगे। ब्राह्मणवंश में उत्पन्न, तेजस्वी कल्की भगवान् अपने पराक्रम से सब म्लेच्छों को मारेंगे और ब्राह्मणों में उनके धर्म की स्थापना करेंगे ॥९१।९७॥

वनपर्व का एक सौ नब्बे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९०॥

अथ एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१॥

मार्कंडेय उवाच—ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम् ।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत्कल्पयिष्यति ॥ १ ॥
स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयं भुवि हिताः शुभाः ।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥ २ ॥
तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः ।
विप्रैश्चोरक्षयश्चैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥ ३ ॥
कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च ।
स्थापयन्द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥ ४ ॥
संस्तूयमानो विप्रेंद्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान् ।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥ ५ ॥
हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानान्सुभृशं दस्यून्नेष्यति संक्षयम् ॥ ६ ॥
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत ।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥ ७ ॥

एक सौ इक्यानवे अध्याय ॥१९१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! पवित्र यशवाले कल्की भगवान् सनातनधर्म के विरोधी, चोर की वृत्तिवाले, म्लेच्छ राजाओं का संहार करके महायज्ञ अश्वमेध करेंगे। यज्ञ की दक्षिणा में वे सब पृथ्वी ब्राह्मणों को दे देंगे। इस प्रकार ब्रह्माजी की बनाई धर्म की मर्यादा को स्थापित करके भगवान् कल्की तप करने के लिए वन को चले जायँगे। पृथ्वी पर के सब लोग उन्हीं के चरित्र के अनुगामी होकर पुण्य-कार्य करेंगे और कल्याण को प्राप्त होंगे। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न कल्की भगवान् ब्राह्मणों के भले के लिए जब चार म्लेच्छों का संहार कर डालेंगे तब सर्वत्र कुशल और शान्ति का राज्य हो जायगा। ब्राह्मणश्रेष्ठ कल्की भगवान् जीते हुए देशों में काली मृगछाला आदि ब्राह्मण के चिह्नों की और शक्ति, त्रिशूल आदि क्षत्रिय के चिह्नों की स्थापना करते हुए पृथ्वी-मण्डल पर घूमेंगे। अर्थात् जहाँ-जहाँ वे अधर्मी शत्रुओं को मारेंगे वहां-वहां ब्राह्मण और क्षत्रियों के धर्मों की स्थापना करेंगे। जहां-जहां वे जायँगे वहाँ-वहाँ ब्राह्मण लोग उनकी स्तुति और पूजा करेंगे। दस्यु राजा लोग हाय पिता! हाय माता! हाय पुत्र! कहकर ऊँचे स्वर से रोते-चिल्लाते हुए कल्की भगवान् के तीक्ष्ण, भयानक निष्ठुर खड्ग के प्रहार से कट-कटकर गिरते जायँगे ॥१।६॥

हे धर्मराज! फिर सत्ययुग होने पर धर्म की

आरामाश्चैव चैत्याश्च तडागावसथास्तथा ।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ॥ ८ ॥
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यंति कृते युगे ।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ॥ ९ ॥
आश्रमाः सहपाषंडाः स्थिताः सत्यजनाः प्रजाः ।
प्रयांति सर्वबीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ॥ १० ॥
सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति ।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ॥ ११ ॥
जप्ययज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः ।
पालयिष्यंति राजानो धर्मेणेमां वसुंधराम् ॥ १२ ॥
व्यवहाररता वैश्या भविष्यंति कृते युगे ।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ॥ १३ ॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च ।
एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ॥ १४ ॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते संप्रकीर्तितः ।
सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पांडव ॥ १५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा ।

वृद्धि और अधर्म का नाश होगा। सब लोग क्रियावान् और कर्तव्यनिष्ठ होंगे। अनेक स्थानों में बाग, चैत्य, तालाब, धर्मशाला, सरोवर, देवमन्दिर आदि बनेंगे। लोग अनेक यज्ञ और पुण्य कर्म करेंगे। पृथ्वी पर सच्चे ब्राह्मणों, साधुओं और मुनियों की अधिकता हो जायगी। पहले के पाखण्डियों के आश्रमों में सत्यवादी, धर्मात्मा लोग रहने लगेंगे। लोगों के हृदयों मे पुराने कुसंस्कारों की जड़ उखड़ जायगी॥७।१०॥

हे राजेन्द्र! सब ऋतुओं में सब अन्न उत्पन्न होंगे। सब मनुष्य दान और व्रत आदि करेंगे तथा चरित्र की रक्षा मे तत्पर होंगे। ब्राह्मण लोग जप, यज्ञ, धर्म में निरत होकर अपने छ: कर्म करेंगे और सन्तोषी होंगे। क्षत्रिय लोग पराक्रमी होंगे। राजा लोग धर्म से पृथ्वी का पालन करेंगे। वैश्य भी अपने कर्मों में श्रद्धा दिखावेंगे। शूद्र लोग तीनों वर्णों की सेवा करेंगे। हे महाराज! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में धर्म की जो दशा होती है उसका वर्णन कर दिया गया। कलियुग का धर्म और सब लोगों का जाना हुआ युगों का परिणाम पहले ही कह चुका हूँ ॥११।१५॥

हे पाण्डव! ऋषियों द्वारा प्रशंसित वायुपुराण

वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥
एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवाऽनुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥ १७ ॥
इदं चैवाऽपरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १८ ॥
धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजन्प्रेत्य चेह च नंदति ॥ १९ ॥
निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ॥ २० ॥
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान्प्रतिज्ञया ।
वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ॥ २१ ॥
उवाच वचनं धीमान्परमं परमद्युतिः ।
कस्मिन्धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ॥ २२ ॥
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः ।
मार्कंडेय उवाच—दयावान्सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ॥ २३ ॥
सत्यवादी मृदुर्दांतः प्रजानां रक्षणे रतः ।
चर धर्मं त्यजाऽधर्मं पितॄन्देवांश्च पूजय ॥ २४ ॥

के अनुसार यह सब भूतकाल और भविष्यकाल का हाल मैंने तुम्हारे आगे वर्णन किया है। हे राजेन्द्र ! मैं चिरञ्जीवी हूँ; इसलिए ससार की दशा का यह परिवर्तन अनेक बार देख चुका हू । धर्म-सम्बन्धी संशय मिटाने के लिए अब और भी कुछ कहता हू। भाइयों क साथ एकाग्र होकर सुनो। हे धार्मिकश्रेष्ठ ! सदा धर्म में अपना मन लगाना; क्योंकि धर्मात्मा पुरुष दोनों लोकों में परम सुख पाते हैं। हे निष्पाप ! ब्राह्मण का अनादर भूलकर भी न करना । ब्राह्मण कुपित होने पर सहज ही सब लोकों को भस्म कर सकते है । ॥१६।२०॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! कुरुकुलश्रेष्ठ बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय मुनि के वचन सुनकर पूछा—हे मुनिवर ! मैं किस धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करूँ? कैसा व्यवहार करने से मैं अपने धर्म से भ्रष्ट न होऊगा ॥२१।२२॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम सब प्राणियों का हित करनेवाले, दयालु, प्रजा पर अनुराग

प्रमादाद्यत्कृतं तेऽभूत्सम्यग्दानेन तज्जय ।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान्भव ॥ २५ ॥
विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः ॥ २६ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदतीतानागतं भुवि ।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ॥ २७ ॥
प्राज्ञास्तात न मुह्यंति कालेनाऽपि प्रपीडिताः ।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ॥ २८ ॥
मुह्यंति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः ।
मा च तत्र विशंकाऽभूद्यन्मयोक्तं तवाऽनघ ॥ २९ ॥
अशंक्यं मद्वचो ह्येतद्धर्मलोपो भवेत्तव ।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत्समाचर ।
युधिष्ठिर उवाच—यत्त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ॥ ३१ ॥
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ।

रखनेवाले, ईर्ष्या से रहित, सत्यवादी, कोमल स्वभाववाले, शान्त, प्रजा-पालन में तत्पर होकर, अधर्म से बचकर, धर्म का आचरण करो । देवताओं और पितरों की पूजा और आराधना करो । यदि भूल से कोई अनुचित कार्य बन भी पड़े तो दान आदि सत्कर्मों से उसकी शान्ति कर डालो; अभिमान छोड़कर सदा सबसे नम्रता का व्यवहार करो । इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने वश में करके सुख भोगो । हे राजेन्द्र ! मैंने यह तुम्हारे आगे, बीते हुए और आनेवाले, समय के धर्मों का वर्णन कर दिया ॥२३।२६॥

तुम स्वयं भी भूत और भविष्यकाल के सब धर्मों को जानते हो । इसलिए हे पुत्र ! तुम इस वर्तमान क्लेश को क्लेश मत समझो । विज्ञ पुरुष समय के द्वारा पीड़ित होकर भी व्याकुल नहीं होते हैं । हे महाबाहु ! देवताओं पर भी ऐसा क्लेशदायक समय पड़ता रहता है । साधारण प्रजा, समय के द्वारा सताई जाकर, खेद और मोह को प्राप्त होती है; तुम ऐसे बुद्धिमान् और असाधारण पुरुष नहीं होते । हे निष्पाप ! मैंने जो तुमको उपदेश किया है उसमें तनिक भी सन्देह न करना । मेरी बातों पर सन्देह करने से तुम्हारा धर्म नष्ट होगा । हे भरतश्रेष्ठ ! तुमने प्रसिद्ध कुरुवंश में जन्म लिया है, इस कारण मन-वाणी-काया से मेरे उपदेश का पालन करो ॥२७।३०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे मुनिवर ! आपने मनोहर

न मे लोभोऽस्ति विप्रेंद्र न भयं न च मत्सरः ॥ ३२ ॥
करिष्यामि हि तत्सर्वमुक्तं यत्ते मयि प्रभो ।
वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कंडेयस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
संहृष्टाः पांडवा राजन्सहिताः शार्ङ्गधन्वना ।
विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ३४ ॥
तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कंडेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यंत पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३५ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्या

वचनों से जो उपदेश मुझे दिया है उसके अनुसार मैं यथाशक्ति कार्य करूँगा। हे विप्रेन्द्र! लोभ, मोह या ईर्ष्या के भाव मेरे हृदय में नहीं है। आपने मुझे जो आज्ञा दी है, उसका पालन मैं अवश्य श्रीकृष्ण, पाण्डव और आये हुए सब ब्राह्मण बुद्धिमान् महर्षि मार्कण्डेय मुनि के मुख से यह मङ्गलदायिनी पुण्य कथा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।३१।३५।

वनपर्व का एक सौ इक्यानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९१ ॥

अथ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९२॥

वैशम्पायन उवाच—भूय एव ब्राह्मण महाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत्पांडवेयो मार्कंडेयम् ॥१॥ अथाऽऽचष्ट मार्कंडेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम् ॥२॥ अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः परीक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥३॥ तमेकाश्वेन मृगमनुसरंतं मृगो दूरमपाहरत् ॥४॥ अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन्देशे नीलं गहनं वनखंडमपश्यत् ॥५॥ तच्च विवेश

एक सौ बानवे अध्याय ॥१९२॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे वैशम्पायनजी! महातपस्वी, महर्षि मार्कण्डेय मुनि ने पाण्डवों के आगे जो ब्राह्मणों की महिमा कही, उसे आप फिर से कहिये। वैशम्पायन ने कहा कि राजन्! धर्मराज ने भी फिर मार्कण्डेय जी से ब्राह्मणों की महिमा वर्णन करने के लिए कहा। तब मार्कण्डेयजी बोले हे धार्मिकश्रेष्ठ युधिष्ठिर! सुनो, मैं तुम्हारे आगे अत्यन्त अद्भुत ब्राह्मण-माहात्म्य कहता हूं। अयोध्या के राजा, इक्ष्वाकुवंश के यश को बढ़ानेवाले, महाराज परीक्षित् एक समय शिकार खेलने के लिए वन को गये। घोड़े पर चढ़े हुए राजा एक मृग का पीछा करते-करते वन में बहुत दूर निकल गये। राह चलने से थके और भूख-प्यास से व्याकुल राजा को सामने नीले रङ्ग का और भी गहन वन मिला ॥१।५॥

ततस्तस्य, वनखंडस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥६॥ अथाऽऽश्वस्तः स बिसमृणालमश्वायाऽग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश। ततः शयानो मधुरं गीतमश्रृणोत् ॥ ७ ॥ स श्रुत्वाऽचिंतयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ॥ ८ ॥ अथाऽपश्यत्कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वतीं गायंतीं च। अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥ ९ ॥ तामब्रवीद्राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति । सा प्रत्युवाच कन्याऽस्मीति तां राजोवाचाऽर्थी त्वयाऽहमिति ॥ १० ॥ अथोवाच कन्या समयेनाऽहं शक्या त्वया लब्धुं नाऽन्यथेति राजा तां समयमपृच्छत् । कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ॥ ११ ॥ स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परीक्षित्क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं संगम्य तया सहाऽऽस्ते ॥ १२ ॥ ततस्तत्रैवाऽऽसीने राजनि सेनाऽन्वगच्छत् ॥ १३ ॥ सा सेनोपविष्टं राजानं परिवार्याऽतिष्ठत्पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादवघोटितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया स-

राजा ने उस वन के भीतर जाकर एक सुन्दर सरोवर देखा। वे घोड़े पर बैठे ही बैठे उस सरोवर के जल में घुस गये। स्नान और जलपान से अपनी आत्मा शांत होने पर वे घोड़े पर से उतर पड़े। घोड़े के आगे खाने के लिए कमल की जड़ें डालकर वे किनारे पर विश्राम करने लगे। इसी बीच में उन्हें किसी का गाना सुन पड़ा। उस महावन में एकाएक मधुर गीत सुनकर राजा सोचने लगे कि इस स्थान पर किसी मनुष्य की गति नहीं देख पड़ती, फिर यह गाने का मधुर शब्द किसका है? वे यों सोच ही रहे थे इसी समय उन्होंने देखा कि एक परम सुन्दरी कन्या फूल चुनती हुई गीत गाती चली आ रही है। नयनों को आनन्द देनेवाली वह ललना धीरे-धीरे राजा के पास पहुँच गई। तब राजा ने उससे पूछा—हे भद्रे! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? उस कन्या ने कहा—हे राजेन्द्र! मैं कन्या हूँ, अभी मेरा विवाह नहीं हुआ। राजा ने कहा—हे सुन्दरी! तो तुम मुझे अपना पति बना लो ॥६।१०॥

कन्या ने कहा—यदि आप एक प्रतिज्ञा कर सकें तो मैं आपके साथ विवाह कर सकती हूँ। राजा ने पूछा—वह प्रतिज्ञा क्या है? कन्या ने कहा—आप मुझे जल मत दिखाइएगा। राजा ने यह प्रतिज्ञा मान ली। उसके साथ विवाह करके राजा वहां आनन्द से विहार करने लगे। इसी समय पीछे छूटी हुई राजा की सेना वहां आ गई। राजा



हाऽऽस्ते ॥ १४ ॥ तत्राऽभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नाऽपश्यदथ प्रधानामात्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत् ॥ १५ ॥ किमत्र प्रयोजनं वर्तते इत्यथाऽब्रुवंस्ताः स्त्रियः ॥१६॥ अपूर्वमिव पश्याम उदकं नाऽत्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् ॥ १७ ॥ वनमिदमुदारकं साध्वत्र रम्यतामिति ॥ १८ ॥ स तस्य वचनात्तयैव सह देव्या तद्वनं प्राविशत्स कदाचित्तस्मिन्कानने रम्ये तयैव स व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत् ॥ १९ ॥ तत्प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २० ॥ दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्याऽवातिष्ठत् ॥ २१ ॥ अथ तां देवीं स राजाऽब्रवीत्साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वाऽवतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुद्मज्जत् ॥ २२ ॥ तां स मृगयमाणो राजा नाऽपश्यद्वापीमथ निःस्रा-

को पाकर उनके अनुचर और सैनिक बहुत प्रसन्न हुए। अब राजा उस सुन्दरी को पालकी पर चढ़ाकर सेना-सहित अपनी राजधानी में आये। घर आकर वे एकान्त में उसी सुन्दरी के साथ आनन्द से क्रीड़ा करने लगे। राजा उसपर ऐसे मोहित हो गये कि रनिवास से बाहर निकलना उनके लिए बड़ा कठिन हो गया। मन्त्री, पुरोहित आदि कर्मचारियों को उनके दर्शन दुर्लभ हो गये ॥११।१४॥

एक दिन प्रधान मन्त्री ने राजा के पास रहनेवाली रानी की सहेलियों से पूछा—यहाँ तुम लोग क्या कार्य करती हो? उन्होंने कहा—यहाँ एक विचित्र बात हमें देख पड़ती है। महाराज के निवास-भवन में जल ले जाने की मनाही है। हम इसी बात की सावधानी रखती हैं कि कोई जल लेकर भीतर न जाने पावे। उनके ये वचन सुनकर मन्त्री ने एक बाग़ लगवाया जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष और फूल फल लगे हुए थे। बाग़ के भीतर, ऊपर से बन्द, एक बावली बनवाई। उसमें भीतर अमृत सदृश मीठा जल भरा था। वह ऊपर से मोतियों से ढकी हुई थी। अब मन्त्री ने एकान्त में राजा के पास जाकर कहा—हे महाराज! यह उपवन बड़ा ही सुन्दर है; इसमें जल का नाम भी नहीं है। आप इसी में नई रानी के साथ कुछ दिन रहिए और सैर कीजिए ॥१५।१८॥

राजा ने मन्त्री की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे उस स्त्री के साथ उसी बाग़ में जाकर रहने और रमण करने लगे। एक दिन विहार करते-करते राजा को भूख और प्यास लगी। इधर-उधर देखने पर उन्हें पास ही एक माधवी लता का कुञ्ज देख पड़ा। रानी के साथ उस कुञ्ज के भीतर जाने पर राजा

ऽय मंडूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ॥ २३ ॥ सर्वत्र मंडूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमंडूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ॥ २४ ॥ अथ मंडूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान्भयमाविवेश ते भीता मंडूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ २५ ॥ ततो मंडूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥ २६ ॥ मा राजन्क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नाऽर्हसि मंडूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति श्लोकौ चाऽत्र भवतः ॥ २७ ॥

मा मंडूकाञ्जिघांस त्वं कोपं संधारयाऽच्युत ।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥ २८ ॥
प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि ।
अलं कृत्वा तवाऽधर्मं मंडूकैः किं हतैर्हि ते ॥ २९ ॥

तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजाऽथोवाच ॥ ३० ॥ न हि क्षम्यते

को वहीं निर्मल जल से भरी बावली देख पड़ी । उसे देखकर राजा अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये और उसी बावली के किनारे गये । राजा ने रानी से कहा—हे देवी ! आओ इस बावली में घुसकर जल-विहार करें, बड़ी गर्मी और प्यास मालूम पड़ती है । राजा के कहने से रानी उसके भीतर घुस गई, पर गोता लगाकर वह छिप गई ॥१९।२२॥

रानी को, उसके बाहर निकलते न देखकर, राजा ने बहुत ढूँढ़ा किन्तु कुछ पता न चला । वह बावली भी फिर नहीं देख पड़ी । उसी स्थान पर, एक छेद के मोहरे पर, केवल एक मेंढक देख पड़ा। राजा ने अपनी रानी के नाश का कारण उस मेंढक को समझकर सब मेंढकों की हत्या करने की आज्ञा दे दी । राजा ने कह दिया कि जो कोई मुझसे प्रार्थना करने आवे वह एक मरा हुआ मेंढक भेंट करे, उसकी इच्छा पूरी की जायगी । उस प्रकार चारों ओर मेंढकों को मार डालने की आज्ञा फैल जाने पर मेंढक बहुत डरे । उन्होंने अपने राजा मण्डूकराज के पास जाकर आदि से अन्त तक अपनी विपत्ति का हाल कहा ॥२३।२५॥

सब सुनकर, तपस्वी ब्राह्मण का रूप रखकर, मण्डूकराज राजा के पास गया । उसने कहा—हे महाराज ! आप क्रोध छोड़कर शान्तभाव धारण कीजिए । निरपराध मेंढकों की हत्या कराना आपके योग्य कार्य नहीं है । यह आपका कर्त्तव्य भी नहीं है । मेरी बात मानिए, क्रोध शान्त करके मेंढकों की हत्या बन्द करा दीजिए । मेंढकों की हत्या करने से धन घटता है । आप निश्चय जानिए, मेंढकों की हत्या कराने से आप अपनी प्रियतमा के वियोग-शोक को भूल नहीं सकते । व्यर्थ मेंढकों की हत्या करने से, पाप एकत्र करने के सिवा, आपके हाथ और क्या लगेगा ? ॥२६।२९॥

तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता । सर्वथैव मे वध्या मंडूका नाऽर्हसि विद्वन् मामुपरोद्धुमिति ॥ ३१ ॥ स तद्वाक्यमुपलभ्य व्यथितेंद्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मंडूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम तस्या हि दौःशील्यमेतद्बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ॥ ३२ ॥ तमब्रवीद्राजा तयाऽऽसमर्थी सा मे दीयतामिति ॥ ३३ ॥ अथैनां राज्ञे पिताऽदादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३४ ॥ स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात्त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्माद्ब्रह्मण्यानि तवाऽपत्यानि भविष्यंत्यानृतिकत्वात्तवेति ॥ ३५ ॥ स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याऽभिपूज्य मंडूकराजमब्रवीदनुगृहीतोऽस्मीति ॥ ३६ ॥ स च मंडूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ३७ ॥ अथ कस्यचित्कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः संबभूवुः शलो दलो बलश्चेति ततस्तेषां ज्येष्ठं श-

प्रियतमा के शोक से पीड़ित राजा परीक्षित् ने मण्डूकराज के वचन सुनकर कहा—मैं मेंढकों को कभी क्षमा न करूँगा। मेढक ही मेरी प्रियतमा को खा गये हैं। इस कारण मैं पृथ्वी पर एक भी मेढक को न रहने दूँगा। हे द्विजश्रेष्ठ! आप इस बीच में पड़कर मुझसे कुछ न कहिए। राजा के वचन सुनकर व्यथितहृदय मण्डूकपति ने फिर कहा—हे राजेन्द्र! शान्त और प्रसन्न हूजिए। मैं मेंढकों का राजा हूँ, मेरा नाम आयु है। आपकी प्यारी रानी मेरी ही बेटी है। उसका नाम सुशोभना है। दुष्ट स्वभाव होने के कारण आपसे पहले भी वह इसी तरह कई राजाओं को धोखा दे चुकी है। यह सुनकर राजा ने कहा—मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, वह अपनी कन्या मुझे दे दो ॥३०।३३॥

राजा की प्रार्थना स्वीकार करके मण्डूकराज ने वह अपनी कन्या उन्हें दे दी, और कह दिया—"सुन सुशोभना! महाराज की सेवा करती रहना"। इसके पश्चात् कुपित मण्डूकराज ने उसे यह भी शाप दिया—तेरा स्वभाव दुष्ट है, और तूने अनेक राजाओं को धोखा दिया है, इस कारण तेरे जो पुत्र होंगे वे ब्राह्मणों को न मानेंगे। सुशोभना की रतिकला पर रीझे हुए राजा उसे पाकर ऐसे प्रसन्न हुए मानों उन्हें तीनों लोकों का राज्य मिल गया हो। मण्डूकराज को प्रणाम-सत्कार आदि से सन्तुष्ट करते हुए उन्होंने गद्गद वाणी से कहा—आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। कन्या से विदा होकर मण्डूकराज अपने स्थान को चल दिया ॥३४।३७॥

कुछ दिनों के पश्चात् सुशोभना के गर्भ से राजा

लं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ३८ ॥
अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन्मृगमासाद्य रथेनाऽन्वधावत् ॥ ३९ ॥
सूतं चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥
४० ॥ न क्रियतामनुबंधो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुं यद्यपि
रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति ततोऽब्रवीद्राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ
हन्मि च त्वामिति । स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेवशाप-
भीतश्च सन्नाचख्यौ राज्ञे । ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथ-
यस्वेति तमाह हनिष्ये त्वामिति । स तदाऽऽह राजभयभीतः सूतो
वामदेवस्याऽश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥ ४१ ॥ अथैनमेवंब्रुवाणमब्रवी-
द्राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत्
॥ ४२ ॥ भगवन्मृगो मे विद्धः पलायते संभावयितुमर्हसि वाम्यौ मे
दातुमिति तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव
वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति स च तावश्वौ प्रतिगृह्याऽनुज्ञाप्य ऋषिं प्रा
याद्वामीप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाऽब्रवीत्सूतमश्वरत्नाविमावयो-
ग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगर-

के शल, दल और बल नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। बुढ़ापे की अवाई देखकर राजा ने बड़े पुत्र शल को राज्य दे दिया। शल को राजा बनाकर वे तप करने के विचार से वन को चले गये। इधर महाराज शल एक दिन रथ पर चढ़कर शिकार खेलने के लिए वन को गये। वहा उन्होंने एक मृग का पीछा किया और सारथी से कहा—शीघ्र रथ चलाओ। सारथी ने कहा—इस मृग को पकड़ने के लिए आपका इतना आग्रह व्यर्थ है। आप इसे नहीं पकड़ सकते। यदि आपके रथ में दोनों वाम्य घोड़े जुते होते तो आप इस मृग को पकड़ सकते थे। राजा ने पूछा—वाम्य घोड़े कौन और कहा हैं? ॥३८।४१॥

अब तो सारथी बहुत डरा। यदि नहीं बताता है तो राजा से भय है, और बताये देता है तो वामदेव ऋषि से शाप का डर है। अन्त में उसने राजा को बता दिया कि वाम्य अर्थात् वामदेव ऋषि के रथ के घोड़े बहुत बढ़िया हैं और ये वायु तथा मन की गति के समान चलते हैं। तब राजा ने उससे कहा—अच्छा, तो वामदेव के आश्रम में मुझे ले चलो। सारथी शल को वामदेव के पास ले गया। शल ने जाकर मुनि से कहा—हे भगवन्! एक मृग मेरे बाण से घायल होकर भी भागा जा रहा है। कृपा करके अपने दोनों घोड़े मुझे दे दीजिए, मेरे इन घोड़ों में इतनी चाल नहीं है कि उसका पीछा कर सकें ॥४२।४३॥

मेत्याऽश्वावंतःपुरेऽस्थापयत् ॥ ४३ ॥ अथर्षिश्चिंतयामास तरुणो राजपु-
त्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ॥ ४४ ॥
स मनसा विचिंत्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥ गच्छाऽऽत्रेय
राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं निर्यातयोपाध्यायवाम्याविति स गत्वैवं तं
राजानमब्रवीत्तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्ना-
नामेवंविधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ॥ ४६ ॥ स
गत्वैतदुपाध्यायायाऽऽचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरी-
तात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याऽश्वार्थमचोदयन्न चाऽददद्राजा ॥ ४७ ॥
वामदेव उवाच – प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं कृतं हि ते कार्यमाभ्यामशक्यम् ।
मा त्वाऽवधीद्वरुणो घोरपाशैर्ब्रह्मक्षत्रस्यांतरे वर्तमानम् ॥ ४८ ॥

महर्षि ने कहा—मैं तुमको अपने दोनों घोड़े इस शर्त पर दिये देता हूँ कि कार्य होते ही मुझे लौटा देना। ऋषि की इस प्रतिज्ञा पर प्रसन्न होकर, उन घोड़ों को अपने रथ में जुतवाकर, राजा ने फिर उस मृग का पीछा किया। राह में राजा अपने सारथी से कहने लगे कि सारथी, ये दोनों घोड़े तो सचमुच अमूल्य रत्न हैं; किन्तु ये हम राजाओं के योग्य हैं, न कि वनवासी वामदेव के। इसलिए मैं ये घोड़े लौटाकर न दूँगा। उस घायल मृग का शिकार करके राजा अपनी राजधानी को चले आये। उन दोनों घोड़ों को उन्होंने अस्तबल में बँधवा दिया। उधर वामदेव ऋषि मन में कहने लगे कि हा, कैसे कष्ट की बात है! वह नौजवान राजपुत्र मेरे बढ़िया घोड़ों को अपने यहाँ रखकर उनसे काम ले रहा है। अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण न रखकर उसने अभी तक मेरे घोड़े नहीं लौटाये ॥४३।४४॥

एक महीना पूरा हो जाने पर वामदेव ने अपने शिष्य आत्रेय से कहा—हे पुत्र! तुम राजा शल के पास जाकर उनसे कहो कि जो उनका कार्य हो चुका हो तो मेरे दोनों घोड़े लौटा दें। आत्रेय ने अपने आचार्य की आज्ञा के अनुसार राजा के पास जाकर दोनों घोड़े लौटा देने के लिए कहा। राजा ने उत्तर दिया—ऐसे बढ़िया घोड़ों की ब्राह्मणों को क्या आवश्यकता? वे घोड़े तो राजाओं के ही योग्य हैं। आप लौट जाइए और अपने गुरु से यही कह दीजिए। [राजा के वाक्य सुनकर आत्रेय वामदेव के पास लौट गये और सब हाल उनको कह सुनाया। राजा की बेईमानी देखकर] वामदेव को क्रोध आ गया। उन्होंने राजा के पास जाकर अपने घोड़े लौटा देने के लिए कहा। राजा ने उनको भी वैसा ही उत्तर दिया और घोड़े न देने का विचार प्रकट किया ॥४५।४७॥

वामदेव ने कहा—हे राजेन्द्र! देखो, तुम्हारा कार्य हो चुका, अब मेरे दोनों घोड़े लौटा दो। इसी में कुशल है। ऐसा न करो कि वरुणदेव घोर पाशों में बाँधकर तुम्हें मार डालें। ब्राह्मण और क्षत्रिय के

राजोवाच—अनड्वाहौ सुव्रतौ साधुदांतावेतद्विप्राणां वाहनं वामदेव ।
ताभ्यां याहि त्वं यत्र कामो महर्षे च्छंदांसि वै त्वादृशं संवहंति ॥ ४९ ॥
वामदेव उवाच छंदांसि वै मादृशं संवहंति लोकेऽमुष्मिन्पार्थिव यानि संति ।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेतदस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ५० ॥
राजोवाच—चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहंतु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः ।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥ ५१ ॥
वामदेव उवाच घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहुरेतद्राजन्यदिहाजीवमानः ।
अयस्मया घोररूपा महांतश्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः ।
मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना वहंतु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ५२ ॥
राजोवाच—ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव वाचा हंतुं मनसा कर्मणा वा ।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयंतु मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः ॥ ५३ ॥
वामदेव उवाच–ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन्पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम् ।
प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात्॥ ५४॥

अन्तर को मत भूलो । राजा ने कहा—हे वामदेव ! मैं तुम्हें ये सीधे शिक्षित बली बैल देता हूँ। ब्राह्मण के योग्य यही सवारी है । इनको रथ में जोतकर जहाँ जी चाहे वहां जाओ । हे ऋषिवर ! आप ऐसे ऋषियों के लिए वेदों में ऐसे ही वाहन की व्यवस्था है , उस व्यवस्था को तुम मेट नहीं सकते । वामदेव ने कहा—हे राजेन्द्र ! हम ब्राह्मण लोग वेदविधान के अनुसार परलोक में बैल की सवारी पर जाते हैं। किन्तु इस लोक में, हम ऐसे ब्राह्मणों की और क्षत्रियों की भी सवारी घोड़े ही हैं। राजा ने कहा-तो तुम अपने रथ में चार गधे, या वायु की तरह शीघ्र गतिवाले बढ़िया खच्चर अथवा और घोड़े ही अपनी सवारी के लिए पसन्द कर लो । वे तुम्हारे रथ को लेकर चलेंगे । ये घोडे क्षत्रियों की सवारी के ही योग्य हैं । इसलिए इनको अब अपनी वस्तु न समझकर मेरी समझो ॥४८।५१॥

वामदेव ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम ब्राह्मण के धन को हर लेना चाहते हो, यह तुम्हारा कार्य बुरा है, अर्थात् इसका फल अच्छा नहीं हो सकता । जो तुम मेरे घोड़े न लौटाओगे तो मेरी आज्ञा से चार भयङ्कर राक्षस तीक्ष्ण लोहे के शूलों से तुम्हारे शरीर के चार टुकड़े कर डालेंगे । राजा शल ने कहा—तुम मुझे मारने की बात कह रहे हो;किन्तु उससे पहले मेरे ही मनुष्य, मेरी आज्ञा पाकर, पैनी तलवारों और शूलों से तुमको और तुम्हारे शिष्यों को मार डालेंगे । मन-वाणी-काया से मेरी आज्ञा का पालन करनेवाले लोग ब्राह्मण जानकर तुम्हें छोड़ न देंगे । वामदेव ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुमने मुझसे घोड़े लेते समय उन्हें लौटा देने की प्रतिज्ञा की थी । इसलिए यदि जीवित रहना चाहते

राजोवाच-न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता न त्वाऽनुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम् ।
तवैवाऽऽज्ञां संप्रणिधाय सर्वां तथा ब्रह्मन्पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ५५ ॥
वामदेव उवाच-नाऽनुयोगा ब्राह्मणानां भवंति वाचा राजन्मनसा कर्मणा वा ।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसाऽन्वेति विद्वांस्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥ ५६ ॥
मार्कंडेय उवाच-एवमुक्ते वामदेवेन राजन्समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः ।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ॥ ५७ ॥
इक्ष्वाकवो यदि ब्रह्मन्दलो वा विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि ।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ नैवंविधाः कर्मशीला भवंति ॥ ५८ ॥
एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानैर्हतो जगामाऽऽशु महीं क्षितीशः ।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातितमिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिंचन् ॥ ५९ ॥
राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः ।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देयमेवं राजन्सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥ ६० ॥
बिभेषि चेत्त्वमधर्मान्नरेंद्र प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाऽद्य वाम्यौ ।

हो तो मेरे दोनों घोड़े लौटा दो ॥५२।५४॥

राजा ने कहा—हे ब्राह्मण ! [ये दोनों घोड़े शिकारियों के लायक हैं और] ब्राह्मण लोग शिकार नहीं करते । इसी से मैं दोनों घोड़े तुमको नहीं देता। [इन घोड़ों के लिए हठ न करो ।] मैं तुम्हारे कड़े कठोर और मिथ्या वचनों को क्षमा करता हूँ । इसके सिवा और जो कुछ आज्ञाएँ तुम करो उन्हें, पुण्य लोक पाने की इच्छा से, मानने को मैं तैयार हूँ । वामदेव ने कहा—हे राजेन्द्र ! मन, वाणी या काया से सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी दण्ड ब्राह्मण को नहीं दिया जा सकता । इसके सिवा जो कोई तप करके ब्राह्मण जाति के महत्व को जानता है वही श्रेष्ठ विद्वान् है; ब्राह्मण की सेवा करनेवाला वही पुरुष जीवित रहता है ॥५५।५६॥

मार्कण्डेय कहते हैं—महर्षि वामदेव के यों कहते ही त्रिशूल हाथ में लिये घोर रूप चार राक्षस वहाँ पर प्रकट हो गये । वे जब मारने को उद्यत हुए तब राजाने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—सब इक्ष्वाकुवंश के लोग, मेरा छोटा भाई और अन्य सब मेरे आज्ञाकारी लोग चाहे मुझे छोड़ दें, पर मैं वामदेव को घोड़े न दूँगा ; क्योंकि ऐसे लोग धर्मात्मा कभी नहीं होते । राजा शल के यों कहते ही उन राक्षसों ने उन्हें मार डाला । राजा पृथ्वी पर गिर पड़े । तब इक्ष्वाकुवंश के लोगों ने राजा के मरने की सूचना पाकर उनके भाई दल को राज्यासन पर बिठाया ॥५७।५९॥

अब वामदेव ऋषि ने दल के पास जाकर कहा—हे राजेन्द्र ! तुम जानते हो कि ब्राह्मण को देना राजा का सर्वथा कर्त्तव्य है, यह बात शास्त्रों में लिखी है । इसलिए जो तुमको अधर्म का डर

एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ॥ ६१ ॥
एकं हि मे सायकं चित्ररूपं दिग्धं विषेणाऽऽहर संगृहीतम् ।
येन विद्धो वामदेवः शयीत संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ॥ ६२ ॥
वामदेव उवाच—जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाऽहं जातं महिष्यां श्येनजितं नरेंद्र ।
तं जहि त्वं मद्वचनात्प्रणुन्नस्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ६३ ॥
मार्कंण्डेय उवाच—एवमुक्तो वामदेवेन राजन्नंतःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं बभाषे ॥ ६४ ॥
राजोवाच—इक्ष्वाकवो हंत चरामि वः प्रियं निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य ।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ६५ ॥
वामदेव उवाच—यस्त्वमेनं सायकं घोररूपं विषेण दिग्धं मम संदधासि ।
न त्वेतं त्वं शरवर्यं विमोक्तुं संधातुं वा शक्ष्यसे मानवेंद्र ॥ ६६ ॥
राजोवाच—इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं नवै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् ।
न चाऽस्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि आयुष्मान्वै जीवतु वामदेवः ॥ ६७ ॥
वामदेव उवाच—संस्पृशैनां महिषीं सायकेन ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ।

है तो मेरे घोड़े मुझे लौटा दो। वामदेव के वचनों से अत्यन्त क्रुद्ध होकर दल ने अपने सारथी से कहा—सूत ! एक विचित्र जहरीला बाण तो ले आ। मैं इससे वामदेव को मार डालूंगा। इनको कुत्ते नोच-नोचकर खायँगे। वामदेव ने कहा—राजन् ! मैं जानता हूँ, तुम्हारी रानी के गर्भ से उत्पन्न, श्येनजित् नाम का, एक दस वर्ष का बालक है। तुम जो बाण मुझ पर चलाना चाहते हो वह तुम्हारे उसी बालक को लगेगा ॥६०।६३॥

मार्कंण्डेय कहते हैं—हे धर्मराज ! महर्षि के यों कहते ही दल के उस बाण ने रनिवास में जाकर उनके पुत्र को मार डाला। यह हाल सुनकर दल ने कहा—हे इक्ष्वाकुवंश के लोगो ! एक और तेज बाण लाओ, मैं उससे इस ब्राह्मण को मारकर तुम्हारा प्रिय करूँगा। तुम मेरा पराक्रम देखो। इस पर वामदेव ने कहा—तुम जो ज़हरीला बाण मुझे मारने के लिए धनुष पर चढ़ाते हो उसे न तो तुम धनुष पर चढ़ा सकोगे और न छोड़ ही सकोगे। [वामदेव के वचनों के प्रभाव से ऐसा हो गया कि राजा उसे छोड़ ही नहीं सके] ॥६४।६६॥

बाण चलाने में असमर्थ होकर राजा ने कहा-इक्ष्वाकुवंशियो ! देखो, यह हाथ में लिया हुआ बाण मैं वामदेव पर चला नहीं सकता। अब मैं वामदेव को मारना नहीं चाहता। ये आयुष्मान् वामदेव जीवित रहें। वामदेव ने कहा—हे महाराज ! इस बाण को रानी के शरीर में छुआ दो तो इस ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पा जाओगे। महाराज दल ने, मुनि की आज्ञा से जाकर, रानी के शरीर में वह

. ततस्तथा कृतवान्पार्थिवस्तु ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥ ६८ ॥

राजपुत्र्युवाच—यथा युक्ता वामदेवाऽहमेनं दिने दिने संदिशंती नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि तथा ब्रह्मन्पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ६९ ॥

वामदेव उवाच—त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे वरं वृणीष्वाऽप्रतिमं ददानि ते ।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिंद्ये ॥ ७० ॥

राजपुत्र्युवाच—वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेष विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता ।
शिवेन चाऽध्याहि सपुत्रबांधवं वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य ॥ ७१ ॥

मार्कण्डेय उवाच श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्यास्तथाऽस्त्विति प्राह कुरुप्रवीर ।
ततः स राजा मुदितो बभूव वाम्यौ चास्मै प्रददौ संप्रणम्य ॥ ७२ ॥

इतिश्रीम-महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मंडूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्याय १९२

वाण छुआया । तब रानी ने वामदेव से कहा—ब्रह्मन् ! मैं नित्य इस कठोर प्रकृति के स्वामी को शुभ उपदेश देकर ब्राह्मणों की प्रशंसा करती हुई उनके अनुकूल बनाने की धुन में लगी रहती हूँ, इसके फल से मैं पवित्र लोक को जाऊँ ॥६७।६९॥

वामदेव ने कहा—हे कमलनयनी ! तुमने इस राजकुल को ब्रह्मकोप से बचा लिया । तुम मुझसे अपनी इच्छा के अनुसार वर मांगो, मैं तुमको वही वर दूँगा । तुम इक्ष्वाकुवंश और राज्य का शासन करो । रानी ने कहा—हे भगवन् ! जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह वर माँगती हूं कि मेरे स्वामी पाप से छुटकारा पा जाय । अपने पुत्र और भाई-बन्धुओं के साथ मैं सकुशल जीवित रहूं। मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे धर्मराज ! रानी के यों कहने पर वामदेव ने उसे ये दोनों वर दे दिये। पाप से छुटकारा पाकर महाराज दल ने मुनि को प्रणाम किया, और प्रसन्नतापूर्वक वे दोनों घोड़े दे दिये ॥७०।७२॥

वनपर्व का एक सौ बानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९२ ॥

अथ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥१९३॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृपिः
केन दीर्घायुरासीद्बको मार्कंडेयस्तु तान्सर्वानुवाच ॥ १ ॥ महातपा
दीर्घायुश्च बको राजर्षिर्नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ २ ॥

एक सौ तिरानवे अध्याय ॥१९३॥

वैशम्पायन ने कहा कि हे राजा जनमेजय ! तब ऋषियों और ब्राह्मणों सहित युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय ऋषि से पूछा—हे ऋषिवर ! तपस्वी बक क्यों चिरजीवी हुए ? मार्कण्डेय ने कहा हे राजेन्द्र !

एतच्छ्रुत्वा तु कौंतेयो भ्रातृभिः सह भारत ।
मार्कंडेयं पर्यपृच्छद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
वकदाल्भ्यौ महात्मानौ श्रूयेते चिरजीविनौ ।
सखायौ देवराजस्य तावृषी लोकसंमतौ ॥ ४ ॥
एतदिच्छामि भगवन्वकशक्रसमागमम् ।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ५ ॥
मार्कण्डेय उवाच—वृत्ते देवासुरे राजन्संग्रामे लोमहर्षणे ।
त्रयाणामपि लोकानामिंद्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥ ६ ॥
सम्यग्वर्षति पर्जन्ये सस्यसंपद उत्तमाः ।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ७ ॥
मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ॥ ८ ॥
ततस्तु मुदितो राजन्देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन्मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥
आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटाञ्जनपदांस्तथा ॥ १० ॥

महर्षि बक के दीर्घायु होने में कोई सन्देह नहीं है। इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर ने महर्षि के ये वाक्य सुनकर कहा-हे ऋषिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी ! मैंने सुना है कि बक और दाल्भ्य नाम के दो चिरजीवी ऋषि इन्द्र के सखा थे । त्रिभुवन में सब लोग उनका पूजन और सत्कार करते थे । आप सुख-दुःख की बातों से युक्त महर्षि बक और इन्द्र की मित्रता का समाचार कहिए ॥१।५॥

मार्कण्डेय ऋषि ने कहा–हे राजेन्द्र ! भयानक देवासुर-संग्राम समाप्त हो जाने पर इन्द्र तीनों लोकों के राजा हुए । तब इन्द्र के राज्य में मेघ अच्छी तरह जल बरसाने लगे, अन्न भी सर्वत्र अधिकता से उत्पन्न होने लगा । सब प्रजा नीरोग, हृष्टपुष्ट, प्रसन्न और अपने-अपने धर्म के पालन में तत्पर देख पड़ने लगी । अपनी प्रजा को सुखी जानकर इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई । वे ऐरावत हाथी पर चढ़कर अपनी प्रजा की दशा देखने के लिए घूमने लगे॥६।९॥

विविध विचित्र आश्रम, पवित्र नदी, समृद्धिशाली नगर, खेट (एक प्रकार के गाव) और जनपद, उदपान (जलाशय), ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों से सेवित सरोवर आदि की सैर करने और प्रजापालन

प्रजापालनदक्षांश्च नरेंद्रान्धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपावापीतडागानि सरांसि च ॥ ११ ॥
नानाब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ॥ १२ ॥
तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप ॥ १३ ॥
तत्राऽऽश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राऽऽश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ॥ १४ ॥
बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाऽभवत् ।
पाद्यासनार्घदानेन फलमूलैरथाऽर्चयत् ॥ १५ ॥
सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ॥ १६ ॥
शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन्किं दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १७ ॥
बक उवाच—अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विना भवः ।
असद्भिः संप्रयोगश्च तद्दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १८ ॥
पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।

में चतुर धर्मात्मा राजाओं के देखने के लिए इन्द्रदेव पृथ्वी पर आये। हे राजेन्द्र! यों विचरते हुए इन्द्र ने पूर्व दिशा में समुद्र के पास जाकर अनेक प्रकार के वृक्षों से शोभित और मृगों तथा पक्षियों से पूर्ण एक रमणीय आश्रम देखा। उस आश्रम में इन्द्र ने बक मुनि को देखा ॥१०।१४॥

महात्मा बक ने भी इन्द्र को देखकर, प्रसन्न हो पाद्य, अर्घ्य, आसन, फल-मूल, आदि से उनका सत्कार किया। वर देनेवाले इन्द्र ने आराम से बैठकर तपस्वी बक मुनि से कहा—हे मुनिवर! आपकी आयु लाखों वर्ष की हुई है। इसलिए आप यह बताइए कि चिरजीवी लोगों को क्या क्या दुःख सहने पड़ते हैं ॥१५।१७॥

बक ने कहा—हे इन्द्र! चिरजीवन होने में दुष्ट लोगों के साथ रहना और उनसे व्यवहार करना पड़ता है, प्रिय लोगों का वियोग होता है। पुत्र, स्त्री, सजातीय और मित्रों का मरना देखकर शोक से व्याकुल होना पड़ता है। दूसरों के अधीन होना पड़ता है। इसलिए इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? लोग निर्धन चिरजीवी पुरुष का

परेष्वायत्तता कृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः ॥ १९ ॥
नाऽन्यद्दुःखतरं किंचिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः संपरिभूयते ॥ २० ॥
अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यंति चिरजीविनः ॥ २१ ॥
अपि प्रत्यक्षमेवैतत्तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥
देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवंति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥
कुले जाताश्च क्लिश्यंते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राऽवमताः किं नु दुःखतरं ततः ॥ २४ ॥
लोके वैधर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च दृश्यंते क्लिश्यंते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।
इन्द्र उवाच—पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ॥ २६ ॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।
बक उवाच—अष्टमे द्वादशे वाऽपि शाकं यः पचते गृहे ॥ २७ ॥

तिरस्कार सहज ही कर बैठते है । इसलिए चिरजीवी से बढ़कर दुःख मेरी समझ में है ही नहीं। कुलहीन लोग कुलीन बन जाते हैं, कुलीन लोग नीच हो जाते हैं, इन बातों को, और लोगों के सयोग तथा वियोग को चिरजीवी लोग देखते है । ये बातें देखकर चिरजीवी को अत्यन्त क्लेश होता है ॥१८।२१॥

हे देव ! यह तो आप प्रत्यक्ष देखते ही है कि कुलहीन होने पर भी धनी लोग कैसे कुलीन बन बैठते हैं । देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और राक्षस आदि सब विपरीत भावों को धारण करते है । इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी ? सत्कुल में उत्पन्न पुरुष नीच कुलवालों के वश में होकर अत्यन्त क्लेश भोगते हैं और धनाढ्य लोग निर्धनों का अनादर करते हैं । इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा ? अज्ञानी पुरुष सुख पाते है और ज्ञानी बुद्धिमान् लोग दुःख भोगते है । इस लोक में मनुष्य-जन्म के बीच तरह-तरह के उलट-फेर देखे जाते हैं ॥२२।२५॥

इन्द्र ने कहा—हे महाभाग ! देवता और ऋषि भी आपकी पूजा करते हैं । अब मुझसे आप

कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।
यत्राऽहानि न गण्यंते नैनमाहुर्महाशनम् ॥ २८ ॥
अपि शाकंपचानस्य सुखं वै मघवन्गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कंचन ॥ २९ ॥
फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥ ३० ॥
सुमुष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।
श्ववत्कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥ ३१ ॥
धिगस्तु तस्य तद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।
यो दत्त्वाऽतिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥
शिष्टान्यन्नानि यो भुंक्ते किं वै सुखतरं ततः ।
अतो मृष्टतरं नाऽन्यत्पूतं किंचिच्छतक्रतो ॥ ३३ ॥
दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुंक्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यंधसः पिंडानश्नाति सततं द्विजः ॥ ३४ ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

यह कहिए कि चिरजीवी लोगों को कौन सा सुख मिलता है ? यक्ष ने कहा—हे देवराज ! जो कोई कुमित्रों का आश्रय छोड़कर अपने घर में दिन भर के बाद साग भी पकाकर खा लेता है वह बड़ा सुखी है । उसे कोई बहुत खानेवाला पेट्ट नहीं कहता ॥२६।२९॥

अपने पराक्रम से, किसी के आश्रित न होकर, फल और साग भी अपने घर में खाना अच्छा है; क्योंकि उसमें किसी के आगे दीनता नहीं दिखानी पड़ती । नित्य अनादर सहकर पराये घर में पकवान और मिठाई खाना भी अच्छा नहीं । साधु पुरुष इसी को अच्छा समझते हैं । जो दीन दुरात्मा कुत्ते की तरह पराया दिया अन्न खाने की इच्छा रखता है उसे और उसके उस खाने को धिक्कार है । जो कोई अतिथि, सेवक, पितर आदि को पहले देकर पीछे बचा हुआ अन्न खाता है वह द्विजों में श्रेष्ठ है । उसके इस सुख से बढ़कर दूसरा सुख ही नहीं है ॥३०।३२॥

हे इन्द्र ! अतिथि आदि के सत्कार से बचा हुआ अन्न बहुत पवित्र और उत्तम आहार है । अतिथि और ब्राह्मण लोग अन्न के जितने दाने खाते हैं उतने ही सहस्र गोदान का फल मिलने-

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् ।
यद्वारि वारिणा सिंचेत्तद्ध्येनस्तरते क्षणात् ॥ ३६ ॥
एताश्चाऽन्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः ।
बकेन सह देवेंद्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गतः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९३॥

वाले को मिलता है। उसके जवानी के किये सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जो कोई अपने घर आये हुए अभ्यागत या ब्राह्मण को भोजन कराकर दक्षिणा देता है और जल से हाथ धुलाता है वह उसी दम अपने सब पापों से छुटकारा पा जाता है। हे महाराज! ये और ऐसी-ऐसी बहुत सी बातें हो चुकने पर इन्द्र बक ऋषि से विदा होकर अपने लोक को चले गये ॥३३।३७॥

वनपर्व का एक सौ तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९३॥

अथ चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९४॥

वैशम्पायन उवाच— ततः पांडवाः पुनर्मार्कंडेयमूचुः ॥ १ ॥ कथितं ब्राह्मण महाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कंडेयो महर्षिः श्रूयतामिति इदानीं राजन्यानां महाभाग्यमिति । कुरूणामन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरं शिबिं ददर्शाऽभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वाऽन्योन्यस्य पंथानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत्किमिदं भवंतौ परस्परस्य पं-

एक सौ चौरानवे अध्याय ॥१९४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! पाण्डवों ने फिर महात्मा मार्कण्डेय से कहा—हे भगवन्! हम आपसे ब्राह्मणों के चरित्र सुन चुके; अब आप राजाओं के चरित्र का वर्णन कीजिए। मार्कण्डेय ऋषि ने कहा—अच्छा, अब मैं तुम्हारे आगे राजाओं की महिमा का वर्णन करता हूँ, सुनो। कुरुवंशी महाराज सुहोत्र एक समय महर्षियों के लोक में उनसे मिलने गये थे। वहाँ से लौटते समय राह में उनको उशीनर के पुत्र महाराज शिवि मिल गये। दोनों ने परस्पर एक दूसरे का सत्कार किया; किन्तु दोनों अपने को अवस्था और गुणों में समान मानकर रास्ते से दबने के लिए तैयार नहीं हुए। आमने-सामने रथ किये डटे रहे। कोई किसी को रास्ता देने के लिए उद्यत नहीं हुआ।

थानमावृत्य तिष्ठत इति ॥ २ ॥ तावूचतुर्नारदं नैतद्भगवन्पूर्वकर्मकर्त्रादिभिर्विशिष्टस्य पंथा उपदिश्यते समर्थाय वा आवां च सख्यं परस्परेणोपगतौ तच्चावधानतोऽत्युत्कृष्टमधरोत्तरं परिभ्रम्रम् । नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत् ॥ ३ ॥

क्रूरः कौरव्य मृदवे मृदुः क्रूरे च कौरव ।
साधुश्चाऽसाधवे साधुः साधवे नाऽऽप्नुयात्कथम् ॥ ४ ॥
कृतं शतगुणं कुर्यान्नास्ति देवेषु निर्णयः ।
औशीनरः साधुशीलो भवतो वै महीपतिः ॥ ५ ॥
जयेत्कदर्यं दानेन सत्येनाऽनृतंवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुना जयेत् ॥ ६ ॥

तदुभावेव भवंतावुदारौ य इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पतु एतद्वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पंथानं दत्त्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ॥ ७ ॥ तदेतद्राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान्नारदः ॥ ८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९४

इसी समय देवर्षि नारद विचरते हुए वहा पहुँच गये। नारद ने यह हाल देखकर उनसे पूछा—यह क्या ! तुम दोनों एक दूसरे की राह रोके हुए क्यों खड़े हो ॥ १।२॥

दोनों ने कहा—प्राचीन धर्मशास्त्र की व्यवस्था देनेवालों ने कहा है कि जो अपने मे किसी बात में विशेषता रखता हो या बली हो, उसी को दब कर राह दे देनी चाहिए। पर हम दोनों मित्र सब बातों में बराबर हैं। हमने विचारकर देखा है, हम में कुछ भी भेद नहीं है। हे धर्मराज ! तब नारद ने सुहोत्र से कहा—राजन् ! जब क्रूर के साथ कोमल प्रकृतिवाले की और असाधु के साथ साधु की मित्रता देखी जाती है, तब साधु के साथ साधु का सुहृद्भाव क्यों न होना चाहिए ! हे कौरव ! अपने साथ किये गये बर्ताव से सौगुना अच्छा व्यवहार करना चाहिए। देवता भी सदाचार का निर्णय नहीं कर सकते। मैं कहता हूँ कि तुम्हारी अपेक्षा महाराज शिवि का शील (चरित्र) अच्छा है। जो कोई कुछ देकर दुष्ट को, सत्य बोलकर असत्यवादी को, क्षमा करके क्रूर कर्म करनेवाले को और अच्छे व्यवहार से असाधु को अपने वश में कर लेता है वही साधु है। हे नरेश ! तुम दोनों का स्वभाव उदार है। तुम दोनों में से एक को हटाकर राह छोड़ देनी चाहिए। हे कौरव ! तुममें

से जो श्रेष्ठ हो वह दूसरे को राह दे दे; यही श्रेष्ठता और विशेषता का चिह्न है। बस, नारदजी चुप हो गये। तब कुरुवंशी सुहोत्र ने शिवि की प्रदक्षिणा की और आप हटकर उनको राह दे दी। दोनों राजा एक दूसरे का सम्मान करके अपने-अपने स्थान को गये। हे महाराज! देवर्षि नारद ने इस प्रकार राजा शिवि की महिमा का वर्णन किया है ॥३।८॥

—o—

वनपर्व का एक सौ चौरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९४॥

अथ पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९५॥

मार्कण्डेय उवाच—इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसांचक्रे। गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याऽब्रवीद्भो राजन्गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति राजोवाच ॥ १ ॥ ब्रवीतु भगवान्समयमिति ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच—विद्वेषणं परमं जीवलोके कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः ।
तं त्वां पृच्छामि कथं तु राजन्दद्याद्भवान्दयितं च मेऽद्य ॥ ३ ॥

राजोवाच—न चाऽनुकीर्तयेदद्य दत्वा अयाच्यमर्थं न च संश्रृणोमि ।
प्राप्यमर्थं च संश्रुत्य तं चापि दत्वा सुसुखी भवामि ॥ ४ ॥
ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः ।
न मे मनः कुप्यति याचमाने दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ॥ ५ ॥
इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरिते पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः१९५

मार्कण्डेय कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! अब नहुष के पुत्र राजा ययाति का वृत्तान्त सुनो। राजा ययाति एक समय राजसभा में बैठे थे और सब पुरवासी भी वहाँ पर थे। इसी समय गुरुदाक्षिणा देने के लिए धन माँगने को एक ब्राह्मण उनके पास आया। राजा ने उससे पूछा—हे भगवन्! आपकी प्रतिज्ञा अर्थात् इच्छा क्या है? ब्राह्मण ने कहा—महाराज! संसार में सभी लोग याचक को द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए मैं आपसे पहले यह पूछता हूँ कि आप मेरी इच्छा के अनुसार धन देने के लिए प्रसन्न होंगे? राजा ने कहा—दान के योग्य याचक को द्वेष की दृष्टि से देखने की कौन कहे, मैं दान करके फिर किसी से उसकी चर्चा तक नहीं करता। किन्तु याचना न करनेवाले को मैं देना भी पसन्द नहीं करता। हे भगवन्! दान के योग्य सुपात्र व्यक्ति यदि याचना करने आता है तो मैं उसे अपना सर्वस्व देने से भी नहीं हिचकिचाता उसमें मुझे अनुचित नहीं प्रतीत होता, बल्कि परम सुख होता है। याचना करने वाला ब्राह्मण मुझे बहुत प्रिय है। याचना करनेवाले पर मैं कभी कोप

नहीं करता और दिये हुए धन के लिए पीछे पछतावा भी नहीं करता। इसलिए मैं आपको एक हज़ार श्रेष्ठ गायें देता हूँ। राजा ने इतना कहकर उस ब्राह्मण को एक हज़ार उत्तम गायें दे दीं। वह ब्राह्मण भी उनको लेकर प्रसन्न होता हुआ चला गया ॥१।६॥

—०—

वनपर्व का एक सौ पचानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९५॥

अथ षण्णवत्यधिकशततोऽध्यायः ॥१९६॥

वैशम्पायन उवाच–भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत्पाण्डवः ॥ १ ॥
अथाऽऽचष्ट मार्कंडेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीति-
मार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥ २ ॥ सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपां-
शु व्रतमभ्यजानात्कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ॥ ३ ॥ अथ तं सेदुकं ब्राह्म-
णः कश्चिद्वेदाध्ययनसंपन्न आशिषं दत्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥ ४ ॥
अश्वसहस्रं मे भवान्ददात्विति । तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ ५ ॥
नास्ति संभवो गुर्वर्थं दातुमिति ॥ ६ ॥ स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशम्।
राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व स ते दास्यति तस्यैतदुपांशुव्रत-
मिति ॥ ७ ॥ अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत् ।
स राजा तं कशेनाऽताडयत् ॥ ८ ॥ तं ब्राह्मणोऽब्रवीत्किं हिंस्यनागसं
मामिति ॥ ९ ॥ एवमुक्त्वा तं शपंतं राजाऽऽह विप्र किं यो न ददाति

एक सौ छियानवे अध्याय ॥१९६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! फिर राजा युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से कहा—हे महाभाग! आप कृपा करके और भी राजाओं के चरित्र का वर्णन कीजिए। मार्कण्डेय ने कहा—हे राजेन्द्र! अस्त्र-शस्त्र-विशारद नीतिज्ञ सेदुक और वृषदर्भ नाम के दो राजा थे। वृषदर्भ बचपन से ही उपांशुव्रतधारी थे, अर्थात् गुप्तदान किया करते थे। उनका यह भी नियम था कि सुवर्ण-चाँदी के सिवा और कुछ नहीं देते थे। यह बात सेदुक को मालूम थी। एक वेदपाठी तपस्वी ब्राह्मण ने सेदुक के पास जाकर, आशीर्वाद देकर, गुरुदक्षिणा देने के लिए उनसे एक हज़ार घोड़े मांगे। सेदुक ने कहा—मैं तुमको गुरुदक्षिणा के लिए कुछ भी नहीं दे सकता। तुम राजा वृषदर्भ के पास जाओ। वे बड़े ही धर्मात्मा हैं; तुम उनसे मांगो। वे अवश्य तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे। उनका यह उपांशुव्रत है ॥१।७॥

तब उस ब्राह्मण ने वृषदर्भ के पास जाकर हज़ार घोड़े मांगे। राजा वृषदर्भ ने ब्राह्मण को कोड़ों से पीटा। इस पर उस ब्राह्मण ने उनसे कहा—मैं निरपराध ब्राह्मण हूँ; मुझे क्यों मार रहे हो? यह कहकर जब वह ब्राह्मण शाप देने के लिए उद्यत हुआ तब राजा ने कहा—हे ब्राह्मण! जो कोई तुम्हें

तुभ्यमुताऽऽहोस्विद्ब्राह्मण्यमेतत् ॥ १० ॥ ब्राह्मण उवाच—राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितुमागतः। तेनाऽनुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ॥ ११ ॥ राजोवाच—पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति। यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ॥ १२ ॥ इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात्। अधिकस्याश्वसहस्रस्य मूल्यमेवाऽदादिति ॥ १३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिसेदुकवृषदर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९६

दान देने में असमर्थ हो, या अपना धन न दे, उसे शाप देना क्या ठीक है? क्या यह शान्तिप्रिय ब्राह्मण का धर्म है? ॥८।१०॥

ब्राह्मण ने कहा—हे राजाधिराज! राजा सेदुक ने मुझे आपके पास भिक्षा मांगने के लिए भेजा है। मैं उन्हीं के कहने से आपके पास भिक्षा मांगने आया हूँ।

राजा ने कहा—अच्छा, आज दोपहर तक जो धन मुझे राज्य से प्राप्त होगा वह सब मैं तुमको दे दूँगा। जिसे कोड़ों से मारा है उसकी प्रार्थना कैसे निष्फल जा सकती है? राजा ने उस दिन की सब आमदनी ब्राह्मण को दे दी। वह आमदनी हज़ार घोड़ों के मूल्य से भी अधिक थी ॥११।१३॥

वनपर्व का एक सौ छियानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९६ ॥

अथ सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९७॥

मार्कण्डेय उवाच—देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं शिविमौशीनरं साध्वेनं शिविं जिज्ञास्याम इति। एवं भो इत्युक्त्वा अग्नींद्रावुपतिष्ठेताम् ॥ १ ॥ अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषार्थमिंद्रःश्येनरूपेण ॥ २ ॥ अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्योत्संगं न्यपतत् ॥ ३ ॥ अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत्। प्राणरक्षार्थं

एक सौ सत्तानवे अध्याय ॥१९७॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—हे धर्मराज! अब दानी शिवि राजा का चरित्र सुनो। एक समय देवताओं में यह बातचीत हुई कि हमें पृथ्वी पर जाकर उशीनर के पुत्र महाराज शिवि की [साधुता और उदारता की] परीक्षा करनी चाहिए। अग्नि और इन्द्र शिवि की परीक्षा लेने के लिए तैयार हुए और पृथ्वी पर आये। अग्नि ने कबूतर का रूप रक्खा और इन्द्र ने बाज़ का। कबूतर भागता हुआ सभा में बढ़िया सिंहासन पर बैठे हुए राजा शिवि की गोद में जाकर गिर पड़ा। शिकारी बाज़ भी मांस के लिए उसका पीछा करता हुआ वहाँ पहुँचा। यह दृश्य देखकर पुरोहित ने राजा से

श्येनाद्भीतो भवंतं प्राणार्थी प्रपद्यते ॥ ४ ॥ वसु ददातु अंतवान्पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्याद्घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥ ५ ॥ अथ कपोतो राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं श्येनाद्भीतो भवंतं प्राणार्थी प्रपद्ये अंगेरंगानि प्राप्याऽर्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥ स्वाध्यायेन कर्शितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि । तपसा दमेन युक्तमाचार्यस्याऽप्रतिकूलभाषिणम् ॥ एवं युक्तमपापं मां विद्धि ॥ ७ ॥

गदामि वेदान्विचिनोमि च्छंदः सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः
न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं मा प्रादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि ॥८॥
अथ श्येनो राजानमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पर्यायेण वसतिर्वा भवेषु सर्गे जातः पूर्वमस्मात्कपोतात् ।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं मा त्वं राजन्विघ्नकर्ता भवेथाः ॥ १०॥
राजोवाच–केनेदृशी जातु परा हि दृष्टा वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता ।
यां वै कपोतो वदते यां च श्येन उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ॥ ११ ॥
नाऽस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले नाऽस्य बीजं रोहति काल उत्तम् ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे न त्राणं लभेत्त्राणमिच्छन्स काले ॥१२॥

कहा—राजेन्द्र ! यह कबूतर बाज़ के डर से जान बचाने के लिए आपकी शरण में आया है । किन्तु पण्डितों ने कहा है कि इस तरह कबूतर का आकर गिरना घोर अनिष्ट का कारण होता है । आप चक्रवर्ती राजा हैं इसलिए ब्राह्मणों को धन आदि देकर इस उत्पात की शान्ति कर डालिए ॥१।५॥

उधर कबूतर ने राजा से कहा—हे राजेन्द्र ! मैं बाज़ के डर से प्राण बचाने के लिए आपकी शरण में आया हूँ । मैं वास्तव में कबूतर नहीं, एक स्वाध्याय-निरत तपस्वी ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय पाप-रहित मुनि हूँ । मैंने कभी अपने गुरु के विरुद्ध कुछ नहीं कहा है । मुझे छन्द और वेदों का पूरा ज्ञान है । मैंने वेदों को पढ़ा है और मैं उनका पाठ करता हूँ । मैं श्रोत्रिय ब्राह्मण हूँ; मुझे आप बाज़ के मुँह में न दे दीजिएगा । आप मेरे प्राणों की रक्षा करनेवाले होने के कारण मेरे प्राणतुल्य हैं । जो आप मुझे बाज़ के मुँह में दे देंगे तो अच्छा न होगा । इस पर बाज़ ने राजा से कहा—राजन् ! यह जीव अनेक योनियों में घूमा करता है । जान पड़ता है, आप पहले इसी कबूतर से पैदा हुए होंगे; तभी तो इस कबूतर की रक्षा कर रहे हैं । किन्तु मैं आपसे कहता हूं कि मेरे आहार में विघ्न न डालिए ॥६ १०॥

राजा ने कहा—पक्षियों को ऐसा स्पष्ट मनुष्य-भाषा में बातचीत करते कभी किसी ने देखा-सुना न होगा । इस कबूतर और बाज़ की बातें सुनकर मैं बड़े असमञ्जस में पड़ गया हूं । क्या करूं, जिसमें

जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते सदा न वासं पितरोऽस्य कुर्वते ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे नाऽस्य देवाः प्रतिगृह्णंति हव्यम् ॥१३॥
मोघमन्नं विंदति चाऽप्रचेताः स्वर्गाल्लोकाद्भ्रश्यति शीघ्रमेव ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे सेंद्रा देवाः प्रहरंत्यस्य वज्रम् ॥ १४ ॥
उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन अस्मात्कपोतात्प्रति ते नयंतु ।
यस्मिन्देशे रमसेऽतीव श्येन तत्र मांसं शिबयस्ते वहंतु ॥ १५ ॥
श्येन उवाच—नोक्षाणो राजन्प्रार्थयेयं न चाऽन्यदस्मान्मांसमधिकं वा कपोतात् ।
देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्षस्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ॥ १६ ॥
राजोवाच—उक्षाणं वेहतमनूनं नयंतु ते पश्यंतु पुरुषा ममैव ।
भयाहितस्य दायं ममांतिकात्त्वां प्रत्याम्नायंतु त्वं ह्येनं मा हिंसीः ॥१७॥
त्यजे प्राणान्नैव दद्यां कपोतं सौम्यो ह्ययं किं न जानासि श्येन ।
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य नाऽहं कपोतमर्पयिष्ये कथंचित् ॥ १८ ॥
यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः प्रशंसेयुः शिबयः कर्मणा तु ।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां प्रशाधि मां यद्वदेस्तत्करोमि ॥ १९ ॥

में अच्छाई और धर्म हो। शास्त्रों में लिखा है कि जो डरे हुए और शरणागत की रक्षा न करके उसे उसके शत्रु के हवाले कर देता है उसके राज्य में समय पर वर्षा नहीं होती और समय पर बोया हुआ बीज नहीं उगता। विपत्ति पड़ने पर उसे कहीं आश्रय नहीं मिलता। उसकी प्रजा नाटी और अल्पायु होती है। उसके पितर स्वर्ग में नहीं रहने पाते। देवता उसका दिया हुआ हव्य नहीं ग्रहण करते। वह ओछे विचार और दुर्बल हृदयवाला पुरुष तुरन्त स्वर्गलोक से भ्रष्ट हो जाता है। देवगणसहित इन्द्र उसको वज्र मारते हैं। उसका खाना-पीना सब निष्फल है। इसलिए हे श्येन! तुम इस कबूतर को छोड़ दो। मैं इसके बदले में तुमको भात और बैल का मास पकवाकर दूँगा। जहाँ रहना तुमको पसन्द हो वहाँ जाकर तुम रहो; वहाँ मेरी आज्ञा से शिबिवंश के लोग तुम्हारे भोजन के लिए मांस पहुँचावेंगे। बाज ने कहा—हे राजेन्द्र! मैं इस कबूतर के सिवा बैल आदि किसी का मांस नहीं खाना चाहता। देवताओं ने खाने के लिए आज मुझे यह कबूतर ही दिया है। यही मेरा आहार है। इसी को मैं लूँगा; आप मुझे यही दे दीजिए ॥११।१६॥

राजा ने कहा—हे बाज़! मैं अपने सब मनुष्यों के सामने तुमको खाने के लिए समूचा बैल या बाँझ गाय देता हूँ। तुम इस डरे हुए शरणागत कबूतर को मत मारो। मैं अपने प्राण चाहे दे दूँ; पर इस शरणागत कबूतर को नहीं छोड़ सकता। तुम इसके लिए वृथा क्लेश न करो; मैं इसे तुम्हारे हाथ में न सौंपूँगा। देखो, जो काम करने से मेरी

श्येन उवाच—ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद्राजन्यावन्मांसं कपोतेन समम्। तथा तस्मात्साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिवयः कृतं च प्रियं स्यान्ममेति ॥ २० ॥ अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलयाऽधारयत्। गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २१ ॥ पुनरन्यमुच्चकर्त गुरुतर एव कपोतः। एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास तत्तथापि गुरुत एव कपोत आसीत् ॥ २२ ॥ अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह। न च व्यलीकमासीद्राज्ञ एतद्वृत्तांतं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनः अथ राजा अब्रवीत् ॥ २३ ॥

कपोतं विद्युः शिवयस्त्वां कपोत पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः।
नाऽनीश्वर ईदृशं जातु कुर्यादेतं प्रश्नं भगवन्मे विचक्ष्व ॥ २४ ॥

कपोत उवाच—वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतुरथैव श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः
साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेय नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ ॥ २५ ॥
यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय प्रादाद्भवानासिनोत्कृत्य राजन्।
एतद्वो लक्ष्म शिवं करोमि हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ॥ २६ ॥

प्रजा प्रसन्न होकर अच्छा-अच्छा कहे और तुम्हारा भी प्रिय हो, वह काम करने के लिए मुझसे कहो; मैं अवश्य उसे करूँगा ॥१७।१९॥

इस पर बाज ने कहा—हे राजेन्द्र! अच्छा तो आप अपनी दाहनी जाँघ से इस कबूतर के बराबर तुला हुआ मास, अपने हाथ से, काटकर मुझे खाने के लिए दीजिए। ऐसा करने से मेरा प्रिय कार्य होगा, शरणागत कबूतर की जान बचेगी और पुरवासी भी आपकी प्रशसा करेंगे ॥२०॥

तब महाराज शिवि ने तराजू मँगाकर एक ओर कबूतर को बिठाया और दूसरी ओर अपनी दाहनी जाघ से मास काटकर रक्खा; पर वह उतना मास कबूतर के बराबर न हुआ। राजा ने फिर मास काटकर रक्खा, तब भी कबूतर का पल्ला भारी रहा। इसी तरह शिवि ने सारे शरीर का मास काट-काटकर चढ़ा दिया; किन्तु वह तौलमें कबूतर के बराबर न हुआ। अन्त को राजा स्वयं तराजू पर बैठ गये। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक अपना शरीर भी शरणागत की रक्षा के लिए दे दिया, यह देखकर वह श्येन "राजा के लिए असाध्य कुछ नहीं है" और "कबूतर की रक्षा होगई" कहता हुआ वहीं अन्तर्धान होगया। बाज़ के अन्तर्धान हो जाने पर राजा ने कहा—हे कबूतर! ये पुरवासी तुमको कबूतर ही जानते हैं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि यह बाज कौन था? यह कोई असाधारण जीव जान पड़ता है, क्योंकि जो असमर्थ है वह ऐसा काम नहीं कर सकता ॥२१।२४॥

कबूतर ने कहा—हे राजेन्द्र! मैं तो अग्नि हूँ; और बाज़ का रूप रक्खे हुए साक्षात् इन्द्र थे।

एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी सुरर्षीणामथ संमतो भृशम् ।
एतस्मात्पार्श्वात्पुरुषो जनिष्यति कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ २७ ॥
कपोतरोमाणं शिबिनोद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यसि नृप वृषसंहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टाऽसि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥ २८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९७॥

हम दोनों तुम्हारी परीक्षा लेने आये थे। सो हमने तुमको अपने धर्म में दृढ़ पाया। तुमने मेरी रक्षा के लिए खड्ग से जो अपनी जाँघ का मांस काटकर दिया है वह मेरे वरदान से तुम राजाओं का सुवर्णवर्ण, अत्यन्त पवित्र, सुगन्धयुक्त राजाचिह्न होगा। हे राजेन्द्र! तुम्हारे इस दक्षिण पार्श्व से प्रजापालक, यशस्वी, देवताओं के आदर का पात्र एक पुत्र होगा। उसका नाम कपोतरोमा होगा। हे शिबि! तुम्हारे शिथिल शरीर से प्रकट होनेवाला वह पुत्र तुम्हारे कुल में प्रधान, शूर और यशस्वी होगा। वह महाबली पराक्रमी पुत्र तुम्हारे आनन्द को बढ़ावेगा। यह कहकर अग्निदेव भी अन्तर्द्धान हो गये ॥२५।२८॥

— ० —

वनपर्व का एक सौ सत्तानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९७॥

अथ अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९८॥

वैशम्पायन उवाच—भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत्पांडवो मार्कंडेयम् ।
अथाचष्ट मार्कंडेयः। अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् ॥ १॥
भ्रातरश्चाऽस्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनर इति स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात्ते च नारदमागच्छंतमभिवाद्याऽऽरोहतु भगवान्रथमित्यब्रुवन् ॥ २ ॥ तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह। अथ तेषामेकः सुरर्षिं नारदमब्रवीत्। प्रसाद्य भगवंतं किंचिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥ ३ ॥

एक सौ अट्ठानवे अध्याय ॥ १९८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महाराज युधिष्ठिर ने फिर राजाओं के माहात्म्य का वर्णन करने के लिए कहा तब मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे धर्मराज! सुनो। विश्वामित्र के पुत्र अष्टक के अश्वमेघ यज्ञ में सब राजा और प्रतर्दन, वसुमना औशीनर शिबि नाम के उनके तीनों भाई आये थे। यज्ञ समाप्त होने पर एक दिन महाराज अष्टक अपने तीनों भाइयों के साथ रथ पर सवार होकर स्वर्ग को जा रहे थे। इसी समय रास्ते में उन्हें देवर्षि नारद मिले। उन्होंने नारदजी को प्रणाम करके उनसे रथ पर सवार होने के लिए प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना मान करके नारदजी रथ पर बैठ गये। तब उनमें से एक ने कहा-हेनारदजी! हम आप से कुछ पूछना चाहते हैं। नारद ने कहा—पूछो ॥१।३॥

पृच्छेत्यब्रवीदृषिः । सोऽब्रवीदायुष्मंतः सर्वगुणप्रमुदिताः । अथाऽऽयुष्मंतं स्वर्गस्थानं चतुर्भिर्यातव्यं स्यात्कोऽवतरेत् । अयमष्टकोऽवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ४ ॥ किंकारणमित्यपृच्छत् । अथाऽऽचष्टाऽष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनाऽनुप्रावहद्थापश्यमनेकानि गोसहस्राणि वर्णशो विविक्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीत् । मया निसृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन । एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं सांप्रतं कोऽवतरेत् ॥ ५ ॥ प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः । तत्र किं कारणं । प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितं स मां रथेनाऽनुप्रावहत् ॥ ६ ॥ अथैनं ब्राह्मणोऽभिक्षेताऽश्वं मे ददातु भवान्निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद्ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद्ब्राह्मणस्त्वरितमेव स ब्राह्मणस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत् ॥७॥ अथाऽन्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रायात्पुनरपि चाऽन्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत्त्वरितोऽथ तस्मै अपनह्य वामं धुर्यमददत् ॥ ८ ॥ अथ प्रायात्पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदातियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयतामित्यब्रवीद्ब्राह्मणस्तस्मै दत्वाऽश्वं रथधुरं गृह्णता व्याहृतं ब्राह्मणानां सांप्रतं नास्ति किंचिदिति ॥ ९ ॥ य

तब उनमें से एक ने कहा—हम सब अक्षय स्वर्ग को जायँगे। कृपा करके बताइए, हम चारों में से कौन पहले स्वर्ग से पृथ्वी पर आवेगा? नारद ने कहा—अष्टक आवेंगे। तब उन्होंने पूछा—अष्टक क्यों सबसे पहले स्वर्ग से भ्रष्ट होंगे? नारद ने कहा—मैं एक दिन अष्टक के यहां अतिथि होकर रहा था। ये दूसरे दिन मुझे रथ पर बिठाकर जा रहे थे। मैंने मार्ग में रङ्ग-बिरङ्गी कई हजार गायों को चरते देखा। तब मैंने इनसे पूछा—ये गायें किसकी हैं? इन्होंने कहा—मैंने ही देवलोक पाने के लिए ये गायें ब्राह्मणों को दी हैं। इस प्रकार अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करने के कारण अष्टक को पहले स्वर्ग से भ्रष्ट होना होगा। अब फिर उन लोगों ने नारद से कहा—हम तीन मनुष्य स्वर्गलोक को जायँगे तो हम तीनों में से पहले कौन पृथ्वी पर आवेगा? ॥४।५॥

नारद ने कहा—प्रतर्दन को पहले आना पड़ेगा। इस पर फिर उनमें से एक ने पूछा—प्रतर्दन के पहले स्वर्ग से भ्रष्ट होने का क्या कारण है? नारद ने कहा—मैं एक दिन प्रतर्दन के घर में भी रहा था। दूसरे दिन ये मुझे रथ पर बिठाकर ले चले। इसी समय मार्ग में एक ब्राह्मण ने

एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथाऽवतरेत् । अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति कोऽवतरेत् ॥ १० ॥ वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ११ ॥ किं कारणमित्यपृच्छदथाऽऽचष्ट नारदः । अहं परिभ्रमन्वसुमनसो गृहमुपस्थितः ॥ १२ ॥ स्वस्तिवाचनमासीत्पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमहमन्वगच्छं स्वस्ति वाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः ॥ १३ ॥ तमहं रथं प्राशंसमथ राजाऽब्रवीद्भगवता रथः प्रशस्तः । एष भगवतो भगवतो रथ इति ॥ १४ ॥ अथ कदाचित्पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च रथप्रयोजनमासीत् । सम्यगयमेष भगवन् इत्येवं राजाऽब्रवीदिति पुनरेव च तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन्मामभिप्रेक्ष्याऽब्रवीत् । अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु संभावितानि एतेन द्रोहवचनेनाऽवतरेत् ॥ १५ ॥ अथैकेन यात-

इनसे आकर कहा—एक घोड़ा मुझे दीजिए। इन्होंने उससे कहा—लौटकर दूंगा। उस ब्राह्मण ने कहा—नहीं, अभी दीजिए। तब इन्होंने रथ की दाहिनी ओर का घोड़ा खोलकर उसे दे दिया। इतने में, और एक ब्राह्मण ने आकर इनसे घोड़ा मांगा। इन्होंने उसको भी वही उत्तर दिया। फिर उसके भी उसी समय शीघ्र मांगने पर इन्होंने बाईं ओर का घोड़ा उसे दे दिया। फिर और एक ब्राह्मण ने आकर इनसे घोड़ा मांगा। इन्होंने लौटकर देने के लिए कहा। उसने कहा—नहीं, इसी समय दीजिए। तब इन्होंने तीसरा घोड़ा खोलकर दे दिया। उसके पश्चात् और एक ब्राह्मण ने आकर घोड़ा मांगा। इन्होंने उससे भी पहले लौटकर देने के लिए कहा। उस ब्राह्मण ने कहा-नहीं, अभी दे दीजिए। तब इन्होंने चौथा घोड़ा भी खोलकर उसे दे दिया। उसके पश्चात् ये रथ का धुरा पकड़कर आप रथ को ले चले और ब्राह्मणों से कहने लगे—अब मेरे पास कुछ नहीं रहा; मैंने सब दे डाला। नारद कहते हैं—जो कोई दान तो देता है, पर प्रसन्नता से नहीं देता, वह कभी स्वर्ग पाने का अधिकारी नहीं होता। इसके पश्चात् बचे हुए दो भाइयों में से एक ने पूछा—हे नारदजी! हम दो भाई स्वर्ग धाम को जायँगे तो हममें से कौन पहले पृथ्वी पर आवेगा ॥६।१०॥

नारद ने कहा—वसुमना आवेंगे। उनमें से एक ने पूछा—वसुमना पहले पृथ्वी पर क्यों आवेंगे? नारद ने कहा—मैं एक समय घूमता हुआ वसुमना के घर गया था। उस समय राजा के सामने एक रथ मौजूद था। वह रथ पर्वत, आकाश, समुद्र आदि दुर्गम स्थानों में भी जा सकता था। ब्राह्मण लोग स्वस्तिपाठ कर रहे थे। मुझे भी ऐसे रथ की आवश्यकता थी। वह रथ ब्राह्मणों को दिखाया गया। मैंने भी उस रथ को देखकर उसकी प्रशंसा की। राजा ने मेरी की हुई प्रशंसा का अनुमोदन करते

व्यं स्यात्कोऽवतरेत्पुनर्नारद आह । शिविर्यायादहमवतरेयं अत्र किं कारणमित्यब्रवीत् असावहं शिविना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः कश्चिदेनमब्रवीत् ॥ १६ ॥ शिवे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिविः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानिति ॥ १७ ॥ अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीद्य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमातव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति । ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणममृगयत् ॥ १८ ॥ अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति ॥१९॥ अथ शिविस्तथैवाऽविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत्सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद्व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चाऽऽसीत् ॥ २० ॥ ततः प्रासादयद्ब्राह्मणं भगवन्भुज्यतामिति ।

हुए कहा—आपने रथ की प्रशंसा की सो ठीक ही है, यह रथ आपका ही है । इतना कहकर भी राजा ने वह रथ मुझे दिया नहीं । मैं फिर एक समय वैसे ही पुष्परथ (पर्वत आदि दुर्गम स्थानों में जा सकनेवाले) की आवश्यकता से इनके यहां गया । उस समय भी मैने रथ की प्रशंसा की । राजा ने "यह आपका ही रथ है" कहकर मुझे टाल दिया, वह रथ नहीं दिया । तीसरी बेर मैं फिर पुष्परथ की आवश्यकता से वसुमना के घर गया । उस समय भी स्वस्तिवाचन हो रहा था । मैंने फिर उस रथ की प्रशंसा की । तब इन्होंने मेरी ओर देखकर उन ब्राह्मणों के सामने मुझसे कहा—हे भगवन् ! आपने अपने आगमन से पुष्परथ के स्वस्त्ययन को सुसम्पन्न करके बड़ी कृपा की । इस प्रकार केवल स्तुति करके रथ न देने के कारण ये पहले स्वर्ग से भ्रष्ट होंगे ॥११।१५॥

तब उन चार भाइयों ने कहा—यदि हममें से एक भाई (शिवि) और आप स्वर्ग को जायँगे तो पृथ्वी पर कौन पहले आवेगा ? नारद ने कहा—मैं आऊँगा । इस पर उन्होंने इसका कारण पूछा । नारद ने कहा—मैं किसी तरह शिवि के समान नहीं हूँ । इसका कारण सुनो । एक समय किसी ब्राह्मण ने महाराज शिवि के पास आकर कहा—हे राजेन्द्र ! मैं भूखा हूँ । शिवि ने कहा—आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूँ ? उस ब्राह्मण ने कहा—आपके बृहद्गर्भ नाम का जो राजकुमार है उसे मारकर उसका मांस पकाकर, मुझे खिलाइए तो मैं ठहरूँ । राजा ने ब्राह्मण की इच्छा पूर्ण करना स्वीकार कर लिया । पुत्र को मारकर राजा ने उसका मांस पकाया और उसे बर्तन में रखकर वे अपने सिर पर लिये हुए उस ब्राह्मण के पास गये । ब्राह्मण को उस स्थान पर न पाकर राजा इधर उधर उसे खोजने

मुहूर्तादुद्वीक्ष्य शिबिमब्रवीत् ॥ २१ ॥ त्वमेवैतदशानेति तत्राऽह तथेति शिबिस्तथैवाऽविमना महित्वा कपालमभ्युद्धार्य भोक्तुमैच्छत् ॥ २२ ॥ अथाऽस्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात् । अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किंचिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं सभाजयत् ॥ २३ ॥ स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यदग्रे तिष्ठंतं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलंकृतं सर्वं च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोन्तरधीयत ॥ २४ ॥ तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव वेषेण परीक्षार्थमागत इति । तस्मिन्नंतर्हिते अमात्या राजानमूचुः । किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति ॥२५॥

शिबिरुवाच–नैवाऽहमेतद्यशसे ददानि न चाऽर्थहेतोर्न च भोगतृष्णया।
पापैरनासेवित एष मार्ग इत्येवमेतत्सकलं करोमि ॥ २६ ॥
सद्भिः सदाऽध्यासितं तु प्रशस्तं तस्मात्प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे ।
एतन्महाभाग्यवरं शिबेस्तु तस्मादहं वेद यथावदेतत् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्ये शिबिचरिते अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९८॥

लगे। इसी समय एक मनुष्य ने आकर कहा—हे राजेन्द्र! आप जिस ब्राह्मण को ढूँढ़ रहे हैं वह, देर होने से बहुत क्रोधित होकर नगर के भीतर जाकर आपके घर, कोषागार, शस्त्रशाला, रनिवास, घुड़साल, हस्तिशाला आदि सब स्थानों में अग्नि लगा रहा है। वह असन्तोषजनक समाचार सुनकर भी न तो राजा के मुख पर कुछ विकार देख पड़ा और न ही उनके हृदय में किसी तरह का विकार ही उत्पन्न हुआ ॥१६।१९॥

राजा ने नगर में जा करके ब्राह्मण को देखकर कहा—हे भगवन्! आपके लिए भोजन तैयार है, लीजिये। राजा की ओर देखकर ब्राह्मण से कुछ कहते न बन पड़ा; आश्चर्य के मारे उसने सिर झुका लिया। यह देखकर राजा बारम्बार उस ब्राह्मण से भोजन करने के लिए प्रार्थना करने लगे। कुछ देर के पश्चात् ब्राह्मण ने ऊपर आँख उठाकर देखा और शिबि से कहा—तुम्हीं इसे खाओ। शिबि ने तनिक भी उदास या क्रुद्ध न होकर ब्राह्मण की आज्ञा मान ली। बालक के सिर की हड्डी हटाकर ज्योंही राजा ने खाना चाहा त्योंही उस ब्राह्मण ने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—हे महाभाग! निस्सन्देह तुमने क्रोध को जीत लिया है। ऐसा कोई काम नहीं जिसे तुम ब्राह्मण के लिए नहीं कर सकते, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो तुम ब्राह्मण को नहीं दे सकते ॥२०।२३॥

उस ब्राह्मण ने राजा का बड़ा सत्कार किया। इसके पश्चात् शिबि ने सामने देखा तो उन्हें पुण्य-गन्धयुक्त, बढ़िया गहने और वस्त्रों आदि से शोभित

वहीं बालक खड़ा देख पड़ा, जिसे वे ब्राह्मण के लिए मार चुके थे। इस प्रकार राजा को कृतार्थ करके वह ब्राह्मण वहीं अन्तर्द्धान हो गया। स्वयं विधाता, ब्राह्मण का रूप रखकर, राजा के धैर्य और धर्म की परीक्षा लेने आये थे। ब्राह्मण के चले जाने पर मन्त्रियों ने राजा से कहा—हे राजेन्द्र! आप सब बातों को अच्छी तरह जानते हैं; फिर आपने यह काम क्या समझकर किया था? राजा ने कहा—मैंने यश के लिए, अर्थ के लिए या भोग की इच्छा से यह दान नहीं किया। यह मार्ग ऐसा है कि धर्मात्मा पुरुष के सिवा पापी इसमें पाव ही नहीं रख सकते। इसी लिए मैं ऐसे काम करता हूँ। सज्जन लोग सदा प्रशंसनीय काम किया करते हैं। इसी से सदा मेरी प्रवृत्ति प्रशंसनीय सत्कार्यों में ही होती है। नारदजी ने कहा कि महाराज! शिवि की इस महिमा को अच्छी तरह जानकर ही मैं कहता हूँ कि ये मुझसे भी श्रेष्ठ हैं* ॥२४१२७॥

—०—

वनपर्व का एक सौ अट्ठानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९८॥

अथ ऊनशताधिकशततमोऽध्यायः ॥१९९॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयमृषयः पांडवाः पर्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद्भवतश्चिरजाततर इति ॥ १ ॥ स तानुवाचाऽस्ति खलु राजर्षिरिंद्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात्प्रच्युतः कीर्तिर्मे व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ॥ २ ॥ तमहमब्रुवं कार्यचेष्टाकुलत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासिनो न प्रत्यभिजानीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनाऽत्मनः समारभामोऽर्थानामनुष्ठानम् ॥ ३ ॥ अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः

एक सौ निनानवे अध्याय ॥१९९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! मार्कण्डेय जी से पाण्डवों ने और ऋषियों ने पूछा—भगवन्! आपसे बढ़कर चिरजीवी कोई और है या नहीं? मार्कण्डेय ने कहा—हाँ, एक इन्द्रद्युम्न नाम के राजर्षि थे। वे पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से भ्रष्ट होकर मेरे पास आये। उन्होंने मुझसे कहा—हे महाभाग! इस समय मेरी सब कीर्ति लुप्त हो गई है। भला आप मुझको जानते हैं? मैंने उनसे कहा—मैं आपको नहीं जानता। हम लोग घूमते-घामते रहते हैं; ग्रामों में एक रात्रि भर रहते हैं। लगातार तीर्थ-क्षेत्रों में घूमा करते हैं। पुण्यकार्यों में उलझे रहने के कारण हम लोग अपने ही सङ्कल्पों को भूल जाते हैं यदि दैवयोग से स्मरण भी हुआ तो व्रत-उपवास आदि से होनेवाले शारीरिक क्लेश के कारण उन

* इस अध्याय में दान के गुण दोष दिखाये गये हैं। दकर अपनी प्रशंसा करनेवाला, श्रद्धा के साथ न देनेवाला, मांगनेवाले की इच्छा जानकर भी कोरी बातों में याचक को टरका देनेवाला और श्रद्धा-क्षमा के साथ अकर्त्तव्य करके भी ब्राह्मण को उसकी माँगी वस्तु देनेवाला, दान के ये चार भेद दिखाये हैं। इनमें पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है। अन्तिम प्रकार का दाता नारदजी से भी बढ़कर श्रेष्ठ है।

प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजातो भवंतं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाऽध्वनि हिमवांस्तत्राऽसौ प्रतिवसतीति ॥ ४ ॥ ततः स मामश्वो भूत्वा तत्राऽवहद्यत्र बभूवोलूकः । अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ॥ ५ ॥ स मुहूर्तमिव ध्यात्वाऽब्रवीदेनं नाऽभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इंद्रद्युम्नः पुनस्तमुलूकमब्रवीद्राजर्षिः ॥ ६ ॥ अथास्ति कश्चिद्भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विंद्रद्युम्न नाम सरस्तस्मिन्नाडीजंघो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इंद्रद्युम्नो मां चोलूकमादाय तत्सरोऽगच्छद्यत्राऽसौ नाडीजंघो नाम बको बभूव ॥ ७ ॥ सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति स एवं मुहूर्तं ध्यात्वाऽब्रवीन्नाऽभिजानाम्यहमिंद्रद्युम्नं राजानमिति । ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद्भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजाततरः स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥ ८ ॥ ततः

सङ्कल्पों का आरम्भ भी नहीं कर सकते । फिर आपको कैसे पहचान सकते हैं ? मेरे यों कहने पर इन्द्रद्युम्न ने पूछा—हे महाभाग ! आपसे बढ़कर और कोई चिरजीवी है या नहीं ? मैंने कहा—हाँ, हिमाचल पर्वत पर प्रावारकर्ण नाम का एक उलूक पक्षी है, वह मुझसे भी पुराना है । शायद वह आपको पहचान ले। आप चाहें तो उसके पास जा सकते हैं परन्तु हिमाचल यहाँ से बहुत दूर है॥१।४॥

मेरे यों कहने पर इन्द्रद्युम्न ने घोड़े का रूप रखकर मुझे अपनी पीठ पर चढ़ा लिया । अब मुझे लिये हुए इन्द्रद्युम्न उस उलूक के पास पहुंचे । वहां पहुँचकर उन राजर्षि ने उलूक से पूछा—तुम मुझको जानते हो ? उलूक ने पलभर सोचकर कहा—हे महाशय ! मैं आपको नहीं पहचानता। तब इन्द्रद्युम्न ने उससे पूछा—उलूक ! तुमसे भी बढ़कर दीर्घजीवी कोई और है ? उलूक ने कहा—हां, इन्द्रद्युम्न नामक सरोवर में नाडीजंघ नाम का एक बगला है । वह बगला मुझसे भी पुराना है । उससे जाकर पूछो । तब राजा इन्द्रद्युम्न मुझको और उलूक को लेकर उस बगले के पास गये ॥५।७॥

इन्द्रद्युम्न सरोवर में जाकर हमने उस बगले से पूछा—हे बक ! तुम राजा इन्द्रद्युम्न को जानते हो ? उसने दमभर सोचकर कहा—मैं राजा इन्द्रद्युम्न को नहीं जानता । तब हमने उससे पूछा—अच्छा बताओ, तुमसे बढ़कर प्राचीन और कोई है या नहीं ? उस बगले ने कहा—हां इसी सरोवर में अकूपार नाम का एक कछुवा रहता है, वह मुझसे भी दीर्घजीवी है । उससे पूछो । सम्भव है, वह इन्द्रद्युम्न

स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास । अस्माकमभिप्रेतं भवंतं किंचिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात्सरस उत्थायाऽभ्यगच्छद्यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ॥ ९ ॥ स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पसंपूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्रांजलिरब्रवीत्किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ॥ १० ॥ सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः कृतम् । अत्र चाऽहं प्रतिवसामीति ॥ ११ ॥ अथैतत्सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनंतरं देवलोकाद्देवरथः प्रादुरासीद्वाचश्चाऽश्रूयंतेंद्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ॥ १२ ॥ भवंति चाऽत्र श्लोकाः—

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥
अकीर्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित् ।
स पतत्यधमांल्लोकान्यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥

को जानता है ॥८॥

अब वह बगला हम लोगों को लेकर उस कच्छप के पास पहुँचा । उस बगले ने कच्छप से कहा—हम तुमसे कुछ पूछने के लिए आये हैं; तुम हमारे पास आओ । यह सुनकर वह कच्छप हमारे पास आया । तब हमने उससे पूछा—हे अकूपार ! तुम इन राजा इन्द्रद्युम्न को जानते हो ? पलभर सोचने के बाद आँखों में आँसू भरकर, घबराकर, उसने काँपते-काँपते, हाथ जोड़कर कहा—हां, मैं इन राजर्षि को अच्छी तरह से जानता हूँ । इन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ करके हजारों बार पृथ्वी पर अग्निचयन कर्म में यज्ञयूप स्थापित किये हैं । इन्होंने जो असंख्य गायें यज्ञों की दक्षिणा में दी थीं, उन्हीं के चलने-फिरने से खुदकर यह सरोवर बना है । मैं बहुत दिनों से इसमें रहता हूँ ॥९।११॥

कच्छप के यों कहने पर उसी समय देवलोक से एक दिव्य रथ वहाँ पर आया । राजर्षि इन्द्रद्युम्न के लिए यह आकाशवाणी हुई कि महाराज ! तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुला है । तुम्हारी कीर्ति अभी पृथ्वी पर बनी है, इसलिए तुम बेखटके अपने योग्य स्थान में आकर रहो । पुण्यात्मा मनुष्य की कीर्ति जब तक स्वर्ग में और पृथ्वी पर बनी रहती है तब तक वह स्वर्ग-सुख का अधिकारी रहता है । और, जिसकी अकीर्ति लोक में फैलती है वह, जब

तस्मात्कल्याणवृत्तः स्यादनंताय नरः सदा ।
विहाय चित्तं पापिष्ठं धर्ममेव समाश्रयेत् ॥ १५ ॥

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाऽब्रवीत्तिष्ठ तावद्यावदिमौ वृद्धौ यथा स्थानं प्रतिपादयामीति ॥ १६ ॥ स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे तन्मयाऽनुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पांडवानुवाच मार्कंडेयः ॥ १७ ॥ पांडवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिंद्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणाऽपि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात्कृच्छ्रात्पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति ॥ १८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणि इन्द्रद्युम्नोपाख्याने ऊनशताधिकशततमोऽध्यायः॥१९९

तक अकीर्ति रहती है तब तक, नरक में पड़ा रहता है। इसलिए मनुष्य को अनन्त स्वर्गसुख पाने के लिए सच्चरित और धर्मात्मा होकर पापकर्म से सदा बचते रहना चाहिए ॥१२।१५॥

यह सुनकर धर्मात्मा राजर्षि ने कहा—जब तक मैं इन वृद्धों को इनके स्थान पर न छोड़ आऊँ तब तक ठहरो। अब वे उलूक को उसके स्थान पर और मुझे मेरे स्थान पर छोड़ आये। फिर उसी दिव्य रथ पर बैठकर वे स्वर्गलोक को गये। हे पाण्डवो! वे राजर्षि इन्द्रद्युम्न मुझसे भी प्राचीन हैं।

यह कथा सुनकर पाण्डवों ने मार्कण्डेय मुनि से कहा—हे भगवन्! आपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से भ्रष्ट राजा इन्द्रद्युम्न को फिर स्वर्ग भेजकर बहुत ही अच्छा काम किया। मार्कण्डेय ने कहा—हे पाण्डवो! इन श्रीकृष्ण ने भी गिरगिट की योनि में कष्ट भोगनेवाले राजा नृग का उद्धार किया है; उन्हें फिर स्वर्गलोक को भेज दिया है ॥१६।१८॥

—०—

वनपर्व का एक सौ निन्नानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९९ ॥

अथ द्विशततमोऽध्यायः ॥२००॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा [redacted] राजा राजर्षेरिंद्रद्युम्नस्य तत्तदा ।
मार्कंडेयान्महाभागात्स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।

दो सौ अध्याय ॥२००॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! मार्कण्डेय मुनि के मुँह से इन्द्रद्युम्न के फिर स्वर्ग जाने का हाल सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन्! कैसी अवस्थाओं में दान देने से मनुष्य को स्वर्गलोक प्राप्त

कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्वा दानं महामुने ॥ २ ॥
इंद्रलोकं त्वनुभवेत्पुरुषस्तद्ब्रवीहि मे ।
गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थाविरेऽपि वा ॥
यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ॥ ३ ॥
मार्कंडेय उवाच—वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ॥ ४ ॥
परपाकेषु येऽश्नंति आत्मार्थं च पचेत्तु यः ।
पर्यश्नंति वृथा यत्र तदसत्यं प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥
आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत् ।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ॥ ६ ॥
गुरौ चाऽनृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके ।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ॥ ७ ॥
ब्रह्मबंधुषु यद्दत्तं यद्दत्तं वृषलीपतौ ।
स्त्रीजनेषु च यद्दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ॥ ८ ॥
परिचारकेषु यद्दत्तं वृथा दानानि षोडश ।
तमोवृतस्तु यो दद्याद्भयात्क्रोधात्तथैव च ॥ ९ ॥

होता है ? गृहस्थाश्रम में, बाल्यावस्था में, युवावस्था में या बुढ़ापे में दान देने से मनुष्य को क्या फल मिलता है ? ॥१।३॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे महाराज ! पुत्रहीन का, धर्मभ्रष्ट का, पराया अन्न खानेवाले का और देवता-अतिथि बालक आदि को न देकर केवल अपने ही लिए अन्न पकानेवाले का,—इन चार तरह के मनुष्यों का जन्म वृथा है। जो व्यक्ति जन्म भर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की इच्छा प्रकट करके उससे पतित हो जाता है उसे दान देना व्यर्थ है। जो धन अन्याय से प्राप्त किया जाय उसका दान भी निष्फल है। पतित, चोर, मिथ्यावादी गुरु, पापी, कृतघ्न, ग्रामयाजक (पुरोहित), वेद बेचनेवाला, शूद्र को यज्ञ करानेवाला, अपने आचरण और विद्या से रहित, शूद्र जाति की स्त्री का पति, इन ब्राह्मणों को दान देना व्यर्थ है। साँप को पकड़नेवाले और नौकरी करनेवाले को तथा स्त्री को दान देना अनुचित है। इस प्रकार इन सोलह दूषित दानों को शास्त्रकारों ने निष्फल बताया है। हे राजा युधिष्ठिर ! जो कोई मोहाभिभूत होकर भय से या क्रोध से दान करता है; वह गर्भस्थ होकर अपने दान के फल को भोगता है। अन्य दान का फल बुढ़ापे तक मिलता है। हे युधिष्ठिर ! स्वर्ग-लोक

भुंक्ते च दानं तत्सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा ।
ददद्दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ॥ १० ॥
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव ।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच—चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे ।
केन विप्रा विशेषेण तारयंति तरंति च ॥ १२ ॥
मार्कंडेय उवाच—जपैर्मंत्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयंति तरंति च ॥ १३ ॥
ब्राह्मणांस्तोषयेद्यस्तु तुष्यंते तस्य देवताः ।
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥
पितृदेवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च ।
अनंतं पुण्यलोकं तु गंताऽसि त्वं न संशयः ॥ १५ ॥
श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः ।
ब्राह्मणा एव संपूज्याः पुण्यस्वर्गमभीप्सता ॥ १६ ॥
श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः ।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुंडगोलकौ ॥ १७ ॥

जाने की इच्छा रखनेवाले पुरुष को सभी अवस्थाओं में ब्राह्मणों को दान देना चाहिए ॥४।११॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे तपोधन ! ब्राह्मण लोग चारों वर्णों का दान लेते है । फिर वे किस विशेषता के कारण औरों को तारते हैं और आप भी तरते हैं ? मार्कण्डेय मुनि ने कहा—ब्राह्मण लोग जप, मन्त्रपाठ, हवन और स्वाध्यायपाठ आदि करके वेद की नाव बनाकर उसके द्वारा अपना और दूसरों का उद्धार करते हैं । जो कोई ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है उस पर सब देवता प्रसन्न होते हैं । ब्राह्मणों के वचन से ही लोग स्वर्गलोक पा सकते हैं । पितर देवता आदि की आराधना और ब्राह्मणों की पूजा करने से मनुष्य अनन्त स्वर्गलोक पाता है ॥१२।१५॥

यदि मनुष्य मर रहा हो, गले में कफ का ज़ोर होने से घर्रोटा लगा हो और होश न हो तो उस समय भी ब्राह्मणों की पूजा करने से उसे पवित्र स्वर्गलोक प्राप्त होता है। हे महाराज ! पितृश्राद्ध के समय ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए जो दूषित न हों । जिसका रङ्ग काला हो, जिसके नख काले और खराब हों, जो कोढ़ी, मायावी, कुण्ड और गोलक (पति के जीते रहने और मरने पर व्यभिचार से उत्पन्न) हो, जो धनुष-बाण धारण करता हो अर्थात्

वर्जनीयाः प्रयत्नेन कांडपृष्ठाश्च देहिनः ।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेंधनम् ॥ १८ ॥
ये ये श्राद्धे न युज्यंते मूकांधबधिरादयः ।
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ १९ ॥
प्रतिग्रहश्च वै देयः श्रृणु यस्य युधिष्ठिर ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान् ॥ २० ॥
तस्मिन्देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं तारयेद्यः स शक्तिमान् ॥ २१ ॥
न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नाऽनुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यंति यथा ह्यतिथिभोजने ॥ २२ ॥
तस्मात्त्वं सर्वयत्नेन यतस्वाऽतिथि भोजने ।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ॥ २३ ॥
प्रयच्छंति तु ये राजन्नोपसर्पंति ते यमम् ।
देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ॥ २४ ॥
आकल्पपरिचर्या च गात्रसंवाहनानि च ।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ॥ २५ ॥

क्षत्रियवृत्ति से रहता हो, इन ब्राह्मणों को श्राद्ध में निमन्त्रण नहीं देना चाहिए। अग्नि जैसे लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ऐसे दूषित ब्राह्मणों को निमन्त्रण देने से दूषित हुआ श्राद्ध सब पुण्यों को नष्ट कर देता है ॥१६।१८॥

गूँगे, अन्धे और बहरे ब्राह्मणों को श्राद्ध में न्योता देना मना है; परन्तु जो वे वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता विद्वान् हों तो उन्हें भी निमन्त्रण देना चाहिए। हे राजा युधिष्ठिर ! अब मैं तुमसे यह कहता हूँ कि कैसे ब्राह्मण को दान देना चाहिए और ऐसा ब्राह्मण कौन है जो अपने को और दाता को तार सकता है। हे महाराज ! शास्त्रों का ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया है उसे ऐसे शक्तिशाली ब्राह्मण को दान देना चाहिए जिसमें अपने को और दाता को तारने की शक्ति हो। हे राजेंद्र ! अतिथि को भोजन कराने से अग्नि को जैसी तृप्ति होती है वैसी घृत का हवन करने से या फूल-चन्दन आदि चढ़ाने से नहीं होती ॥१९।२२॥

इसलिए हे पार्थ ! तुम यत्नपूर्वक सदा अतिथि-भोजन का ध्यान रक्खा करो। जो लोग पांव धोकर, पांवों में घी लगाकर, आरती करके, भोजन कराकर और आश्रय-स्थान देकर अतिथि-सेवा करते हैं वे

कपिलायाः प्रदानात्तु मुच्यते नाऽत्र संशयः ।
तस्मादलंकृतां दद्यात्कपिलां तु द्विजातये ॥ २६ ॥
श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाऽग्निहोत्रिणे ।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥ २७ ॥
एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥ २८ ॥
एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन ।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ॥ २९ ॥
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु ।
सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति ॥ ३० ॥
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ।
अनड्वाहं तु यो दद्याद्बलवंतं धुरन्धरम् ॥ ३१ ॥
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति ।
वसुंधरां तु यो दद्याद्द्विजाय विदुषात्मने ॥ ३२ ॥

यमराज के सामने नहीं जाते। देवताओं के निर्माल्य को हटाना, ब्राह्मणों की जूठन उठाना, चन्दन-माला आदि अर्पण करना और उनके पाँव दबाना, इनमें से प्रत्येक कार्य का फल गोदान से बढ़कर है। हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मण को कपिला गऊ का दान करने से अवश्य मुक्ति मिलती है । इसलिए सब गहनों और सामग्रियों के साथ ब्राह्मण को कपिला गऊ देनी चाहिए ॥२३।२६॥

निर्धन, गृहस्थ, अग्निहोत्री, पुत्र स्त्री आदि परिवार का पालन करने में अशक्त, वेदपाठी और जिसने अपना कोई उपकार न किया हो, ऐसे ब्राह्मण को गाय देनी चाहिए, मोटे आसामी को नहीं। जो धनी है, जिसे आवश्यकता नहीं है, उसे देने से कोई लाभ नहीं है। एक ही ब्राह्मण को एक गाय देनी चाहिए। बहुतों को एक गाय देनी ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशा में वह गाय बिक जायगी। गाय बिकने पर, बेचनेवाले और देनेवाले दोनों की तीन-तीन पीढ़ियों को नरक में पहुँचा देती है। वह गाय न तो देनेवाले को तारती है और न उस ब्राह्मण को ही, जो उसे बेचता है । जो पुरुष ब्राह्मण को बढ़िया सुवर्ण देता है, उसे उससे सौगुना सुवर्ण देने का फल मिलता है ॥२७।३०॥

जो कोई ब्राह्मण को बलवान् और बोझ ढोने में समर्थ बैल देता है, वह इस लोक में सब कष्टों से छुटकारा पाकर अन्त को स्वर्ग लोक में जाता है। जो कोई वेदज्ञ ब्राह्मण को पृथ्वी का दान करता

दातारं ह्यनुगच्छंति सर्वे कामाभिवांछिताः ।
पृच्छंति चात्र दातारं वदंति पुरुषा भुवि ॥ ३३ ॥
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुंठिताः ।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद्बुधः ॥ ३४ ॥
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नाऽत्र संशयः ।
तस्मात्त्वं सर्वदानानि हित्वाऽन्नं संप्रयच्छ ह ॥ ३५ ॥
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते ।
यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम् ॥ ३६ ॥
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम् ।
अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात्परतरं न च ॥ ३७ ॥
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः ।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥ ३९ ॥
येषां तटाकानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवंति ॥ ४० ॥
धान्यं श्रमेणाऽऽर्जितवित्तसंचितं विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः ।

है उसके सब मनोरथ पूरे होते हैं। राह की थका-वट से विह्वल होकर जो अतिथि ब्राह्मण भोजन देनेवाले का घर पूछ रहे हों, जिनके पावों पर धूल चढ़ी हुई हो, उनको जो कोई—स्वय असमर्थ होने पर—अन्न देनेवाले का द्वार दिखा देता है वह परोपकारी पुरुष भी अन्नदाता के समान माना गया है। हे राजेन्द्र ! इसलिए तुम और सब दानों को छोड़कर अधिकता के साथ अन्न का दान करो। इस लोक में अन्नदान के समान पुण्यकार्य दूसरा कोई नहीं है ॥३१।३५॥

जो कोई शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को रसोई बनवाकर खिलाते हैं, वे उस पुण्य के बल से प्रजापति का लोक पाते हैं। अन्न ही सब पदार्थों से श्रेष्ठ है। अन्न ही प्रजापति है, अन्न ही संवत्सर है, अन्न ही यज्ञ है। संवत्सर-रूपी यज्ञ अर्थात् अन्न में ही सब जगत् स्थित है। अन्न से ही चराचर प्राणियों की उत्पत्ति है। इसी कारण अन्न सब से श्रेष्ठ माना गया है। जो लोग गहरे जल से भरे तालाब, बावली, कुआ, धर्मशाला आदि की स्थापना करते हैं, जो लोग प्रियवचन बोलते हैं और अन्नदान करते हैं

वसुंधरा तस्य भवेत्सुतुष्टा धारां वसूनां प्रतिमुंचतीव ॥ ४१ ॥
अन्नदाः प्रथमं यांति सत्यवाक्तदनंतरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यांति त्रयो जनाः ॥ ४२ ॥
वैशम्पायन उवाच—कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ।
मार्कंडेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥ ४३ ॥
यमलोकस्य चाऽध्वानमंतरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किं प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरंति पुरुषाश्चैव येनोपायेन शंस मे ॥ ४४ ॥
मार्कण्डेय उवाच—सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन्धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ४५ ॥
षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाऽध्वानमंतरं मानुषस्य च ॥ ४६ ॥
आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ॥ ४७ ॥
विश्रमेद्यत्र वै श्रांतः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः ।
नीयते यमदूतैस्तु यमस्याऽऽज्ञाकरैर्बलात् ॥ ४८ ॥

उन्हें यमराज के वचन भी नहीं सुन पड़ते ॥३६।४०॥

जो लोग अपने परिश्रम से अन्न एकत्र करके सुशील ब्राह्मणों को वह अन्न देते हैं उन पर प्रसन्न होकर पृथ्वी देवी धन की वर्षा सी करती हैं। हे महाराज! अन्न देनेवाला, सत्यवादी और बिना मांगे प्रार्थी की इच्छा पूरी करनेवाला, ये तीनों एक ही लोक को जाते हैं। परन्तु अन्नदाता सबसे पहले, उसके पश्चात् सत्यवादी और उसके पश्चात् बिना मांगे देने-वाला जाता है। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर ने कौतूहलवश होकर महात्मा मार्कण्डेय मुनि से पूछा—हे भगवन्! मनुष्य-लोक से यमलोक का मार्ग कितनी दूर है? यमलोक कैसा है? कितना बड़ा है? किस उपाय से लोग वहां जाने से बच जाते हैं यह सब कहिए ॥४१।४४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! तुम्हारा यह प्रश्न अत्यन्त गूढ़ है। यह पवित्र, ऋषियों द्वारा प्रशंसित और धर्मसम्मत है। विस्तार के साथ इसका उत्तर सुनो। राजन्! मनुष्यलोक से यमलोक छियासी हज़ार योजन पर है। वह आकाशमय, जलरहित, भयानक वन के तुल्य है। वहां उस राह से जानेवाले लोगों के विश्राम के लिए न तो वृक्ष की छाया है, न जलाशय हैं और न घर

नराः स्त्रियस्तथैवाऽन्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ॥ ४९ ॥
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यांति वै नराः ।
सन्निवार्याऽऽतपं यांति च्छत्रेणैव हि च्छत्रदाः॥ ५० ॥
तृप्ताश्चैवाऽन्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाऽप्यनन्नदाः ।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यांत्यवस्त्रदाः ॥ ५१ ॥
हिरण्यदाः सुखं यांति पुरुषास्त्वभ्यलंकृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यांति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः ॥ ५२ ॥
यांति चैवाऽपरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यांति विमानेषु गृहप्रदाः ॥ ५३ ॥
पानीयदा ह्यतृपिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पंथानं द्योतयंतश्च यांति दीपप्रदाः सुखम् ॥ ५४ ॥
गोप्रदास्तु सुखं यांति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यांति मासोपवासिनः ॥ ५५ ॥
तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पांडव ॥ ५६ ॥

हैं । यमराज की आज्ञा का पालन करनेवाले दूत उसी राह से बलपूर्वक पृथ्वी पर के स्त्री-पुरुषों को अन्त समय ले जाते हैं ॥४५-४९॥

जिन लोगों ने यहां जो दान किये हैं वे उन्हीं दानों की सहायता से सुखपूर्वक उस राह को तय करते हैं । घोड़ा देनेवाले घोड़े पर चढ़कर और छतरी देनेवाले छतरी लगाकर उस राह से जाते हैं [और राह की थकन तथा कड़ी धूप से बच जाते हैं] अन्न देनेवाले तृप्त होकर और अन्नदान से विमुख लोग भूखे जाते हैं । वस्त्र देनेवाले वस्त्र पहनकर और वस्त्रदान न करनेवाले नङ्ग धड़ङ्ग ही जाते हैं । सुवर्ण का दान करनेवाले तरह-तरह के गहने पहनकर और भूमि-दान करनेवाले सब काम भोग पाते हुए सुखपूर्वक जाते हैं । कच्चा अन्न देनेवाले सब क्लेशों से बचकर उस दुर्गम मार्ग के पार जाते हैं । घर का दान करनेवाले लोग विमान पर चढ़कर सुख भोगते हुए जाते हैं ॥५०-५३॥

जल दान करनेवाले प्रसन्नचित्त होकर जाते हैं; उन्हें प्यास नहीं सताती । दीपदान करनेवाले उस मार्ग में उजेला फैलाते जाते हैं । गोदान करनेवाले सब पापों से छुटकारा पाकर सुख भोगते हुए जाते हैं । महीना भर उपवास करनेवाले हंसयुक्त विमान

अंतरा चैव नाऽश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः ।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥ ५७ ॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
शीतलं सलिलं तत्र पिबंति ह्यमृतोपमम् ॥ ५८ ॥
ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।
एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ॥ ५९ ॥
तस्मात्त्वमपि राजेंद्र पूजयैनान्यथाविधि ।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः ॥ ६० ॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाऽऽशया ।
तं पूजयाऽथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥ ६१ ॥
तं यांतमनुगच्छंति देवाः सर्वे सवासवाः ।
तस्मिनसंपूजिते प्रीता निराशा यांत्यपूजिते ॥ ६२ ॥
तस्मात्त्वमपि राजेंद्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत्ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—पुनःपुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् ।

पर चढ़कर और [illegible] दिन उपवास करनेवाले मयूर-युक्त विमान पर चढ़कर उस राह से जाते है । हे पाण्डव ! जो लोग तीन दिन तक एक बार भोजन करते हैं, या एक दिन भोजन करते हैं और एक दिन उपवास करते हैं, वे नीरोग (आधिव्याधि रहित) लोकों को जाते है । इस प्रकार के नियमों का पालन करनेवाले पुण्यात्माओं को यमलोक में सुखदायक दिव्य गुणयुक्त जल पीने को मिलता है। वे वहा की पुष्पोदका नाम की नदी का ठण्डा अमृत तुल्य जल पीते हैं । वह नदी सब इच्छाओं की देनेवाली होने पर भी पापियों को पीब से भरी हुई देख पड़ती है—उन्हें उसमें पीब ही पीने को मिलती है ॥५४।५९॥

हे राजेन्द्र ! इसलिए तुम विधिपूर्वक ब्राह्मणों की पूजा करो । जो राह चलने से थक गये हों, जिनके पाँवों में धूल भरी हुई हो, जो अन्न देनेवाले का घर पूछते हों, अथवा अन्न पाने की आशा से द्वार पर आये हों, उनका सत्कार करो । वह अतिथि यदि ब्राह्मण न भी हो तो उसे ब्राह्मण ही समझना चाहिए । उसके साथ इन्द्र आदि सब देवता द्वार पर आते है । उसका सत्कार करने से सब देवता प्रसन्न होते है, और यदि वह निराश होकर लौट जाता है तो सब देवता भी हताश होकर फिर जाते है । हे राजेन्द्र ! इससे तुम अतिथियों और ब्राह्मणों को भोजन आदि देकर सदा सत्कार करो । यह बात मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ । कहो, अब

पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—धर्मांतरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप ।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वाऽवहितो मम ॥ ६५ ॥
कपिलायां तु दत्तायां यत्फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
तत्फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ॥ ६६ ॥
द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
तावत्पुष्करपर्णेन पिबंति पितरो जलम् ॥ ६७ ॥
स्वागतेनाऽग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥ ६८ ॥
यावद्वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते ।
तस्मिन्काले प्रदातव्या प्रयत्नेनाऽतरात्मना ॥ ६९ ॥
अंतरिक्षगतो वत्सो यावद्योन्यां प्रदृश्यते ।
तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुंचति ॥ ७० ॥
यावंति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर ।
तावद्युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ७१ ॥
सुवर्णनासां यः कृत्वा सखुरां कृष्णधेनुकाम् ।

क्या सुनना चाहते हो ॥६०।६३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे धर्मज्ञ ! धर्मसङ्गत और सब पापों को हरनेवाली पुण्यकथा सुनने से मेरा जी नहीं भरता । इसलिए धर्म के सम्बन्ध की बातें मैं और भी सुनना चाहता हूँ । मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे महाराज ! अब और धर्म की बातें सुनो । वे बातें सब पापों को दूर करनेवाली और पवित्र हैं । सब तीर्थों में श्रेष्ठ पुष्कर में कपिला गऊ देने से जो फल होता है वही फल ब्राह्मण के पाँव धोने से मिलता है । पृथ्वी जब तक ब्राह्मणों के चरण-जल से तर रहती है तब तक पितर कमल के पत्तों से जल पीते हैं । अतिथि ब्राह्मण का स्वागत करने से अग्निदेव, आसन देने से इन्द्र, पाँव धोने से पितर और अन्न देने से प्रजापति तृप्त होते हैं ॥६४।६८॥

प्रसव के समय जब बछड़े के पाँव और सिर बाहर देख पड़ते हैं, किन्तु उसका पूरा शरीर गर्भ से बाहर नहीं निकलता, तब वह गाय पृथ्वी के समान मानी गई है । उस समय पवित्रचित्त होकर वह आधी ब्याई हुई गाय जो ब्राह्मण को देता है, उसे पृथ्वी-दान का फल मिलता है । उस बछड़े और गाय के शरीर में जितने रोएँ होते हैं उतने ही हज़ार युग तक दान करनेवाला स्वर्गसुख भोगता

तिलैः प्रच्छादितां दद्यात्सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ ७२ ॥
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददाति साधवे ।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ॥ ७३ ॥
ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ।
चतुरंता भवेद्दत्ता पृथिवी नाऽत्र संशयः ॥ ७४ ॥
अंतर्जानुशयो यस्तु भुंजते सक्त भाजनः ।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥ ७५ ॥
अपानपा न गदितास्तथाऽन्ये ये द्विजातयः ।
जपंति संहितां सम्यक्के नित्यं तारणक्षमाः ॥ ७६ ॥
हव्यं कव्यं च यत्किंचित्सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति ।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वालितेऽग्नौ यथा हुतम् ॥ ७७ ॥
मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ॥ ७८ ॥
धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवाऽनघ ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ॥ ७९ ॥

है। सुवर्ण की नाक और खुरों से शोभित, अनेक अलङ्कारों और रत्नों से भूषित श्यामा गऊ को उसके बराबर तिलों के साथ जो कोई किसी ब्राह्मण को देता है उसे अनन्त फल मिलता है। और, उस गाय को, दान में लेनेवाला मनुष्य यदि अन्य किसी साधु पुरुष को दे देता है तो वह पहले के दाता से अधिक फल का भागी होता है। उसे समुद्र, गुफा पर्वत और वन आदि सहित सम्पूर्ण पृथ्वी देने का फल प्राप्त होता है ॥६९।७४॥

जो ब्राह्मण चुपचाप दोनों घुटनों के भीतर हाथ करके उनसे भोजन का पात्र पकड़कर दूसरे के हाथ से भोजन करता है, जो जगत् में मदिरा-पान आदि दोषों से बचा हुआ समझा जाता है और जो नित्य वेदसंहिता को पढ़ता है, इन तीनों ब्राह्मणों में सदा औरों को उबारने की—तारने की—शक्ति है। हव्य और कव्य को सदा वेदपाठी ग्रहण कर सकता है। प्रज्वलित अग्नि में होम करना और वेदपाठी ब्राह्मण को भोजन कराना कभी निष्फल नहीं होता। ब्राह्मण शस्त्र के द्वारा प्रहार नहीं करते, उनका शस्त्र क्रोध ही है। इन्द्र जैसे दानवों का संहार करते हैं वैसे ही ब्राह्मण भी क्रोध के द्वारा सर्वनाश कर सकते हैं। हे निष्पाप! जिस पुण्यमयी कथा को सुनकर नैमिषारण्यवासी महर्षि शोक, भय, क्रोध और पाप से बचकर प्रसन्न हुए थे, वह परम

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च ।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन्न भवंतीह मानवाः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर उवाच—किंतच्छौचं भवेद्येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत् ।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर ॥ ८१ ॥

मार्कंडेय उवाच—वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम् ।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नाऽत्र संशयः ॥ ८२ ॥

सायं प्रातश्च संध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन्पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥ ८३ ॥

स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः ।
न सीदेत्प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ॥ ८४ ॥

ये चाऽस्य दारुणाः केचिद्ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चाऽस्य सौम्या जायंते शिवाः शिवतराः सदा ॥ ८५ ॥

सर्वे नाऽनुगतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयंति द्विजोत्तमम् ॥ ८६ ॥

नाऽध्यापनाद्याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥ ८७ ॥

पवित्र पुण्यकथा मैंने तुमको सुना दी। हे राजेन्द्र! यह कथा सुनने से मनुष्य को फिर यहां जन्म नहीं लेना पड़ता ॥७५।८०॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे धार्मिकश्रेष्ठ महाप्राज्ञ! वह शौच क्या है, जिससे ब्राह्मण सदा पवित्र रहते हैं? यह मैं सुनना चाहता हूँ। मार्कण्डेय मुनि ने कहा—वाणी की पवित्रता, कर्मों की पवित्रता और जल से होनेवाली पवित्रता, इन तीनों शौचों से युक्त ब्राह्मण निस्सन्देह स्वर्ग पाने का अधिकारी है। जो ब्राह्मण साझ-सवेरे, परम पुण्यदायिनी, वेदमाता गायत्री की उपासना और जप करता है, वह सन्ध्या गायत्री का सेवक ब्राह्मण पापरहित रहता है। वह समुद्र-पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी का दान लेकर भी तेजोहीन नहीं होता। सूर्य आदि पापग्रह आकाश में प्रतिकूल होने पर भी सदा उसके अनुकूल रहते हैं और उसका भला किया करते हैं ॥८१।८५॥

मांसभोजी दारुण राक्षस और अन्य घोर हिंसक प्राणी उस पर आक्रमण नहीं कर सकते। ऐसे ब्राह्मण जलती हुई अग्नि के समान हैं। पढ़ाने, यज्ञ कराने अथवा अनुचित महादान लेने से भी उन्हें दोष नहीं छू सकता। हे राजेन्द्र! [सन्ध्या-गायत्री द्वारा उपासना करनेवाले] ब्राह्मण चाहे अच्छी तरह

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा ।
ब्राह्मणा नाऽवमंतव्या भस्मच्छन्ना इवाऽग्नयः ॥ ८८ ॥
यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति ।
एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ८९ ॥
प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः ।
नगराणि न शोभंते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ९० ॥
वेदाढ्या वृत्तसंपन्ना ज्ञानवंतस्तपस्विनः ।
यत्र तिष्ठंति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ॥ ९१ ॥
व्रजे वाऽप्यथवाऽरण्ये यत्र संति बहुश्रुताः ।
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत् ॥ ९२ ॥
रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम् ।
अभिगम्याऽभिपूज्याऽथ सद्यः पापात्प्रमुच्यते ॥ ९३ ॥
पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम् ।
सद्भिः संभाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥ ९४ ॥
साधुसंगमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा ।
पवित्रीकृतमात्मानं संतो मन्यंति नित्यशः ॥ ९५ ॥
त्रिदंडधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुंडनम् ।

वेद को जानते हों चाहे न जानते हों, चाहे साधारण हों और चाहे संस्कारों से सुसंस्कृत हों, उनका अपमान कभी न करना चाहिए। वे राख से ढकी हुई अग्नि के समान हैं। मसान की अग्नि जैसे अपवित्र नहीं होती वैसे ही, विद्वान् या अविद्वान्, सब ब्राह्मण पूज्य देवता हैं। जिस नगर में ब्राह्मण नहीं हैं वह चहारदीवारी, फाटक और अनेक ऊँचे महलों से भरा रहने पर भी भला नहीं देख पड़ता ॥८८।९०॥

नगर वही है जहाँ वेदपाठी, सच्चरित्र, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण रहते हों। जहां बहुज्ञ ब्राह्मणों का निवास है, वह चाहे व्रज (गोशाला) हो और चाहे जङ्गल, वही नगर है—वही तीर्थ है। रक्षा करनेवाले राजा और तपस्वी ब्राह्मण की अभ्यर्थना तथा पूजा करने से मनुष्य के पाप तत्काल दूर हो जाते हैं। पण्डितों ने पवित्र तीर्थों में स्नान, पवित्र मन्त्रों का जप और सज्जनों से वार्तालाप, इन तीन बातों की प्रशंसा की है। सज्जन लोग साधु-समागम से पवित्र सुभाषितरूपी जल से सदा अपने को पवित्र मानते है ॥९१।९५॥

वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याऽभिषेचनम् ॥ ९६ ॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्यास्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥ ९७ ॥
न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिंद्रियगामिनाम् ।
विकारि तेषां राजेंद्र सुदुष्करतरं मनः ॥ ९८ ॥
ये पापानि न कुर्वंति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपंति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥ ९९ ॥
न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः ।
हिंसा सा तपसस्तस्य नाऽनाशित्वं तपः स्मृतम् ॥ १००॥
तिष्ठन्गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः ।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०१ ॥
न हि पापानि कर्माणि शुद्धयन्त्यनशनादिभिः ।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥१०२ ॥
अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नाऽन्यत्प्रहीयते ।
नाऽग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ॥ १०३॥

हे राजेन्द्र ! यदि हृदय की शुद्धि नहीं हुई तो त्रिदण्ड धारण, मौनव्रत, जटा रखाना या सिर मुड़ाये रहना, बल्कल-मृगछाला आदि पहनना, व्रत नियम का आचरण तीर्थस्नान, अग्निहोत्र, वन में रहना और पञ्चाग्नि आदि से शरीर को सुखाना आदि सब वृथा है। इन्द्रियगामी विषयों की शुद्धि के बिना उनका भोग सुकर है। भोग को विषय-शुद्धि की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेश्या-सङ्ग आदि से भी भोग की सिद्धि हो सकती है। किन्तु भोग का त्याग उस विषयशुद्धि के बिना कठिन है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों में विकार उत्पन्न करने-वाला मन अत्यन्त दुर्जय है। जो महात्मा मन, वाणी, कर्म और बुद्धि से पाप नहीं करते वे ही तपस्वी हैं; तरह-तरह से कष्ट देकर शरीर को सुखाना तप नहीं है। जिसे पुत्र आदि अपने पोषणीय परिवार पर दया नहीं है, जो उन्हें भूखों मरता छोड़कर वन में जाकर शरीर को कष्ट देता है, उसका वह तप, तप नहीं, हिंसा है ॥९६।१००॥

केवल भूखों मरना और पञ्चाग्नि तापना तप नहीं कहलाता। जो घर में रहकर भी मुनियों की तरह पवित्रहृदय और मनुष्योचित गुणों से युक्त होकर सब जीवों पर दया रखता है वह पापों से

पुण्यादेव प्रव्रजंति शुध्यंत्यनशनानि च ।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नाऽनिलाशनात् ॥ १०४॥
शिरसो मुंडनाद्वाऽपि न स्थानकुटिकासनात् ।
न जटाधारणाद्वाऽपि न तु स्थंडिलशय्यया ॥ १०५॥
नित्यं ह्यनशनाद्वाऽपि नाग्निशुश्रूषणादपि ।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ॥ १०६ ॥
ज्ञानेन कर्मणा वाऽपि जरामरणमेव च ।
व्याधयश्च प्रहीयंते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ॥ १०७॥
बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहंति पुनर्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नाऽऽत्मा संयुज्यते पुनः ॥ १०८॥
आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ।
विनश्यंति न संदेहः फेनानीव महार्णवे ॥ १०९॥
आत्मानं विंदते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वाऽर्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥ ११० ॥

छुटकारा पाता है। भोजन न करने आदि से मनुष्य के पापकर्म नष्ट नहीं होते, केवल रक्त मांसमय शरीर को कष्ट ही मिलता है। शास्त्र में जिनका उल्लेख नहीं है ऐसे स्वय कल्पित (तप्तशिला पर बैठना आदि) कर्म करने से पाप नहीं दूर होता, केवल क्लेश ही हाथ लगता है। चित्तशुद्धि से हीन मनुष्य के कर्मों या उनके फलों को अग्नि नहीं जला सकती ॥१०१।१०३॥

अपने पुण्यबल से ही मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है। कन्द-मूल-फल या वायु का आहार करने, मौनव्रत धारण करने, सिर मुड़ाने, घर-द्वार छोड़ देने, जटा रखने, खुले मैदान में पड़े रहने, नित्य उपवास करने, पञ्चाग्नि तापने, जल के भीतर रहने या पृथ्वी पर सोने से मनुष्य को उत्तम गति नहीं मिलती। ज्ञान प्राप्तकर उसके अनुसार चित्तशुद्धि पूर्वक आचरण करने से ही जरा-मरण व्याधि आदि से छुटकारा होता और उत्तम गति प्राप्त होती है ॥१०४।१०७॥

जैसे अग्नि में भुने हुए बीजों में फिर अंकुर नहीं निकलता, वैसे ही ज्ञान की अग्नि से जल जाने पर अविद्याकृत क्लेश आत्मा को नहीं छू सकते। किन्तु आत्मज्ञान से हीन लकड़ी के घर ऐसे शरीर, महासागर में फेने के समान, सहज ही नष्ट हो जाते है। सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा का ज्ञान जिसने एक श्लोक या आधा श्लोक पढ़कर ही प्राप्त कर लिया है उसे फिर अनेक शास्त्र पढ़ने का

व्यक्षरादभिसंधाय केचिच्छ्लोकपदांकितैः ।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ १११ ॥
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ ११२ ॥
विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम् ।
उद्विजेत्स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ॥ ११३ ॥
शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् ।
एकाक्षराभिसंबद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि ।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात् ॥ ११४ ॥
वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्तद्वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम् ।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीवस्त्वात्मा तस्य वेद्यस्य वेद्यम् ॥ ११५ ॥
वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ११६ ॥
इंद्रियाणां प्रसादेन तदेतत्परिवर्जयेत् ।

कोई प्रयोजन नहीं रहता। "तत्त्वम्" इन दो अक्षरों से लेकर श्लोक पद-युक्त सैंकड़ों हज़ारों शास्त्रों और उपनिषदों का तात्पर्य केवल आत्मज्ञान है। "मैं ब्रह्म हूँ" यह विश्वास ही मोक्ष का लक्षण है। जो संशय में पड़ा है उसका यह लोक और परलोक कुछ भी नहीं बनता, उसे सुख नहीं मिलता ॥१०८।१११॥

ज्ञानी वृद्धों का कहना है कि विश्वास ही मोक्ष का लक्षण है। जो मनुष्य वेदों के अर्थ और प्रयोजन को, अर्थात् आत्मज्ञान और चित्त-शुद्धि को अच्छी तरह जानता है वह वैदिक कर्मकाण्ड से उसी तरह घबराता है जैसे दावानल से सब लोग भागते हैं। हे राजा युधिष्ठिर! तुम सूखे तर्क को छोड़कर श्रुति और स्मृति का आश्रय लो। श्रुतियों द्वारा सिद्ध तर्कों से एकाक्षरतत्त्व (ॐ) जानने की इच्छा करो। परन्तु यह याद रक्खो कि चित्त शान्ति, इन्द्रियदमन आदि साधनों में उलट-फेर होने पर तत्त्व-बुद्धि अच्छी तरह पक्की नहीं होती। इसलिए, यत्न के साथ, वेद का विषय जो परमात्म तत्त्व है उसका ज्ञान प्राप्त करो। वेद ही उस तत्त्व का शरीर है। वेद ही तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रधान उपाय है। आत्मा नपुंसक के समान है। तत्त्वबुद्धि के बिना उसका ज्ञान नहीं होता। देवताओं की आयु और कर्मों का शुभाशुभ फल आदि बातें वेद में कही गई हैं। वह वेदोक्त देवताओं की आयु, कर्मों का फल और शरीरधारियों का प्रभाव हर युग में देखा जाता है। मनुष्य को चाहिए कि चित्त-शुद्ध पूर्वक इन्द्रियों को शान्त करके कर्मों के सिलसिले को तोड़ने

तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेंद्रियगोचरम् ॥११७॥
तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते ।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥११८॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम् ॥११९॥
मार्कंडेय उवाच—यत्त्वमिच्छसि राजेंद्र दानधर्मं युधिष्ठिर ।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन्गौरववतस्तथा ॥१२०॥
शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च ।
छायायां करिणः श्राद्धं तत्कर्णपरिवीजिते ॥
दशकल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ॥१२१॥
जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्वा महीयते ।
वैश्यं तु वासयेद्यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ॥१२२॥
प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसंचरन् ।
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥१२३॥
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च ।
पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ॥१२४॥

का यत्न करे। चित्त और इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना, अर्थात् वासनाओं का त्याग ही यथार्थ अनशन व्रत है, भूखे रहना नहीं। राजन्! साराश यह है कि तप से स्वर्ग, दान से भोग और तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है। तीर्थस्नान करने से पापों का नाश होता है ॥११२।११८॥

वैशम्पायन कहते हैं कि हे राजा जनमेजय! महायशस्वी युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय मुनि से कहा—हे भगवन्! विशेष दान धर्म सुनने के लिए मेरा जी चाहता है, कृपा कर सुनाइए। मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजेन्द्र! तुमने जो दान धर्म का विषय मुझसे पूछा वह गौरवयुक्त और मुझे प्रिय है। श्रुतिस्मृति कथित दोनों रहस्य सुनो ॥११९।१२१॥

गुरुवार को जब अमावस होती है तब पीपल के पेड़ के नीचे, नदी के समीप, जो श्राद्ध आदि कर्म किये जाते हैं उनका फल एक लाख कल्प तक कम नहीं होता। जो कोई ब्राह्मण को भोजन के लिए गीला अन्न और द्रव्य देकर अपने यहा टिकाता है उसे सब यज्ञ करने का फल मिलता है। जहा नदी का उलटा प्रवाह हो अर्थात् जिस नदी का प्रवाह पूर्वमुख है वह नदी जहा पश्चिमवाहिनी हो वहा ब्राह्मण को विचित्र वाहन (उत्तम घोड़े) और

अयने विपुवे चैव पडशीतिमुखेपु च ।
चंद्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥१२५॥
ऋतुपु दशगुणं वदंति दत्तं शतगुणमृत्वयनादिपु ध्रुवम् ।
भवति सहस्त्रगुणं दिनस्य राहोर्विपुवति चाऽक्षयमश्नुते फलम् ॥१२६॥
नाऽभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्नाऽयानदो यानमारुह्य याति ।
यान्यान्कामान्ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान्कामान्जायमानः स भुंक्ते ॥१२७॥
अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः ।
लोकास्त्रयस्तेन भवंति दत्ता यः कांचनं गाश्च महीं च दद्यात् ॥१२८॥
परं हि दानान्न वभूव शाश्वतं भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः ।
तस्मात्प्रधानं परमं हि दानं वदंति लोकेपु विशिष्टवुद्धयः ॥१२९॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्याय ॥२००॥

अन्न देने से इन्द्र प्रसन्न होते हैं। जैसे नाव के द्वारा मनुष्य नदी के पार चला जाता है वैसे ही इन दानों से मनुष्य पापों से छुटकारा पाता है। तुला और मेष की सक्रान्ति में दही और दही का पानी का दान देने से उसका फल अक्षय होता है। किसी पर्व के समय करने से हर एक दान का दूना फल होता है। ऐसे ही ऋतुकाल में दसगुना फल होता है। मिथुन, कन्या और मीन की संक्रान्ति के अवसर पर और 'ग्रहण' के समय दान का अक्षय फल होता है। जिसने भूमि-दान नहीं किया वह पृथ्वी का भाग नहीं कर सकता और जिसने सवारी का दान नहीं किया वह सवारी पर नहीं चढ़ सकता। इस जन्म में जो-जो पदार्थ ब्राह्मणों को दिये जाते हैं, उस जन्म में वे ही पदार्थ भोग के लिए मिलते हैं। सुवर्ण अग्नि का पुत्र है, पृथ्वी विष्णु की कन्या है और गाय सूर्य की बेटी है। इसलिए जो कोई इन तीनों वस्तुओं का दान करता है, उसे त्रिभुवन के दान का फल मिलता है। दान से बढ़कर अक्षय फलदायक और कोई कर्म नहीं है। दान से ही सबका भला होता है। इसी से बुद्धिमानों ने दान को सब कर्मों में प्रधान कहा है ॥१२२।१२९॥

—०—

वनपर्व का दो सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २०० ॥

अथ एकाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२०१॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिंद्रद्युम्नस्य तत्तथा ।
मार्कंडेयान्महाभागात्स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ ।

मार्कंडेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ २ ॥
विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः ।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥ ३ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम ।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥ ४ ॥
देवगंधर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा ।
इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नामविपर्यासाद्धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ६ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कंडेयो महामुनिः ।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ॥ ८ ॥
मार्कण्डेय उवाच—हंत ते कथयिष्यामि शृणु राजन्युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ९ ॥
यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः ।
धुंधुमारत्वमगमत्तच्छृणुष्व महीपते ॥ १० ॥
महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तंक इति भारत ।

दो सौ एक अध्याय ॥२०१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! महर्षि मार्कण्डेय के मुँह से राजर्षि इन्द्रद्युम्न के स्वर्गलाभ का वृत्तान्त सुनकर राजा युधिष्ठिर ने उन धर्मात्मा दीर्घजीवी तपोवृद्ध मुनि से पूछा—हे महाभाग ! आप देवता, दानव, राक्षस, मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, अप्सरा आदि की दिव्य कथाओं को और अनेक राजाओं तथा ऋषियों के वंशों को जानते हैं। मैं आप से यह सुनना चाहता हूं कि इक्ष्वाकुवंश के कुवलाश्व राजा का नाम धुन्धुमार कैसे पड़ा। कृपा करके यह वृत्तान्त मुझे सुनाइए ॥१।७॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजेन्द्र! राजा युधिष्ठिर के पूछने पर महर्षि मार्कण्डेय मुनि धुन्धुमार की कथा यों कहने लगे—हे राजा युधिष्ठिर! मैं धुन्धुमार का पवित्र चरित्र तुमसे कहता हूं। इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व का

मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ११ ॥
उत्तंकस्तु महाराज तपोऽतप्यत्सुदुश्चरम् ।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून्वर्षगणान्विभुः ॥ १२ ॥
तस्य प्रीतः स भगवान्साक्षाद्दर्शनमेयिवान् ।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ॥ १३ ॥
उत्तंक उवाच—त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः ।
स्थावराणि च भूतानि जंगमानि तथैव च ॥ १४ ॥
ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते ।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥ १५ ॥
निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाऽच्युत ।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥ १६ ॥
ऊरू ते पर्वता देव खं जंघे मधुसूदन ।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥ १७ ॥
इंद्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठंति स्तुवंतो विविधैः स्तवैः ॥ १८ ॥
त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवंति त्वां महर्षयः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार धुन्धुमार नाम पड़ा सो सुनो ॥८।१०॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उतङ्क नाम के एक सुप्रसिद्ध महर्षि थे। सुन्दर मरुधन्व प्रदेश में उनका आश्रम था। उन्होंने विष्णु की आराधना करने के लिए हज़ारों वर्षों तक कठिन तपस्या की। उस तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु उनके आगे प्रकट हुए। उन्हें देखते ही अत्यन्त विनीत भाव से महर्षि उतङ्क स्तुति करने लगे ॥११।१३॥

उन्होंने कहा—हे देव ! तुमने देवता, दैत्य, मनुष्य आदि सब चराचर जगत् और वेदों को बनाया है। हे विभो ! आकाश तुम्हारा सिर है। चन्द्रमा और सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं। वायु तुम्हारी साँस है। हे अच्युत ! अग्नि तुम्हारा तेज है। दिशाएँ तुम्हारी भुजा हैं। महासमुद्र तुम्हारी कोख है। हे देव ! पर्वत तुम्हारे ऊरु हैं। हे मधुसूदन ! अन्तरिक्ष तुम्हारी जङ्घा है। पृथ्वी तुम्हारे चरण हैं। सब औषधियाँ तुम्हारे रोम हैं ॥१४।१७॥

इन्द्र, चन्द्र, अग्नि, वरुण, देवता, असुर, नाग, महाशक्तिशाली योगी और महर्षिगण विनीत होकर स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति किया करते हैं। हे जगदीश्वर !

त्वयि तुष्टे जगत्स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद्भयम् ।
भयानामपनेताऽसि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥
देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ॥ २१ ॥
असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन्परम् ॥ २२ ॥
पराभूताश्च दैत्येंद्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ॥ २३ ॥
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधंति सर्वशः ।
एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तंकेन महात्मना ॥ २४ ॥
उत्तंकमब्रवीद्विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ।
उत्तंक उवाच—पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान्हरिम् ॥ २५ ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ।
विष्णुरुवाच—प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ॥ २६ ॥
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज ।
एवं स च्छंद्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ॥ २७ ॥

सब प्राणियों में तुम रमे हुए हो। तुम्हारे सन्तुष्ट होने पर सब जगत् प्रसन्न होता है और तुम्हारे रूठने पर सब जगह भय ही भय है। हे पुरुषोत्तम! तुम्हीं एक सब तरह के भय को दूर करते हो। तुम्हीं देवता, मनुष्य आदि सब प्राणियों को सुख देते हो। हे देव! तुमने तीन प्रकार के विक्रम से तीनों लोकों को धारण कर रक्खा है ॥१८।२१॥

समृद्धिशाली दानवों का नाश भी तुम्हीं ने किया है। देवताओं ने तुम्हारे ही प्रभाव से शान्ति पाई है। हे महातेजस्वी! तुम्हारे क्रुद्ध होने से ही बड़े बड़े दैत्य परास्त हुए हैं। तुम्हीं सब प्राणियों की उत्पत्ति और संहार करते हो। तुम्हारी आराधना के प्रभाव से ही देवताओं का सुखपूर्वक अभ्युदय होता है ॥२२।२४॥

महात्मा उतङ्क के यों स्तुति करने पर विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे कहा—मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, वरदान् मांगो। उतङ्क ने कहा—मुझे यही यथेष्ट वर प्राप्त हो गया कि पुराणपुरुष, हरि, जगत् की सृष्टि करनेवाले, प्रभु के दर्शन मिल गये। विष्णु ने कहा—तुम्हारी अटल भक्ति को देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ; इसलिए तुम अवश्य मुझसे कुछ वरदान मांगो। हे राजा युधिष्ठिर! वरदान देने के लिए विष्णु

उत्तंकः प्रांजलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ।
यदि मे भगवन्प्रीतः पुंडरीकनिभेक्षण ॥ २८ ॥
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।
अभ्यासश्च भवेद्भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर ॥ २९ ॥
भगवानुवाच—सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात्तव द्विज ।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
त्रयाणामपि लोकानां महत्कार्यं करिष्यसि ।
उत्सादनार्थं लोकानां धुंधुर्नाम महासुरः ॥ ३१ ॥
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ।
राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ॥ ३२ ॥
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ ३३ ॥
स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तम ।
शासनात्तव विप्रर्षे धुंधुमारो भविष्यति ।
एवमुक्त्वा तु तं विप्र विष्णुरंतरधीयत ॥ ३४ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्याय २०१

भगवान् का आग्रह देखकर उत्तङ्क ने, हाथ जोड़कर कहा—हे कमलनयन ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वर दीजिए कि सत्य, धर्म और इन्द्रिय-दमन में लगातार मेरी बुद्धि स्थिर रहे। और, हे ईश्वर ! मैं भक्तिपूर्वक सदा आपकी उपासना में लगा रहूँ ॥२८।२९॥

भगवान् ने कहा—हे द्विज ! मेरे प्रसाद से ही तुम्हारे ये सब मनोरथ पूरे होंगे। तुम योगबल के प्रभाव से तीनों लोकों के उपकार का एक बड़ा भारी काम करोगे। त्रिभुवन को पीड़ित और नष्ट करने के लिए धुन्धु नाम का एक महाबली असुर घोर तप करेगा। उसे तुम्हारे शासन से और मेरे योगबल के प्रभाव से, इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न प्रबल प्रतापी महाराज बृहदश्व के पुत्र जितेन्द्रिय कुवलाश्व राजा मारेंगे। धुन्धु असुर को मारने के कारण उनका नाम धुन्धुमार होगा। भगवान् विष्णु इतना कहकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये ॥३०।३४॥

—o—

वनपर्व का दो सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥२०१॥

अथ द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०२॥

मार्कण्डेय उवाच—इक्ष्वाकौ संस्थिते राजञ्शशादः पृथिवीमिमाम्।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥
शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान्।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चाऽनेनसः सुतः ॥ २ ॥
विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान्।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्याऽऽत्मजोऽभवत् ॥ ३ ॥
तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबलः ॥ ४ ॥
बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५ ॥
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवंतो दुरासदाः।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६ ॥
समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत्।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ७ ॥
पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ८ ॥

दो सौ दो अध्याय ॥ २०२ ॥

मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं—हे राजेन्द्र! महाराज इक्ष्वाकु का स्वर्गवास होने पर उनके पुत्र धर्मात्मा शशाद अयोध्या की राजगद्दी पर बैठे। शशाद के पुत्र पराक्रमी ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थ के पुत्र अनेना हुए। अनेना के पृथु हुए। पृथु के पुत्र विष्वगश्व हुए और विष्वगश्व के अद्रि और अद्रि के पुत्र युवनाश्व हुए। युवनाश्व के पुत्र श्रावस्त हुए जिन्होंने श्रावस्ती नगरी बसाई। श्रावस्त के पुत्र महाबली बृहदश्व हुए। बृहदश्व के पुत्र कुवलाश्व हुए। महाराज कुवलाश्व के इक्कीस हज़ार पुत्र हुए ॥१।५॥

वे सब बली और विद्वान् थे। कुवलाश्व अपने पिता बृहदश्व से भी बढ़कर गुणी हुए। बृहदश्व ने अपने पुत्र को परमधार्मिक और शूर देखकर यथा-समय उनका राज्याभिषेक कर दिया। इस प्रकार पुत्र को राजलक्ष्मी सौंपकर बुद्धिमान् राजा बृहदश्व तप करने के लिए वन को चल दिये। उधर उतङ्क ऋषि ने जब सुना कि राजा बृहदश्व वानप्रस्थी होकर

मार्कण्डेय उवाच—अथ शुश्राव राजर्षि तमुत्तंको नराधिप ।
वनं संप्रस्थितं राजन्बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥
तमुत्तंको महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम् ।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ १० ॥
उत्तंक उवाच—भवता रक्षणं कार्यं तत्तावत्कर्तुमर्हसि ।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद्भवेमहि ॥ ११ ॥
त्वया हि पृथिवी राजन्रक्ष्यमाणा महात्मना ।
भविष्यति निरुद्विग्ना नाऽरण्यं गंतुमर्हसि ॥ १२ ॥
पालने हि महान्धर्मः प्रजानामिह दृश्यते ।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये मा भूत्ते बुद्धिरीदृशी ॥ १३ ॥
ईदृशो न हि राजेंद्र धर्मः क्वचन दृश्यते ।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥ १४ ॥
रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि ।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥ १५ ॥
ममाऽऽश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु ।
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ॥ १६ ॥

वन को जा रहे हैं तब वे उनके पास गये। राजधानी में पहुँचकर उतङ्क मुनि ने सब अस्त्रों को अच्छी तरह जाननेवाले महाराज बृहदश्व को वन जाने से रोकते हुए कहा— ॥९।१०॥

हे महाराज ! प्रजा की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है ; उसी कर्त्तव्य का पालन कीजिए । हम लोग आपके प्रताप से ही बेखटके रहते हैं । आपके बाहुबल से रक्षित यह पृथ्वी सब तरह की आपत्तियों से बची हुई है ; प्रजा सुखी है। इसलिए आप वन को न जाइए। हे राजेन्द्र ! प्रजापालन करने से आपको बड़ा पुण्य होगा । वैसा धर्म वन में रहकर तप करने से नहीं हो सकता । इसलिए आप वन को जाने का विचार छोड़ दीजिए ॥११।१३॥

हे नरदेव ! पूर्व समय में जितने राजर्षि हो गये हैं उन सबने प्रजापालन के लिए ही बड़ी भारी चेष्टा की है । हे राजेन्द्र ! क्षत्रिय के लिए ऐसा या इससे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है । शास्त्र कहता है, राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। इसलिए आप प्रजा की रक्षा कीजिए। मुनिए, मैं इस समय बेखटके होकर तप नहीं करने पाता ॥१४।१५॥

हे राजेन्द्र ! मेरे आश्रम के समीप समतल मरुधन्व प्रदेश में कई योजन लम्बा और कई योजन चौड़ा

वहुयोजनविस्तीर्णो वहुयोजनमायतः ।
तत्र रौद्रो दानवेंद्रो महावीर्यपराक्रमः ॥ १७ ॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुंधुर्नाम सुदारुणः ।
अंतर्भूमिगतो राजन्वसत्यमितविक्रमः ॥ १८ ॥
तं निहत्य महाराज वनं त्वं गंतुमर्हसि ।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥ १९ ॥
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव ।
अवध्यो देवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ॥ २० ॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः ।
अवाप्य स वरं राजन्सर्वलोकपितामहात् ॥ २१ ॥
तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥ २२ ॥
क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकांतर्हितस्य च ।
संवत्सरस्य पर्यंते निःश्वासः संप्रवर्तते ॥ २३ ॥
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना ।
तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥ २४ ॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकंपनम् ।

वालुकापूर्ण समुद्र उज्जालक नाम से प्रसिद्ध है। वहां पृथ्वी के नीचे मधु-कैटभ का पुत्र धुन्धु नाम का एक भयानक असुर रहता है। वह बड़ा पराक्रमी है। उस दैत्य को मारकर फिर आप वन जाने की तैयारी कीजिए। सब लोकों के पितामह ब्रह्मा को तप से प्रसन्न करके धुन्धु ने ऐसा वर मांग लिया है कि उसके प्रभाव से देवता, दैत्य, राक्षस, नाग और गन्धर्व, कोई उसे नहीं मार सकता ॥१६।२१॥

वहां रहकर वह सब देवताओं और लोकों के नाश का उपाय किया करता है। आप शीघ्र उसे मारने का निश्चय कर लीजिए। उस दुष्ट दानव को मारने से आपको ऐसी कीर्ति प्राप्त होगी जो युग-युगान्तर तक बनी रहेगी। वह क्रूर दानव बालू के भीतर पड़ा सोया करता है। जब वर्ष पूरा होता है, तब एक भयानक सांस छोड़ता है। उस सांस से बहुत धूल उड़ती है; वह धूल आकाश तक छा जाती है। यही नहीं, उससे दारुण भूकम्प भी होता है, जो सात दिन तक बराबर बना रहता है। वन-पर्वत सहित पृथ्वी कांप उठती है; धुआं, चिनगारियां और अग्नि की ज्वालाएँ चारों ओर फैल जाती है। हे राजेंद्र!

सविस्फुलिंगं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥ २५ ॥
तेन राजन्न शक्नोमि तस्मिन्स्थातुं स्व आश्रमे ।
तं विनाशय राजेंद्र लोकानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥
लोकाः स्वस्था भविष्यंति तस्मिन्विनिहतेऽसुरे ।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ॥ २७ ॥
तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्यायायिष्यति ।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ॥ २८ ॥
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः ।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ॥ २९ ॥
तत्तेजस्त्वं समाधाय राजेंद्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेंद्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥ ३० ॥
न हि धुंधुर्महातेजास्तेजसाऽल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥ ३१ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उसके इस उपद्रव के समय मुझसे अपने आश्रम में नहीं ठहरा जाता ॥२२।२६॥

आप, मेरे और सब लोकों के हित के लिए, उस दुष्ट को मारिए । उस दैत्य के मारे जाने पर सब लोग स्वस्थ हो जायँगे । मै समझता हूँ कि आप उसे मार सकते हैं । उसे मारने के लिए जब आप तैयार होंगे तब विष्णु भगवान् अपने तेज से आपके तेज को बढ़ा देंगे । विष्णु भगवान् मुझे यह वर दे चुके हैं कि जो कोई उस दैत्य को मारने के लिए तैयार होगा उसके तेज को मैं अपने तेज से अधिक दुर्द्धर्ष बना दूँगा । इसलिए हे राजेन्द्र ! आप उस दुस्सह विष्णुतेज को पाकर मेरी आज्ञा से दारुण धुन्धु दैत्य का वध कीजिए । थोड़े तेज और पराक्रमवाला पुरुष सौ वर्ष में भी उस दानव को नहीं मार सकता ॥२७।३१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥२०२॥

अथ त्र्यधिकद्विशततोऽध्यायः ॥२०३॥

मार्कण्डेय उवाच—स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तंकेनाऽपराजितः ।
उत्तंकं कौरवश्रेष्ठ कृतांजलिरथाऽब्रवीत् ॥ १ ॥
न तेऽभिगमनं ब्रह्मन्मोघमेतद्भविष्यति ।

पुत्रो ममाऽयं भगवन्कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ २ ॥
धृतिमान्क्षिप्रकारी च वीर्येणाऽप्रतिमो भुवि ।
प्रियं च ते सर्वमेतत्करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन्न्यस्तशस्त्रोऽस्मि सांप्रतम् ॥ ४ ॥
तथाऽस्त्विति च तेनोक्तो मुनिनाऽमिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ॥ ५ ॥
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ।
युधिष्ठिर उवाच—क एष भगवन्दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ॥ ६ ॥
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।
एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥ ७ ॥
एतदिच्छामि भगवन्याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ८ ॥
मार्कंडेय उवाच—शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥ ९ ॥
एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजंगमे ।

दो सौ तीन अध्याय ॥२०३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजर्षिश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उतङ्क के यों कहने पर महाराज बृहदश्व ने हाथ जोड़कर उनसे कहा — ब्रह्मन् ! आपका यहाँ तक आना व्यर्थ नहीं होगा । राजकुमार कुवलाश्व धीर, वीर, अद्वितीय बलवान् और फुर्तीला है । वह अपने सब शूरवीर पुत्रों के साथ जाकर आपका प्रिय कार्य पूरा कर देगा । ब्रह्मन् ! मैं इस समय शस्त्रों का त्याग कर चुका हूँ; इसलिए मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिए । उतङ्क ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली । राजा बृहदश्व अपने पुत्र कुवलाश्व से उतङ्क का प्रिय कार्य करने के लिए कहकर वन को चले गये ॥१।६॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे तपोधन ! यह महाबलवान् असुर कौन था ? किसका पुत्र और किसका पोता था ? ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने और कोई सुना नहीं । मैं यह सब हाल विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ ॥७।८॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे महाप्राज्ञ ! मैं उस दैत्य का सब वृत्तान्त विस्तार के साथ कहता हूँ, सुनिए । प्रलय के समय सब चराचर जगत् जल

प्रनष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ १० ॥
प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् ।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
सुष्वाप भगवान्विष्णुरप्सु योगत एव सः ।
नागस्य भोगे महति शेषस्याऽमिततेजसः ॥ १२ ॥
लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १३ ॥
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥ १४ ॥
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ १५ ॥
स्वप्रभावाद्दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ॥ १६ ॥
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवंतौ हरिंप्रभुम् ।
शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ॥ १७ ॥
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ॥ १८ ॥
दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ॥ १९ ॥

में डूब गया था। कोई प्राणी या प्रकाश नहीं रह गया था। चारों ओर जल ही जल था उस समय सब लोकों के एकमात्र ईश्वर, अनादि, अनन्त, नारायण भगवान् उस जल के ऊपर—शेष-शैय्या पर—योगनिद्रा में लेटे हुए थे। यह पृथ्वीमण्डल शेषनाग के फन से तकिये की तरह लगा हुआ था ॥९।१३॥

भगवान् विष्णु की नाभि से सूर्य के समान प्रकाशमान एक दिव्य कमल प्रकट हुआ। उस कमल से सूर्यसदृश तेजस्वी, लोक-गुरु, चतुर्वेदरूप, चतुर्वर्ग-मय, चतुर्मूर्ति, चतुरानन ब्रह्मा प्रकट हुए। वे महा-बली और पराक्रमी थे। उनका तेज ऐसा था कि कोई उन पर आक्रमण करने की शक्ति नहीं कर सकता था। कुछ समय के पश्चात् वहाँ मधु और कैटभ नाम के दो महापराक्रमी दैत्य भी उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि कई योजन लम्बा और कई योजन

विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा ।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ २० ॥
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः ॥ २१ ॥
अकंपयत्पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथाऽपश्यत गोविंदो दानवौ वीर्यवत्तरौ ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा तावब्रवीद्देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥ २३ ॥
तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ २४ ॥
आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद्ब्रवीह्यविचारयन् ॥ २५ ॥
भगवानुवाच—प्रतिगृह्य वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्य संपन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥ २६ ॥
वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतादिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ॥ २७ ॥
मधुकैटभावूचतु—अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
सत्ये धर्मे स निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २८ ॥

चौड़े नाग की शय्या पर हज़ार सूर्यसदृश तेजस्वी, अद्‌भुतरूप, किरीट-कौस्तुभ-पीताम्बर आदि पहने नारायण लेटे हुए हैं और उनकी नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं ॥१४।२०॥

तब वे पराक्रमी महाबली असुर ब्रह्मा को डरवाने लगे। उनके द्वारा बार-बार डराये जाने पर महायशस्वी ब्रह्मा ने डरकर उस कमल को हिलाया। तब योग-निद्रा में पड़े हुए नारायण जाग पड़े। उन्होंने योग-निद्रा से उठकर अपने सामने उन दोनों महाबली दानवों को देखा। विष्णु ने स्वागत-प्रश्न करके उन दानवों से कहा—हे महाबली दानवो! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हुआ हूं, इसलिए तुम मुझसे कोई श्रेष्ठ वर मांगो। तब उन महाबली घमण्डी असुरों ने हँसकर नारायण से कहा—हे देव! हम दोनों स्वयं वरदान दे सकते हैं; इसलिए तुम कुछ सोच-विचार न करके जो चाहो सो वर हमसे मांग लो। भगवान् ने कहा—हे वीरो! तुम बड़े बलवान् हो, तुम्हारे समान कोई वीर पुरुष नहीं है। इस कारण लोकहित के लिए

चले रूपे च शौर्ये च शमे न च समोऽस्ति नौ ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २९ ॥
उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव ।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥
आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो ।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥ ३१ ॥
पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन ।
वर एष वृतो देव तद्विद्धि सुरसत्तम ॥ ३२ ॥
अनृतं मा भवेद्देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा ।
भगवानुवाच—बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति ॥ ३३ ॥
स विचिंत्याऽथ गोविंदो नाऽपश्यद्यदनावृतम् ।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा ।
मधुकैटभयो राजञ्शिरसी मधुसूदनः ।
चक्रेण शितधारेण न्यकृंतत महायशाः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०३॥

मैं तुमसे यही वर मांगता हूं कि तुम दोनों मेरे हाथ में मारे जाओ ॥२१।२७॥

मधु और कैटभ ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ! हमने कभी मैं भी असत्य बात नहीं कही है । हम दोनों को सत्य और धर्म बड़ा प्रिय है । हम बल, रूप, तपस्या और चरित्र में अद्वितीय हैं । इसलिए हम कभी यह वर देना अस्वीकार न करेंगे । हे केशव ! इस समय यह बड़ा अनर्थ उपस्थित हुआ है; किन्तु क्या किया जाय, काल को कोई टाल नहीं सकता । अब आप भी हमको अपने कहे के अनुसार वर दीजिए । हम आपसे यह वर मांगते हैं कि खुले स्थान में आप हमारा वध कीजिए और हम आपके पुत्र हों । हे देव ! हम चाहते हैं कि हमारा मांगा हुआ यह वर मिथ्या न हो ॥२८।३३॥

भगवान् ने कहा—यही होगा । जो वर तुमने मांगा है वह मैं तुमको देता हूँ । अब भगवान् सोचने लगे कि आकाश या पृथ्वी, सब स्थान जल से ढके हुए हैं । खुला स्थान कहीं नहीं देख पड़ता । तब उन्होंने अपनी जांघों पर उन असुरों के सिर रखकर पैने चक्र से काट डाले; क्योंकि यह स्थान खुला हुआ था ॥३४।३५॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥ २०३॥

अथ चतुराधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०४॥

मार्कण्डेय उवाच—धुंधुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १ ॥
अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥ २ ॥
देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥
एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥
स तु धुंधुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन्पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥ ५ ॥
स तु देवान्सगन्धर्वाञ्जित्वा धुंधुरमर्षणः ।
बबाध सर्वानसकृद्विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥ ६ ॥
समुद्रे वालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते ।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ॥ ७ ॥
बाधति स्म परं शक्त्या तमुत्तंकाश्रमं विभो ।
अंतर्भूमिगतस्तत्र वालुकांतर्हितस्तथा ॥ ८ ॥

दो सौ चार अध्याय ॥२०४॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! महाबली पराक्रमी धुन्धु उन्हीं मधु और कैटभ का बेटा था। धुन्धु ने एक पाँव से खड़े होकर बड़ा कठोर तप किया। तप करते-करते उसका शरीर ऐसा सूख गया कि नसें ही नसें रह गईं। ब्रह्मा जब प्रसन्न होकर उसे वर देने आये तब उसने कहा—हे भगवन् ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि देवता दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस आदि किसी के हाथ से मेरी मृत्यु न हो। "ऐसा ही होगा ; अब तुम जाओ" कहकर ब्रह्मा ने उसकी इच्छा पूर्ण कर दी। तब ब्रह्मा के चरणों में प्रणाम करके वह दैत्य वहाँ से चल दिया ॥१।५॥

हे राजेन्द्र ! महापराक्रमी धुन्धु को जब यह वर मिल गया तब पिता के वध से कुपित उस दानव ने विष्णु आदि सब देवताओं को हरा दिया। अब वह उन्हें और सब लोकों के रहनेवालों को सताने लगा। इसके बाद वह दुष्ट मरुधन्व प्रदेश के बालुकामय उज्जालक नामक स्थान में आकर बालू के

मधुकैटभयोः पुत्रो धुंधुर्भीमपराक्रमः ।
शेते लोकविनाशाय तपोवलमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
उत्तंकस्याऽऽश्रमाभ्याशे निःश्वसन्पावकार्चिषः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा सवलवाहनः ॥ १० ॥
उत्तंकविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः ।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ॥ ११ ॥
सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः ।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो वलशालिनाम् ॥ १२ ॥
तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उत्तंकस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १३ ॥
तस्मिन्प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुंधुमारो भविष्यति ॥ १४ ॥
दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समंतात्पर्यवारयन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ॥ १५ ॥
शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः ।
विपांसुलां महीं कुर्वन्ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १६ ॥
अंतरिक्षे विमानानि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यंत धुंधुर्यत्र महासुरः ॥ १७ ॥

नीचे रहने लगा। वहाँ रहकर वह उत्तङ्क ऋषि के तप में विघ्न करके उन्हें सताने लगा। वहाँ पर संसार के नाश के लिए तपोवल का आश्रय लेकर लेटे-लेटे वह अग्निशिखामय लम्बी लम्बी साँसें छोड़ने लगा ॥९।१०॥

इसी समय राजा कुवलाश्व उत्तङ्क ऋषि को और अपने इक्कीस हजार पुत्रों को साथ लेकर सेनासहित उसे मारने के लिए उसी स्थान पर पहुँचे। तब भगवान् विष्णु ने, उत्तङ्क को दिये हुए वर के अनुसार जगत् का हित करने के लिये, अपने तेज सहित कुवलाश्व के शरीर में प्रवेश किया। उस समय आकाश में देवताओं का यह शब्द सुन पड़ने लगा कि श्रीमान् कुवलाश्व का आज, धुन्धु दैत्य को मारने से, धुन्धुमार नाम हो जायगा। देवगण उन पर पुष्प बरसाने लगे। देवलोक के नगाड़े आप ही आप बजने लगे ॥११।१५॥

शीतल वायु धीरे-धीरे चलने लगी। इन्द्र ने जल बरसाकर पृथ्वी की धूल मिटा दी। देवता, महर्षि

कुवलाश्वस्य धुंधोश्च युद्धकौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन्महर्षयः ॥ १८ ॥
नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा ।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतोदिशम् ॥ १९ ॥
अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन्वै वालुकार्णवे ॥ २० ॥
सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुंधुर्महाबलः ।
आसीद्घोरं वपुस्तस्य वालुकांतर्हितं महत् ॥ २१ ॥
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ ।
ततो धुंधुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥ २२ ॥
सुप्तोऽभूद्राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ॥ २३ ॥
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥ २४ ॥
स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।
क्रुद्धश्चाऽभक्षयत्तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २५ ॥
आस्याद्वमन्पावकं स संवर्तकसमं तदा ।
तान्सर्वान्नृपतेः पुत्रानदहत्स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥

और यक्ष कौतूहलवश अपने-अपने विमानों पर बैठकर कुवलाश्व और धुन्धु का संग्राम देखने के लिए आकाश में आ गये । हे कौरव ! विष्णु के तेज से पूर्ण राजा कुवलाश्व ने वहा पहुँचकर अपने पुत्रों से उस स्थान को चारों ओर से खोदने के लिए कहा । वे सब मिलकर खोदने लगे ॥१६।२०॥

सात दिन तक लगातार खोदने पर उनको धुन्धु दैत्य देख पड़ा । हे भरतश्रेष्ठ ! उस दैत्य का शरीर बड़ा ही भयानक और सूर्य के समान चमकीला था । उस समय कालानल के समान प्रभावाला दैत्य पश्चिम दिशा में लेटा हुआ था । कुवलाश्व के वीर पुत्र चारों ओर से घेरकर गदा, मूसल, तीक्ष्ण वाण आदि से उस पर प्रहार करने लगे । महाबली धुन्धु कुपित होकर उनके विधि अस्त्र-शस्त्रों को मुँह फैलाकर निगलने लगा ॥२१।२५॥

उस दैत्य के मुँह से प्रलय काल की अग्नि के समान भयानक ज्वालाएँ निकलने लगीं । कपिल के कोप की अग्नि में जैसे सगर के साठ हज़ार पुत्र जल

मुखजेनाऽग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥ २७ ॥
सगरस्याऽऽत्मजान्क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥ २८ ॥
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुंभकर्णमिवाऽपरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २९ ॥
तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदाऽऽपीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ॥ ३० ॥
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ।
ब्रह्मास्त्रेण च राजेंद्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ॥ ३१ ॥
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै ।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महाऽसुरम् ॥ ३२ ॥
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवाऽपरः ।
धुंधोर्वधात्तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥ ३३ ॥
धुंधुमार इति ख्यातो नाम्नाऽप्रतिरथोऽभवत् ।
प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥ ३४ ॥
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्रांजलिः प्रणतस्तदा ।
अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

गये थे वैसे ही उस अग्नि में कुवलाश्व के सब पुत्र भस्म हो गये। हे भरतश्रेष्ठ! पुत्रों के जल जाने पर कुवलाश्व को क्रोध आ गया। सोकर जागे हुए दूसरे कुम्भकर्ण के समान भयानक दानव पर कुवलाश्व ने आक्रमण किया ॥२६।२९॥

तब धुन्धु के शरीर से बहुत सा जल निकलने लगा। राजा कुवलाश्व ने वह सब तेजोमय जल पी लिया। फिर उन्होंने योगबल से जल उत्पन्न करके उसके द्वारा दैत्य के मुख की वह भयङ्कर अग्नि बुझा दी। इन्द्रतुल्य राजा ने ब्रह्मास्त्र के द्वारा उस पराक्रमी देवशत्रु क्रूर दानव को भस्म कर डाला। इस प्रकार धुन्धु असुर को मारने के कारण राजा कुवलाश्व का नाम उस समय से धुन्धुमार हो गया ॥३०।३४॥

सब देवताओं और महर्षियों ने राजा के पास आकर, प्रसन्नता प्रकट करके, उनसे वरदान माँगने

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः ।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद्भूतेष्वद्रोह एव च ॥ ३६ ॥
धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाऽक्षयः ।
तथाऽस्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ॥ ३७ ॥
ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तंकेन च धीमता ।
संभाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥ ३८ ॥
देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाऽभवन् ॥ ३९ ॥
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चंद्राश्वश्चैव भारत ।
तेभ्यः परंपरा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।
एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥ ४१ ॥
धुंधुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः ।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुंधुमार इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदा प्रभृति सोऽभवत् ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥
धौंधुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।
इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम् ॥ ४४ ॥
शृणुयाद्यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।

के लिए कहा। राजा ने हाथ जोड़कर कहा—मैं यही वरदान माँगता हू कि मैं ब्राह्मणों को धन देकर सन्तुष्ट कर सकू, शत्रु लोग मुझे परास्त न करने पावें, विष्णु भगवान् के साथ मेरी मित्रता हो, मैं किसी प्राणी से द्रोह न करू, धर्म पर मेरा अनुराग हो और अन्त को मै स्वर्गलोक जाऊ। देवताओं ने उनको, उनके मागे हुए, सब वर दिये। उसके पश्चात् महात्मा उतङ्क, ऋषि और गन्धर्व अनेक आशीर्वाद देकर अपने अपने स्थान को गये ॥३५।३९॥

हे राजा युधिष्ठिर! कुवलाश्व के दृढ़ाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व नाम के तीन पुत्र जलने से बच गये थे। उन्हीं के वश से इक्ष्वाकुवश आगे चला और उसकी श्रीवृद्धि हुई। मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! मैंने धुन्धुमार का यह पवित्र उपा

आयुष्मान्भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ॥
न च व्याधिभयं किंचित्प्राप्नोति विगतज्वरः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

व्यान विस्तार के साथ तुमको सुना दिया। जो कोई उसे सुनता है वह धर्मात्मा होता है और सन्तान पाता है। पर्व के समय यह कथा सुनने से मनुष्य ऐश्वर्यशाली और दीर्घायु होता है। उसे किसी प्रकार की आधि या व्याधि का भय नहीं रहता॥४०।४५॥

—०—

वनपर्व का दो सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥२०४॥

अथ पंचाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०५॥

वैशम्पायन उवाच—ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥ १ ॥
श्रोतुमिच्छामि भगवन्स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ॥ २ ॥
प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यंति सत्तम ।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥
पिता माता च भगवान्गुरुरेव च सत्तम ।
यच्चाऽन्यदेव विहितं तच्चापि भृगुनंदन ॥ ४ ॥
मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यास्तथा स्त्रियः ।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥
पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो ।

दो सौ पाच अध्याय ॥ २०५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! धर्मसम्बन्धी प्रश्न करने की इच्छा से धर्मराज ने मार्कण्डेय मुनि से कहा—हे भगवन्! मैं आपके मुँह से सुनना चाहता हूँ कि पतिव्रता स्त्रियों का माहात्म्य क्या है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी, अग्नि, गाय, पिता-माता आदि गुरुजन, ये सब इस लोक में प्रत्यक्ष देवता हैं। पतिव्रता स्त्रियां भी गुरु के तुल्य पूजा और सम्मान के योग्य हैं। पति की सेवा करना पतिव्रताओं का अत्यन्त कठिन कार्य है। हे भगवन्! आप पतिव्रताओं का माहात्म्य मुझसे कहिए। इन्द्रियों को जीतकर और मन को मारकर पति को देवतुल्य माननेवाली पतिव्रताएँ धन्य हैं। पुत्र का पिता-माता की सेवा

निरुध्य चेंद्रियग्रामं मनः संरुध्य चाऽनघ ॥ ६ ॥
पतिं दैवतवच्चापि चिंतयंत्यः स्थिता हि याः ।
भगवन्दुष्करं त्वेतत्प्रतिभाति मम प्रभो ॥ ७ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज ।
स्त्रीणां धर्मात्सुघोराद्धि नाऽऽन्यं पश्यामि दुष्करम् ८ ॥
साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन्यत्कुर्वंति सदाऽऽदृताः ।
दुष्करं खलु कुर्वंति पितरं मातरं च वै ॥ ९ ॥
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदंत्युत ।
कुक्षिणा दशमासांश्च गर्भं संधारयंति याः ।१०॥
नार्यः कालेन संभूय किमद्भुततरं ततः ।
संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥ ११ ॥
प्रजायंते सुतान्नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णंति चापि महता स्नेहेन द्विजपुंगव ॥ १२ ॥
ये च क्रूरेषु सर्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वंति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥ १३ ॥
क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥ १४ ॥
एतदिच्छामि भगवन्प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।

करना और स्त्री का पति की सेवा करना, दोनों कार्य मुझे कठिन जान पड़ते हैं। पतिव्रता स्त्रिया श्रद्धा के साथ जिस धर्म का पालन करती हैं उससे बढ़कर कठिन काम मुझे दूसरा नहीं देख पड़ता। माता, पतिव्रता और सत्यवादिनी, इन तीनों का धर्म दुष्कर है। देखिए, पतिव्रता स्त्रियां यह क्या कम अद्भुत काम करती हैं कि [पति के समागम से] गर्भ रहने पर उसे दस महीने तक धारण किये रहती हैं ॥९।१०॥

फिर प्रसव की कठोर वेदना सहकर, प्राण-सङ्कट की परवा न करके, बच्चों को जनती हैं और फिर बड़े स्नेह से, आप कष्ट उठाकर भी, उन बच्चों को पालती हैं। जो स्त्रियां क्रूर पुरुषों की पत्नी होकर, गाली-निन्दा आदि सहकर भी, अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहती हैं, वे धन्य हैं। उनका कर्त्तव्य पालन मेरी समझ में अत्यन्त कठिन है। पतिव्रता माहात्म्य के सिवा क्षत्रियों के धर्म का तत्त्व भी मुझसे कहिए। हे भार्गवश्रेष्ठ! क्षत्रियों का स्वभाव या धर्म क्रूर कहा गया है। मुझे संशय है कि क्रूर

श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १५ ॥
मार्कंडेय उवाच—हंत तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १६ ॥
मातृस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥ १७ ॥
तपसा देवतेज्याभिर्वंदनेन तितिक्षया ।
अभिचारैरुपायैश्चाऽपीहंते पितरः सुतान् ॥ १८ ॥
एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिंतयंति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥ १९ ॥
आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजाधर्मं तथैव च ॥ २० ॥
तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेंद्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ॥ २१ ॥
इह प्रेत्य च तस्याऽथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।
नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ॥ २२ ॥
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

पुरुष कैसे धर्म कर सकता है ? उसके लिए तो धर्म एक दुर्लभ पदार्थ है । कृपा करके मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए ॥११।१५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजेन्द्र ! मैं तुम्हारे इस कठिन प्रश्न का उत्तर ठीक ठीक देता हूँ ; सुनो। हे महाराज ! कोई माता का दर्जा बड़ा समझते हैं और कोई पिता का महत्त्व अधिक मानते हैं । माता तरह-तरह के क्लेश सहकर सन्तान का लालन पालन करती है । उसका यह काम अवश्य ही कठिन है । पिता और माता दोनों,पुत्र के लिए तप, देव आराधना, देववन्दना, सहनशीलता और अन्य अनेक कठिन उपायों का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार दारुण क्लेश सहकर यदि पुत्र पाते हैं तो उन्हें फिर यह चिन्ता लगी रहती है कि यह पुत्र कैसा होगा । सच्चरित्र होगा, या चरित्रहीन ? हे राजा युधिष्ठिर ! पिता-माता सदा अपने पुत्र को यश, कीर्ति, ऐश्वर्य, धर्म और तेज से युक्त देखना चाहते हैं ॥१६।२०॥

जो पुत्र उनकी आशा को सफल करता है वही धर्मात्मा है । माता-पिता जिस पर नित्य प्रसन्न रहते हैं उसे इस लोक में अनन्त कीर्ति और उस लोक में अक्षय धर्म प्राप्त होता है । राजन् ! स्त्री के लिए यज्ञ, श्राद्ध, उपवास आदि का विशेष विधान नहीं

एतत्प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतामाहात्म्ये पंचाधिकद्विशततमोऽध्यायः२०५

है; यह केवल पति की सेवा से ही स्वर्गलोक को जीत लेती है। हे राजा युधिष्ठिर! मैं इसी प्रसङ्ग में पतिव्रताओं के धर्म और माहात्म्य का वर्णन करता हूँ, सुनो। ॥२१।२४॥

वनपर्व का दो सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥२०५॥

अथ षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०६॥

मार्कंडेय उवाच—कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥
सांगोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥ २ ॥
उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥
तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्धरणीतले ।
बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ॥ ५ ॥
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच—इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान्ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।

दो सौ छ अध्याय ॥ २०६ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! एक वेदपाठी, तपस्वी, धर्मात्मा कौशिक नाम के ब्राह्मण थे। वे एक समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए वेद पढ़ रहे थे। इस समय वृक्ष के ऊपर बैठे हुए बगले ने उनके शरीर पर बीठ कर दी। ब्राह्मण ने क्रोध करके उसकी ओर देखा तो वह पक्षी मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे मरकर पृथ्वी पर गिरते देख ब्राह्मण को दया आ गई और बड़ा पछतावा हुआ। वे कहने लगे—मैंने क्रोध के वश होकर बहुत बुरा काम कर डाला ॥१।६॥

ग्रामे शुचीनि प्रचरन्कुलानि भरतर्षभ ॥ ७ ॥
प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ॥ ८ ॥
शौचं तु यावत्कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नंतरे राजन्क्षुधा संपीडितो भृशम् ॥ ९ ॥
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ।
सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ॥१० ॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम् ।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ॥ ११ ॥
आहारेणाऽथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा ।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुंक्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥ १२ ॥
दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ।
कर्मणा मनसा वाचा नाऽन्यचित्ताऽभ्यगात्पतिम् ॥ १३ ॥
तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुंबस्य हितैषिणी ॥ १४ ॥
भर्तुश्चापि हितं यत्तत्सततं साऽनुवर्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! इस प्रकार बारम्बार खेद प्रकट करते हुए वे ब्राह्मण गांव में भिक्षा के लिए गये। वहां पवित्र आचारवाले गृहस्थों के द्वार पर वे भिक्षा के लिए फिरने लगे। घूमते-घूमते वे एक ऐसे गृहस्थ के घर पर गये, जिसके यहां वे पहले कई बार भिक्षा पा चुके थे। द्वार पर पहुँचकर उन्होंने भिक्षा के लिए आवाज़ लगाई। गृहस्थ की स्त्री ने कहा—हे महाराज ! मैं भिक्षा का पात्र मांज रही हूँ, दम भर ठहर जाइए। इसी बीच में उस स्त्री का स्वामी भूख से व्याकुल होकर बाहर से घर में आया। तब वह पतिव्रता स्त्री आये हुए पति को देखकर पाद्य, अर्घ्य, आचमन, आसन, मधुर भक्ष्यभोज्य वस्तुएं अर्पण करके उसकी सेवा करने लगी ॥७।११॥

उसने उन ब्राह्मण देवता को भिक्षा देने का कुछ विचार नहीं किया। वह स्त्री पतिव्रता, सदाचारिणी और कुटुम्ब का हित करनेवाली थी। वह पति को परम देवता समझकर अनन्य भाव से, मन-वाणी-काया से, पति की सेवा में तत्पर रहती थी। उसका सारा समय देवता, अतिथि, सेवक और

शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेंद्रिया ।
सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकांक्षिणम् ॥ १६ ॥
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराऽथ शुभेक्षणा ।
व्रीडिता साऽभवत्साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥ १७ ॥
ब्राह्मण उवाच—किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वरांगने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८ ॥
मार्कण्डेय उवाच—ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलंतमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येंद्र सांत्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
स्त्र्युवाच—क्षंतुमर्हसि मे विद्वन्भर्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः प्राप्तः श्रान्तः शुश्रूषितो मया ॥ २० ॥
ब्राह्मण उवाच—ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ॥ २१ ॥
इंद्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि ।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ॥ २२ ॥
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि ।
स्त्र्युवाच—नाऽहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ॥ २३ ॥

सास-ससुर की सेवा में व्यतीत होता था। पति की सेवा करते-करते उस पतिव्रता को उन भिक्षा माँगनेवाले ब्राह्मण का खयाल आ गया। तब वह बहुत लज्जित हुई और उसी समय पात्र में भिक्षा लेकर ब्राह्मण को देने गई। ब्राह्मण ने कहा—हे भद्रे। तुमने 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया ? समय नहीं है कहकर उसी समय विदा क्यों नहीं कर दिया ॥१२।१८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! ब्राह्मण को क्रोध और तेज से अग्नि के समान प्रज्वलित देखकर उन्हें शान्त करती हुई वह पतिव्रता स्त्री कहने लगी—हे विप्र ! आप विद्वान् हैं, इसलिए क्षमा कीजिए। स्वामी को मैं सबसे बढ़कर पूजनीय और परम देवता समझती हूँ। वे भूखे-प्यासे थके-माँदे बाहर से आये थे; मैं उनकी सेवा में लगी हुई थी। ब्राह्मण ने कहा—तुम ब्राह्मण को पूज्य नहीं मानती हो। तुम्हारी समझ में पति ही एकमात्र पूजनीय है। तुम गृहस्थ धर्म में रहकर ब्राह्मणों का अनादर करती हो। किन्तु मनुष्य की कौन कहे, इन्द्र भी ब्राह्मणों को देखकर प्रणाम करते हैं। हे

अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ।
नाऽवजानाम्यहं विप्रान्देवैस्तुल्यान्मनस्विनः ॥ २४ ॥
अपराधमिमं विप्र क्षंतुमर्हसि मेऽनघ ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् २५ ॥
अपेयः सागरः क्रोधात्कृतो हि लवणोदकः ।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ २६ ॥
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दंडके नोपशाम्यति ।
ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिः सुदुरात्मवान् ॥ २७ ॥
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ।
बहुप्रभावाः श्रूयंते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन्प्रसादश्च महात्मनाम् ।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन्क्षंतुमर्हसि मेऽनघ ॥ २९ ॥
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ॥ ३० ॥
अविशेषेण तस्याऽहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ॥ ३१ ॥

गर्वभरी स्त्री ! तुम क्या यह नहीं जानतीं कि ब्राह्मण अग्नि के समान होते हैं ? तुमने क्या बड़े बूढ़ों के मुँह से यह नहीं सुना कि ब्राह्मण कुपित होकर सम्पूर्ण पृथ्वी को भी भस्म कर सकते हैं ॥१९।२३॥

उस स्त्री ने कहा—हे द्विजवर ! मैं बगला नहीं हूँ, इसलिए क्रोध न कीजिए । आप क्रोध की दृष्टि से मेरा कुछ नहीं कर सकते । हे भगवन् ! देवतुल्य ब्राह्मणों का अनादर मैं नहीं करती । इसलिए आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिए । मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणों के तेज और महत्त्व को अच्छी तरह से जानती हूँ । इन ब्राह्मणों ने ही क्रुद्ध होकर समुद्र का जल खारी करके उसे पीने लायक नहीं रक्खा । ब्राह्मणों के क्रोध की अग्नि अब तक दण्डकारण्य में सुलग रही है । महात्मा ब्राह्मणों का तिरस्कार करने से ही क्रूर दुरात्मा असुर वातापि, महर्षि अगस्त्य के पेट में जाकर, पच गया । मैंने ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत कुछ सुना है । उनमें क्रोध भी बहुत है और क्षमा भी अपार है । इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि मेरे अपराध को क्षमा कीजिए । हे द्विज ! पति की सेवा को ही मैं सबसे बड़ा धर्म समझती हूँ । पति को ही मैं सब देवताओं से बड़ा देवता मानती हूँ । इसी कारण सबसे पहले मैं पति की ही सेवा करती हूँ ॥२४।३०॥

बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया ।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥ ३२ ॥
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ॥ ३३ ॥
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
जितेंद्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ३४ ॥
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यस्य चाऽऽत्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ॥ ३५ ॥
सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा ॥ ३६ ॥
दद्याद्वाऽपि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
ब्रह्मचारी वदान्यो योऽप्यधीयाद् द्विजपुंगवः ॥ ३७ ॥
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ॥ ३८ ॥
सत्यं तथा व्याहरतां नाऽनृते रमते मनः ।
धर्मं तु ब्राह्मणस्याऽऽहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मन्! पति-सेवा का प्रभाव देखिए। आपने क्रोध करके वन में बगले को जलाया है, यह हाल मुझे घर बैठे मालूम हो गया। हे द्विजश्रेष्ठ! क्रोध एक ऐसा शत्रु है जो मनुष्य के अपने ही शरीर में रहता है। जो कोई क्रोध और मोह को छोड़ सकता है, उसे ही देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। जो इस लोक में प्राणसङ्कट आ पड़ने पर भी सत्य ही बोलता है, सदा गुरु को प्रसन्न रखता है, किसी के द्वारा सताये जाने पर भी आप उसे पीड़ा नहीं पहुंचाता, उसी को देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। जो जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ, स्वाध्यायनिरत, पवित्रहृदय होकर काम और क्रोध को अपने वश में कर चुका है, उसे ही देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। जो सब लोगों को अपने समान जानता है, सब प्रकार के धर्म-कर्मों में प्रेम रखता है, उसी मनस्वी को देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। जो पढ़ता-पढ़ाता, यज्ञ करता-कराता और यथाशक्ति दान भी करता है, उसे ही देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। जिस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ब्रह्मचारी रहकर सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया है और जो सावधानी के साथ नित्य उनका स्वाध्याय करता है, उसे ही देवताओं ने ब्राह्मण कहा है। ब्राह्मण लोग सदा शुभ और सत्य वाक्यों का प्रयोग करते हैं; उनका मन कभी मिथ्या में नहीं

इंद्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ।
सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ॥ ४० ॥
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ॥ ४१ ॥
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भगवानपि धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ४२ ॥
न तु तत्त्वेन भगवन्धर्मं वेत्सीति मे मतिः ।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ॥ ४३ ॥
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।
मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेंद्रियः ॥ ४४ ॥
मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ॥ ४५ ॥
अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षंतुमर्हस्यनिंदित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्ममभिविंदते ॥ ४६ ॥
ब्राह्मण उवाच—प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।

रमता। हे द्विजवर! स्वाध्याय, क्रोधत्याग और इन्द्रिय-दमन ही ब्राह्मण का धन माना गया है। धर्मात्मा पुरुषों ने सत्य और सरलता को परम धर्म कहा है ॥३१।४०॥

हे भगवन्! सनातन धर्म को जानना बहुत कठिन है किन्तु संक्षेप में इतना जान लेना ही बहुत है कि वह धर्म सत्य में ही स्थित है। बड़े-बूढ़ों का उपदेश है कि श्रुति (वेद) ही धर्म के बारे में सर्वोपरि प्रमाण है। उस श्रुति में धर्म का वर्णन बहुत प्रकार से किया गया है। इसी से कहते हैं कि धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। हे भगवन्! आप भी धर्मात्मा, स्वाध्यायनिरत और पवित्र अर्थात् राग-द्वेष से बचे हुए हैं। परन्तु मैं तो यही कहूँगी कि धर्म के ठीक-ठीक तत्त्व का ज्ञान अभी आपको नहीं हुआ। हे विप्र! जो आप श्रेष्ठ धर्म के तत्त्व को नहीं जानते तो मिथिलापुरी में जाकर धर्मव्याध से पूछिए। वह आपको सब प्रकार के धर्म बता देगा। हे द्विज! आपका भला हो। जो आप धर्म को जानना चाहते हैं तो उस सत्यवादी, जितेन्द्रिय, पिता-माता की सेवा में तत्पर व्याध (बहेलिया) के पास जाइए। हे अनिन्दित! जो कुछ अनुचित या कड़ी बात मेरे मुँह से निकल गई हो, उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ। धर्मात्मा पुरुष स्त्रियों को अवध्य कह गये हैं, इस कारण आपको क्षमा करना

उपालंभस्त्वयाऽत्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ॥ ४७ ॥
मार्कंडेय उवाच—तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिंदन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥ ४८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्याय २०६

चाहिए ॥४१।४६॥

ब्राह्मण ने कहा—हे शुभरूपिणी ! तुम्हारा भला हो । मेरा क्रोध जाता रहा । मै तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम्हारे इन कड़े वचनों से मेरी बहुत भलाई हुई । हे शुभ ! अब मैं अपना काम करने जाता हूँ । मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! वे कौशिक ऋषि अपनी निन्दा और उस पतिव्रता की प्रशसा करते-करते अपने घर को गये ॥४७।४८॥

वनपर्व का दो सौ छ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०६॥

अथ सप्तधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२०७॥

मार्कंडेय उवाच—चिंतयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिंदन्स स्वमात्मानमागस्कृत इवाऽऽबभौ ॥ १ ॥
चिंतयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाऽब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन वै भाव्य गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥
कृतात्मा धर्मवित्तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टु तपोधनम् ॥ ३ ॥
इति संचिंत्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनाऽसौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ॥ ४ ॥
संप्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।

दो सौ सात अध्याय ॥२०७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजेन्द्र ! पतिव्रता के उस विचित्र कथन को सुनकर उस पर विचार करने से कौशिक ने अपने को ही अपराधी पाया। उन्होंने अपनी निन्दा की और धर्म की सूक्ष्म गति पर विचार करते करते मन में सोचा कि उस पतिव्रता की बात पर श्रद्धा करके मिथिलापुरी में अवश्य जाना चाहिए । मैं अभी मिथिला में जाकर धर्मतत्त्व के ज्ञाता, पवित्रहृदय, धर्मव्याध से धर्म के सम्बन्ध में बातचीत करूँगा । हे राजा युधिष्ठिर ! उस पतिव्रता ने घर बैठे बगला मारने का हाल कह दिया था और उसके वचन भी धर्मयुक्त थे, इसी से ब्राह्मण को उसकी बातों पर श्रद्धा हो गई थी । मन में

अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ॥ ५ ॥
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ॥ ६ ॥
गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ॥ ७ ॥
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥ ८ ॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद्बहुवृत्तांतां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥
धर्मव्याधमपृच्छच्च स चाऽस्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥ १० ॥
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणंतं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतॄणामेकांते संस्थितो द्विजः ॥ ११ ॥
स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा संभ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥

व्याध उवाच—अभिवादये त्वां भगवन्स्वागतं ते द्विजोत्तम ।

धर्मव्याध से उपदेश प्राप्त करने का निश्चय करके कौशिक मिथिलापुरी के लिए चल दिये । मार्ग में अनेक गाँव, नगर और वन लाँघते हुए वे राजा जनक की मिथिलापुरी में पहुँचे ॥१।५॥

ब्राह्मण ने जनक के द्वारा रक्षित मिथिलापुरी में जाकर देखा कि उसमें अनेक धर्मसेतु, नगर के फाटक, अट्टालिका, सुन्दर सतखण्डे महल, चौड़ी सड़कें और बाज़ार बने हुए हैं । चारों ओर यज्ञों और उत्सवों की धूम मची हुई है । उसके चारों ओर सुन्दर चहारदीवारी है । चारों ओर हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों की भीड़ लगी हुई है । हाथी, घोड़े, रथ और योद्धाओं की वहाँ कमी नहीं है । बाज़ारों में बिक्री की वस्तुओं के ढेर लगे हुए हैं। उस नगरी में नित्य उत्सवों की धूम रहती थी । यहाँ जाकर कौशिक ने ब्राह्मणों से धर्मव्याध का पता पूछा । ब्राह्मणों से उसका पता पाकर वे स्थान में पहुँचे जहाँ पशुओं की हत्या होती थी । कौशिक ने वहाँ जाकर देखा कि धर्मव्याध मृग और भैंसे आदि का मांस बेच रहा है और उसके आसपास ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है । यह देखकर कौशिक एक किनारे खड़े हो गये ॥६।११॥

उनको आया हुआ जानकर व्याध शीघ्रता से

अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम्। १३ ॥
एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहाऽऽगतः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा च तस्य तद्वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिंतयत द्विजः ॥ १५ ॥
अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन्यदि ते रोचतेऽनघ ॥ १६ ॥
मार्कंडेय उवाच—बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥ १७ ॥
प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाऽभिपूजितः ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः ॥ १८ ॥
ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद्वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १९ ॥
व्याध उवाच—कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ २० ॥

उठ खड़ा हुआ। उसने उनके पास आकर प्रणाम करके कहा—हे भगवन्! आइए। आप सकुशल तो हैं? मैं आपको प्रणाम करता हू। मैं ही धर्मव्याध हू। मुझे मालूम है, पतिव्रता ने आपसे मिथिला में आने के लिए कहा है। आप जिसलिए आये हैं वह भी मैं जानता हू। यह सुनकर कौशिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन में कहने लगे कि यह दूसरी विचित्रता देखने को मिली। यह व्याध पहले से ही मेरे आने का हाल और मेरी इच्छा जानता है। फिर धर्मव्याध ने कहा—हे भगवन्! यह स्थान आपके ठहरने योग्य नहीं है, इसलिए आपको पसन्द हो तो मेरे घर पर चलिए ॥१२।१६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! कौशिक प्रसन्नतापूर्वक व्याध के घर जाने को तैयार हो गये। व्याध उनको अपने घर ले गया। ब्राह्मण ने उसके मनोहर भवन में जाकर उसके दिये हुए आसन, पाद्य, अर्घ्य आदि को ग्रहण किया। इस प्रकार पूजित होकर जब कौशिक सुख से आसन पर बैठे तब उन्होंने व्याध से कहा—यह मांस बेचने का काम मुझे तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता। तुमको इस घोर कर्म में लगे हुए देखकर मुझे बड़ा खेद हो रहा है ॥१७।१९॥

व्याध ने कहा—ब्रह्मन्! यह काम मेरे बाप

विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ॥ २१ ॥
सत्यं वदे नाऽभ्यसूये यथाशक्ति ददानि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ॥ २२ ॥
न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ॥ २३ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दंडनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ॥ २४ ॥
कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मंत्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ २५ ॥
राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित्तान्युनक्ति स्वकर्मसु ॥ २६ ॥
भेतव्यं हि सदा राज्ञां प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयंति विकर्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः ॥ २७ ॥

दादों से होता चला आ रहा है। मेरे कुल की यही जीविका है। मैं अपने कुलोचित धर्म का पालन कर रहा हूँ, इसलिए आप मुझ पर क्रोध न करें। विधाता ने इस कुल में उत्पन्न करके जो कर्म मेरे लिए नियत कर दिया है उसे करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिता की सेवा मन लगाकर करता रहता हूं। मैं यथाशक्ति दान भी करता हूं और सत्य बोलता हूं। भूलकर भी ईर्ष्या को हृदय में स्थान नहीं देता। देवता, अतिथि और सेवकों (जिनका भरण-पोषण करना है) को खिलाकर जो बचता है उसे खाता हूं। किसी की बुराई या निन्दा नहीं करता। हे विप्र ! पूर्वकृत कर्म के अनुसार कर्ता को उसका फल भोगना पड़ता है ॥२०।२३॥

खेती, गोपालन, वाणिज्य और दण्डनीति, ये वृत्तियां इस लोक की हैं और त्रयी विद्या परलोक का साधन है। शूद्र का कर्म सेवा है। वैश्य का कर्म खेती है। क्षत्रिय का कर्म संग्राम है और ब्राह्मण का कर्म ब्रह्मचर्य, तप, मन्त्र-जप और सत्य है। राजा धर्मानुसार अपने कर्म में लगी हुई प्रजा का पालन करता है और जो प्रजा अपने कर्म को छोड़े हुए है उसे शासन के द्वारा अपने कामों में लगाता है। इसलिए राजाओं से सदा डरते रहना चाहिए; क्योंकि वे प्रजा के स्वामी हैं। जो लोग अपने कर्म को छोड़ देते हैं उन्हें राजा लोग उसी तरह नष्ट कर देते हैं जैसे शिकारी लोग मृगों को बाणों से मार डालते हैं ॥२४।२६॥

हे ब्राह्मण ! महाराज जनक के राज्य में कोई

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २८ ॥
स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत्सुतम् ।
दंड्यं दंडे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ॥ २९ ॥
सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दंडश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥ ३० ॥
राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छंति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३१ ॥
परेण हि हतान्ब्रह्मन्वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३२ ॥
न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ॥ ३३ ॥
अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतिश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ॥ ३४ ॥
अभिचारान्नरेंद्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्तते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ॥ ३५ ॥
भेरुंडा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।

ऐसा नहीं है जो अपना कुलोचित कर्म छोड़कर दूसरे वर्ण का काम करता हो। सभी वर्ण अपने-अपने काम करते हैं। दुराचारी और दण्डयोग्य अपने पुत्र को भी राजर्षि जनक क्षमा नहीं करते; वैसे ही धर्मात्मा शत्रु को भी पीड़ा नहीं पहुँचने देते। राजा जनक जासूसों के द्वारा सब सूचना रखते हैं। वे लक्ष्मी, राज्य और दण्ड में धर्म का व्यवहार रखते हैं—किंचित्मात्र भी अधर्म नहीं होने देते; क्योंकि अपने धर्म का पालन करने में ही राजाओं की लक्ष्मी बढ़ती है। हे भगवन्! राजा सभी वर्णों की रक्षा करनेवाला होता है ॥२७।३१॥

देखिए, मैं न तो कभी पशुओं की हत्या करता हूँ और न मांस खाता हूँ। मैं दूसरों के मारे हुए पशुओं का ही मांस बेचता हूँ। मैं शास्त्रानुसार ऋतुकाल में स्त्री-गमन करता हूं। मैं सदा उपवास और रात्रि को नियत समय पर भोजन करता हूं। दुश्चरित्र होने पर भी पुरुष सच्चरित्र हो सकता है। प्राणियों की हिंसा में तत्पर पुरुष भी धर्मात्मा हो सकता है। हे भगवन्! राजा के अत्याचार से धर्म की हानि और अधर्म का प्रचार होता है, जिससे प्रजा के विचार

क्लीवाश्चांऽधाश्च बधिरा जायंतेऽत्युच्चलोचनाः ॥ ३६ ॥
पार्थिवानामधर्मत्वात्प्रजानामभवः सदा ।
स एव राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ॥ ३७ ॥
अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा ।
ये चैव मां प्रशंसंति ये च निंदंति मानवाः ॥ ३८ ॥
सर्वान्सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम् ।
ये जीवंति स्वधर्मेण संयुंजंति च पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
न किंचिदुपजीवंति दांता उत्थानशीलिनः ।
शक्त्याऽन्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता ॥ ४० ॥
यथार्हं प्रतिपूजा च सर्वभूतेषु वै सदा ।
त्यागान्नाऽन्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठंति पूरुषे ॥ ४१ ॥
मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरंभान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ४२ ॥
प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ॥ ४३ ॥
कर्म चेत्किंचिदन्यत्स्यादितरन्न तदाचरेत् ।

भी ओछे हो जाते हैं ॥३२।३५॥

राजा क अधर्म से प्रजा भी जब अधर्म करने लगती है, तब राज्य में सब जगह कुबड़े, बौने, भयानक रूपवाले, अन्धे, बहरे, बेडौल सिरवाले, विकृत नेत्रोंवाले और नपुसक पुरुष अधिक सख्या में उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि राजा के अधर्मी होने से ही प्रजा का अमङ्गल होता है। किन्तु इस राज्य में राजा जनक सदा धर्म के अनुसार स्वधर्मनिष्ठ प्रजा का पालन करते हैं और उस पर कृपा रखते है। हे महाशय! मैं अपनी प्रशसा और निन्दा करनेवाले, दोनों प्रकार के लोगों का अच्छे कामों से, अच्छे व्यवहार से, सन्तुष्ट रखता हू। जो दानी और अभ्युदयशाली राजा अपने धर्म में लगे रहकर प्रजा का पालन करते हैं वे धन्य हैं। अपनी शक्ति के अनुसार अन्न देना, सहनशीलता अर्थात् क्षमा, सदा धर्म में विश्वास, योग्य पुरुषों का सत्कार और सब प्राणियों से दया का व्यवहार आदि सब सद्गुण केवल त्यागगुण के आधीन हैं ॥३६ ४१॥

असत्य न बोलना चाहिए। किसी के कहे विना ही उसका प्रिय करना चाहिए। काम, भय या द्वेष के कारण अपना धर्म न छोड़ना चाहिए। प्रिय होने

यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्राऽऽत्मानं नियोजयेत् ॥ ४४ ॥
न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥ ४५ ॥
कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसंति ये ॥ ४६ ॥
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यंति न संशयः ।
महादृतिरिवाऽऽध्मातः पापो भवति नित्यदा ॥ ४७ ॥
मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत् ।
दर्शयत्यंतरात्मा ते दिवा रूपमिवांऽशुमान् ॥ ४८ ॥
न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह मृजाहीनः कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ४९ ॥
अब्रुवन्कस्यचिन्निंदामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद्गुणसंपन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥ ५० ॥
विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते ।
न तत्कुर्यां पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ॥ ५१ ॥
कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम ।

पर अत्यन्त प्रसन्न होना और अप्रिय होने पर अत्यन्त सन्ताप करना उचित नहीं। अर्थकष्ट हो जाने पर न तो व्याकुल हो जाना चाहिए और न अपने धर्म को ही छोड़ना चाहिये। यदि कभी कोई निन्दित कर्म हो भी जाय तो फिर उससे बचकर अच्छा काम ही करना चाहिए। जिसमें अपना भला समझ पड़े उसी में मन को लगाना चाहिए। यदि कोई पापी पुरुष अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसके साथ आप भी बुरा करने के लिए तयार न हो; उसके साथ भी भलाई ही करे, जो पाप या बुरा कर्म करता है, वह अपने पाप से आप ही नष्ट हो जाता है। बुरा करना नीच पुरुषों का काम है, सज्जनों का काम नहीं है। जो लोग "धर्म कोई वस्तु नहीं है" ऐसा मानकर सज्जनों को हँसते हैं और धर्म के ऊपर अश्रद्धा प्रकट करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। पापी लोग लुहार की धौंकनी के समान भीतर से असार होने पर भी बाहर से फूले देख पड़ते हैं। अहङ्कारी मूढ़ पुरुषों की हर बात निस्सार होती है। सूर्य जैसे दिन के रूप को प्रकट कर देते हैं, वैसे उनका अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ रूप को प्रकट कर देता है। मूर्ख पुरुष लाख अपनी प्रशंसा करे और ठाठ से रहे, पर जगत् में उसका आदर नहीं होता। विद्वान् व्यक्ति ठाठ से न रहने पर भी

एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते ॥ ५२ ॥
पापान्यबुध्वेह पुराकृतानि प्राग्धर्मशीलोऽपि विहंति पश्चात् ।
धर्मो राजन्नुदते पूरुषाणां यत्कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५३ ॥
पापं कृत्वा हि मन्येत नाऽहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यंति स्वस्यैवांऽतरपूरुषः ॥ ५४ ॥
चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव च्छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥ ५५ ॥
पापं चेत्पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चंद्रमाः ॥ ५६ ॥
यथाऽऽदित्यः समुद्यन्वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यंति नरा नाऽतिबहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

दस मनुष्यों के बीच छिपा नहीं रहता और सब लोग उसका आदर करते हैं । विद्वान् पुरुष न तो अपनी प्रशंसा करते हैं और न किसी दूसरे की निन्दा ही करते हैं । इस संसार में सब गुणों से युक्त होकर सबके बीच प्रतिष्ठा प्राप्त करना सम्भव नहीं है । कुकर्म हो जाने पर उसके लिए पछतावा करने से उसका प्रायश्चित्त हो जाता है । "अब कभी ऐसा न करूँगा" यों सोचने से मनुष्य जिस कुकर्म को कर रहा हो उससे छुटकारा पा जाता है । ब्रह्मन् ! धर्म के सम्बन्ध में जो श्रुतियां हैं उनमें यह विधान पाया जाता है कि इस प्रकार हो चुके कुकर्म के लिए पछतावा और हो रहे कुकर्म के लिए फिर वैसा न करने का सङ्कल्प करने पर जप, तप, तीर्थस्नान आदि कोई भी कर्म करके मनुष्य उस पाप से छुटकारा पा जाता है ॥४२।५२॥

हे महाशय ! धर्मात्मा पुरुष से जो भ्रमवश कोई पाप-कर्म हो भी जाय तो वह उस पाप को नष्ट कर सकता है; क्योंकि धर्म ही मूल से होनेवाले पाप को नष्ट कर देता है । कोई पाप-कर्म यदि अपने से हो भी जाय तो "मैंने यह काम नहीं किया" यों कहना उचित नहीं है; क्योंकि सब देवता और अपना आत्मा उसको देखता है । जो पुरुष श्रद्धापूर्वक ईर्ष्या छोड़कर औरों का भला करना चाहता है वह धन्य है । जो पापी अपने दोषों पर दृष्टि न डालकर सज्जनों के दोषों को—साधारण त्रुटियों को—बढ़ा-चढ़ाकर सबके आगे प्रकट करता है उसका परलोक नष्ट हो जाता है । हे भगवन् ! जो कोई पाप हो जाने पर फिर धर्म का आचरण करता है वह, बादलों के बीच से चन्द्रमा के समान, पापों से छुटकारा पा जाता है। जैसे सूर्य का उदय होने पर सब

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवाऽऽवृताः ।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५९ ॥
मार्कंडेय उवाच—स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ ६० ॥
एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर ।
त्वत्तो महामते व्याध तद्ब्रवीहि यथातथम् ॥ ६१ ॥
व्याध उवाच—यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६२ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दंभं लोभमनार्जवम् ।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ६३ ॥
न तेषां विद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥ ६४ ॥
गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मञ्शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६५ ॥

अँधेरा मिट जाता है, वैसे ही धर्म का आचरण करने पर पहले के किये सब पाप नष्ट हो जाते हैं। हे द्विजश्रेष्ठ ! लोभ को सब पापों की जड़ समझो। इसलिए विद्वान् को इन दोनों से बचना चाहिए। जिन्होंने शास्त्र की बातों को अधिक नहीं सुना वे अधकचरे मनुष्य लोभ के फेर में पड़कर पापकर्म करने लगते हैं। घास फूस से ढके हुए कुएँ के समान वे अधर्मी अपने को धर्म के ढोंग (पाखण्ड) से छिपाये रहते हैं। बाहर से देखने पर वे जितेन्द्रिय और पवित्र जान पड़ते हैं, और धर्मसम्बन्धी बातें भी बहुत बघारा करते है, किन्तु उनके हृदय मे और कामों में शिष्टाचार का लेश नहीं होता ॥५२।५९॥

मार्कण्डय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! उक्त महा बुद्धिमान् ब्राह्मण ने धर्मव्याध से पूछा—हे धर्म करनेवालों में श्रेष्ठ ! शिष्टाचार क्या है ? यह विषय मुझे अच्छी तरह समझाओ। व्याध ने कहा—हे ब्राह्मण ! यज्ञ, दान, तप, वेद और सत्य, ये पाच शिष्टाचार के पवित्र साधन है। शिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषों की सम्मति में वे ही शिष्ट पुरुष हैं जो काम, क्रोध, दम्भ, लोभ और क्रूरता को छोड़कर अपने धर्म में ही सन्तुष्ट रहते हैं ॥६०।६३॥

यज्ञ और स्वाध्याय करनेवाले शिष्ट पुरुष दूसरा आचार नहीं मानते। आचार का पालन करना भी शिष्ट का एक लक्षण है। गुरुजन की सेवा, सत्य,

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥ ६६ ॥
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषत्त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६७ ॥
ये तु धर्मानसूयंते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥ ६८ ॥
ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपंथानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ६९ ॥
नियच्छंति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ७० ॥
नास्तिकान्भिन्नमर्यादान्क्रूरान्पापमतौ स्थितान् ।
त्यज ताञ्ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ७१ ॥
कामलोभग्रहाकीर्णां पंचेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ ७२ ॥
क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत्साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥ ७३ ॥

क्रोध-हीनता और दान, इनकी भी गिनती शिष्टाचार में की जाती है। शिष्टाचार में मन लगाने में मनुष्य को जो सन्तोष मिलता है, वह और किसी तरह नहीं प्राप्त होता। वेद का सारांश सत्य है, सत्य का सारांश इन्द्रियों का दमन है, दमन का सारांश त्याग है। ये तीनों बातें शिष्टाचार में हैं ॥६४।६७॥

जो मनुष्य भ्रमवश धर्म को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं उन कुमार्ग पर चलनेवालों का साथी भी कष्ट पाता है; किन्तु जो लोग शिष्ट, संयमी, वेदपाठी, त्यागी, धर्म के मार्ग पर चलनेवाले, सत्य धर्म के अनुरागी हैं, और आचार्य से धर्म का उपदेश पाकर लोकस्थिति से धर्म-अर्थ का निर्णय करनेवाले हैं उन्हीं सदाचारी महात्माओं को अपनी बुद्धि का नियामक समझना चाहिए अर्थात् उन्हीं के पीछे चलना चाहिए।६८।७०।

हे कौशिक! आप ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर नास्तिक, लोकमर्यादा को तोड़नेवाले, क्रूर और पाप बुद्धिवाले पुरुषों का सङ्ग छोड़कर धर्मात्मा पुरुषों का सत्सङ्ग कीजिए। यह शरीर एक नदी है। इसमें काम, लोभ आदि मगर-मच्छ रहते हैं। जल के स्थान पर इसमें आख आदि पांचों इन्द्रियां हैं। जन्म का बारम्बार होना ही इसका दुर्गम स्थान है। आप धैर्य की नाव का सहारा लेकर इस नदी से पार जाइए।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ७४ ॥
सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ।
आचारश्च सतां धर्मः संतश्चाऽऽचारलक्षणाः ॥ ७५ ॥
यो यथाप्रकृतिर्जंतुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ।
पापात्मा क्रोधकामादीन्दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥ ७६ ॥
आरंभो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ ७७ ॥
अक्रुध्यंतोऽनसूयंतो निरहंकारमत्सराः ।
ऋजवः शमसंपन्नाः शिष्टाचारा भवंति ते ॥ ७८ ॥
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवंतो मनस्विनः ।
गुरुशुश्रूषवो दांताः शिष्टाचारा भवंत्युत ॥ ७९ ॥
तेषामहीनसत्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं संप्रणश्यति ॥ ८० ॥

श्वेत वस्त्र जैसे रङ्ग चढ़ने पर अच्छा लगता है, वैसे शिष्टाचारवाले पुरुष पर बुद्धि-योग से युक्त धर्म का रङ्ग चढ़ने से उसकी प्रशंसा होती है। अहिंसा और सत्य बोलना, इन दोनों से प्राणियों का हित होता है। अहिंसा परम धर्म है। उसकी स्थिति सत्य में है। सब प्रवृत्तिया सत्य का आश्रय लेकर अपना-अपना काम करती हैं। शिष्टाचारयुक्त सत्य का ही सबसे बढ़कर गौरव है। सज्जनों का आचार ही धर्म है; आचार ही सज्जनों का लक्षण है ॥७१।७५॥

हे भगवन्! जिसका जैसा स्वभाव होता है वह उसी के अनुसार चलता है। इसी कारण इन्द्रियों के अधीन पापी पुरुष काम-क्रोध आदि दोषों को ग्रहण करते हैं। शिष्ट पुरुषों का कहना है कि न्याय-सङ्गत कार्य ही धर्म है और आचार के विपरीत कार्य ही अधर्म है। जो लोग शिष्टाचार (गुरु और शास्त्र की आज्ञा) को मानते है वे क्रोध और ईर्ष्या से रहित, अहङ्कार और मत्सर से शून्य, सरल, शान्त, वेद-विहित यज्ञ आदि कर्म करनेवाले, पवित्रहृदय, सच्चरित्र, उदार, जितेन्द्रिय और गुरुसेवा में तत्पर होते हैं। उनका हृदय दुर्बल नहीं होता। उनका आचार और उनके कर्म औरों के लिए कठिन होते हैं। अपने किये कर्मों से ही वे सत्कार पाते हैं। उनके हिंसा आदि घोर कर्मों के दोष आप ही नष्ट हो जाते है ॥७६।८०॥

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
धर्मं धर्मेण पश्यंतः स्वर्गं यांति मनीषिणः ॥ ८१ ॥
आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसंपन्नाः संतः स्वर्गनिवासिनः ॥ ८२ ॥
वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चाऽपरः ।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
पारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥ ८३ ॥
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।
सर्वभूतदयावंतो अहिंसानिरताः सदा ॥ ८४ ॥
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।
शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ॥ ८५ ॥
विपाकमभिजानंति ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ।
न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥ ८६ ॥
संतः स्वर्गजितः शुक्लाः सन्निविष्टाश्च सत्पथे ।
दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥ ८७ ॥
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।

ज्ञानी लोग न्याय के अनुसार ही उस सदाचार-रूपी अद्भुत, अनादि, अविनाशी, नित्यधर्म को देखकर, अर्थात् उसका आचरण कर, स्वर्गलोक को जाते हैं। जो साधु पुरुष आस्तिक, अभिमान-शून्य ब्राह्मणों का आदर करनेवाले, शास्त्र के ज्ञाता और सच्चरित्र हैं उन्हीं को स्वर्ग में स्थान मिलता है। वेदोक्त (अग्निहोत्र आदि), शास्त्रोक्त (अष्टका श्राद्ध आदि) और शिष्ट जनों द्वारा आचरित (होलकादि), ये तीन धर्म के लक्षण है। शिष्ट पुरुष इन तीनों का पालन करके सन्तोष प्राप्त करते हैं। सब विद्याओं का अध्ययन, सब तीर्थों में स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच, ये शिष्टाचार के लक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि शिष्ट वही हैं जो अहिंसापरायण होकर सब प्राणियों पर दया रखते हैं, किसी से कठोर वचन नहीं कहते; ब्राह्मणों का प्रिय करते हैं, शुभाशुभ कर्मों के फल-सञ्चय से सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम को विशेष रूप से जानते हैं और न्यायपरायण हैं ॥८१।८६॥

जो लोग सबके हितचिन्तक हैं, श्रेष्ठ स्वभाव-वाले है, अपने कर्मो से स्वर्गलोक को जीत लेनेवाले हैं, सत्वगुणयुक्त हैं, सत्पथ पर चलते हैं, दाता हैं, केवल अपना ही पेट भर लेने की प्रवृत्ति नहीं रखते,

सर्वभूतदयावंतस्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ८८ ॥
दीनशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवंतीह च श्रियम् ।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ॥ ८९ ॥
अतिशक्त्या प्रयच्छंति संतः सद्भिः समागताः ।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ॥ ९० ॥
एवं संतो वर्तमानास्त्वेधंते शाश्वतीः समाः ।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथाऽऽर्जवम् ॥ ९१ ॥
अद्रोहो नाऽभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।
धीमंतो धृतिमंतश्च भूतानामनुकंपकाः ॥ ९२ ॥
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते संतो लोकसाक्षिणः ।
त्रीण्येव तु सतामाहुः संतः पदमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥
न चैव द्रुह्येद्दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ।
सर्वत्र च दयावंतः संतः करुणवेदिनः ॥ ९४ ॥
गच्छंतीह सुसंतुष्टा धर्मपंथानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥ ९५ ॥
अनसूया क्षमा शांतिः संतोषः प्रियवादिता ।

दीन जनों पर कृपा करते हैं, सबके पूजनीय और तपस्वी हैं, तथा विद्या (ज्ञान) को ही धन मानते हैं, वे ही शिष्ट हैं। जो शिष्ट पुरुष हैं वे सदा दान धर्म का अनुष्ठान करके इस लोक में सम्पत्ति और मृत्यु के पश्चात् सुखमय लोक पाते हैं। जो लोग स्त्री-पुत्र आदि पालनीय जनों की पीड़ा का भी विचार न करके—अपनी शक्ति से बढ़कर भी—दान के द्वारा साधु जनों की प्रार्थना पूरी करते हैं और लोकस्थिति, धर्म तथा अपने कल्याण का खयाल रखते हैं वे ही साधु हैं, उन्हीं का सदा अभ्युदय होता है ॥८७।९०॥

जो सज्जन हिंसा, द्वेष, निष्ठुरता, द्रोह, काम, अभिमान आदि दोषों से रहित हैं, और सत्यवचन, सरलता, लोकलज्जा, क्षमा, शान्ति, दम, बुद्धि, धैर्य, जीवदया आदि गुणों से युक्त हैं, उन्हीं का सर्वत्र सब लोग आदर और सत्कार करते हैं। दान करना सत्य बोलना और किसी से द्रोह न करना, यही, तीन सज्जनों के साधारण लक्षण हैं। जिन महात्माओं ने धर्म के सम्बन्ध में निश्चय कर लिया है वे सब पर दया रखते हैं, करुणा से पूर्ण होते हैं, किसी का कष्ट नहीं देख सकते और शिष्टाचार के अनुयायी होकर धर्म के मार्ग पर चलते हैं। ईर्ष्या

कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९६ ॥
कर्म च श्रुतसंपन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।
शिष्टाचारं निषेवंते नित्यं धर्ममनुव्रताः ॥ ९७ ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यंते महतो भयात् ।
प्रेक्षंतो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥ ९८ ॥
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन्पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९९ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः२०७

न करना, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रिय वचन बोलना, काम और क्रोध का त्याग, शिष्टाचार और शास्त्र के अनुकूल कर्म करना, ये साधुओं के स्वभावसिद्ध गुण हैं। वे नित्य-धर्म का अनुसरण करते हुए शिष्टाचाररूपी श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हैं, प्रज्ञारूपी महल पर चढ़कर अनेक प्रकार के लोकचरित्रों को देखते हैं और इस प्रकार पाप-पुण्य का विचार करके महाभय से छुटकारा पा जाते हैं। हे द्विजश्रेष्ठ! मैंने जैसा सुना था और मुझे जैसा मालूम है, उसके अनुसार मैंने आपके आगे शिष्टाचार का वर्णन कर दिया ॥९१।९०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥२०७॥

अथ अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०८॥

मार्कंडेय उवाच—स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥ १ ॥
विधिस्तु बलवान्ब्रह्मन्दुस्तरं हि पुराकृतम् ।
पुराकृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ॥ २ ॥
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन्विघाते यत्नवानहम् ।
विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ॥ ३ ॥

दो सौ आठ अध्याय ॥२०८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! धर्मव्याध फिर कौशिक से कहने लगा—ब्रह्मन्! मेरा यह मांस बेचने का रोजगार सचमुच घोर कर्म है, परन्तु दैव बड़ा बली है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल अवश्य भोगना ही पड़ता है, उसे कदापि कोई टाल नहीं सकता। पहले जन्म के किये पापकर्म का फल

निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ॥ ४ ॥
तेषामपि भवेद्धर्म उपयोगेन भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ॥ ५ ॥
ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ६ ॥
आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान्द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
राज्ञो महानसे पूर्वं रंतिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा ॥ ८ ॥
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा ।
समांसं ददतो ह्यन्नं रंतिदेवस्य नित्यशः ॥ ९ ॥
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम ।
चातुर्मास्ये च पशवो वध्यंत इति नित्यशः ॥ १० ॥
अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन्वध्यंते सततं द्विजैः ॥ ११ ॥

मैं भोग रहा हूँ, किन्तु मैं इस दोष को मिटाने के लिए बराबर यत्न कर रहा हूँ। और सत्य पूछो तो हम लोग इस कर्म के निमित्त मात्र हैं। विधाता ने जिसकी जब मृत्यु लिख दी है तभी उसको घातक मारता है और मैं उसका मांस बेचता हूँ। हे विप्र! श्रुति में भी लिखा है कि ओषधि (अन्न), लता, पशु, पक्षी और मृग, ये सब अन्न के समान मनुष्य का आहार हैं। फिर हम लोग जिन पशुओं को मार कर उनका मांस बेचते हैं उन्हें भी—देवता, अतिथि भृत्य और पितरों की पूजा और भोजन के काम में लगाने से—धर्म का अंश मिलता है। देखो, उशीनर के पुत्र क्षमाशील शिवि ने अपना मांस देकर दुर्लभ देवलोक पाया है। पूर्व समय में राजा रन्तिदेव की पाकशाला के लिए नित्य दो हज़ार पशुओं की हत्या होती थी। रन्तिदेव मांस-सहित अन्न अतिथियों और भूखों को खिलाते थे; इसी से उन्हें अक्षय कीर्ति मिली है। फिर चातुर्मास्य यज्ञ में साधारणतः नित्य पशुओं की हत्या की जाती है ॥१।१०॥

श्रुतियों में अग्नि को मांसकाम अर्थात् मांसाहारी लिखा है। ब्राह्मण लोग यज्ञों में जिन पशुओं को मारते हैं वे पशु भी मन्त्रबल से स्वर्गलोक में जाते हैं। हे ब्राह्मण! यदि यज्ञ-सम्पादक अग्निदेव

संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् ।
यदि नैवाऽग्नयो ब्रह्मन्मांसकामाऽभवन्पुरा ॥ १२ ॥
भक्ष्यं नैवाऽभवन्मांसं कस्यचिद् द्विजसत्तम ।
अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे ॥ १३ ॥
देवतानां पितॄणां च भुंक्ते दत्वाऽपि यः सदा ।
यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात् ॥ १४ ॥
अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
भार्यां गच्छन्ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः ॥ १५ ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य अत्रापि विधिरुच्यते ।
सौदासेन तदा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज ।
शापाभिभूतेन भृशमत्र किं प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥
स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुराकृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥ १७ ॥
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥ १८ ॥
पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुंचति ।

मांसप्रिय न होते तो कोई भी मांस न खाता । इस स्थल पर ऋषियों ने भी इस तरह मांस भक्षण का विधान दिया है कि जो मनुष्य श्रद्धा के साथ विधिपूर्वक देवताओं और पितरों को अर्पण करके मांस खाता है, उसे मांस खाने का पाप नहीं लगता । अधिक कहां तक कहूँ कि श्रुति का प्रमाण मानने से तो कोई उसकी गिनती भी मांसाहारियों में नहीं कर सकता । जैसे ऋतुकाल में अपनी स्त्री का सेवन करने से ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं होता वैसे ही यहां पर भी वैध-अवैध का निर्णय करके यह व्यवस्था दी गई है कि यज्ञ में या अन्य समय देवता-पितरों का अर्पण करके बचा हुआ मांस खाना पाप नहीं है । राजा सौदास ने शाप से राक्षस होकर सैकड़ों मनुष्यों को खा डाला था । इसमें आपको क्या जान पड़ता है ? आप राजा को दोषी समझते हैं या निर्दोष ? हे द्विजश्रेष्ठ ! इस कार्य को अपना धर्म समझकर मैं नहीं छोड़ता; पहले के कर्मों का फल जानकर इसी वृत्ति से अपनी जीविका चलाता हूँ । यह भी शास्त्रकारों का निश्चय है कि अपना पेशा छोड़ देने से अधर्म और उसे करते रहने से पुण्य होता है । अपने कुल में जो काम होता आया है उसे जीव नहीं छोड़ सकता । विधाता ने कर्म-निर्णय में इस प्रकार बहुत

धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥ १९ ॥
दुष्टव्या तु भवेत्प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता ।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ॥ २० ॥
कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ॥ २१ ॥
द्विजातिपूजने चाऽहं धर्मे च निरतः सदा ।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
कृषिं साध्वीति मन्यंते तत्र हिंसा परा स्मृता ।
कर्षंतो लांगलैः पुंसो घ्नंति भूमिशयान्बहून् ॥ २३ ॥
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति मे ।
धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ॥ २४ ॥
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति मे ।
अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नंति वै भक्षयंति च ॥ २५ ॥
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिंदंति पुरुषा द्विज ।
जीवा हि बहवो ब्रह्मन्वृक्षेषु च फलेषु च ॥ २६ ॥
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति मे ।

सी विधियां बतलाई हैं। किन्तु जिसके कुल का काम क्रूर है उसे यह सोचना चाहिए कि कौन सा कर्म करने से मेरा भला होगा और मैं इस निन्दित काम से छुटकारा पाऊँगा ॥१९।२०॥

इस प्रकार इस क्रूर हिंसा कर्म के बारे में अनेक निर्णय किये जा सकते हैं। ब्रह्मन्! मैं क्रूर कर्म करने पर भी अभिमान और अतिवाद (गाली आदि कुवचन) से बचकर सदा दान, सत्य वचन, गुरुजन की सेवा और धर्म में लगा रहता हूँ। देखिए, कुछ लोग खेती को अच्छा (श्रेष्ठ) काम समझते हैं। किन्तु उसमें बड़ी भारी हिंसा होती है। खेतों की जुताई के समय पृथ्वी में रहनेवाले असंख्य प्राणी मर जाते हैं। इस बारे में आपकी क्या राय है? धान आदि अन्न के जितने बीज हैं उन सबमें जीव हैं। इस बारे में आप क्या समझते हैं? लोग पशुओं पर आक्रमण करके उन्हें मारते और खाते हैं [इसे शिकार कहते हैं]। वृक्षों और अन्न आदि के पौधों को काटते हैं। वृक्षों में, फलों में और जल में असंख्य जीव रहते हैं। उनकी जो हत्या होती है, उसके बारे में आपका क्या कहना है? इस जगत् में ऐसे जीव भरे पड़े हैं, जो जीवों को खाकर ही जीवित हैं। इस बारे में आप क्या समझते हैं?

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन्प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ॥ २७ ॥
मत्स्यान्ग्रसंते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति मे।
सत्त्वैः सत्त्वानि जीवंति बहुधा द्विजसत्तम ॥ २८ ॥
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति मे।
चंक्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान्बहून् ॥ २९ ॥
पद्भ्यां घ्नंति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति मे।
उपविष्टाः शयानाश्च घ्नंति जीवाननेकशः ॥ ३० ॥
ज्ञानविज्ञानवंतश्च तत्र किं प्रतिभाति मे ।
जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ॥ ३१ ॥
अविज्ञानाच्च हिंसंति तत्र किं प्रतिभाति मे ।
अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ॥ ३२ ॥
केन हिंसंति जीवान्वै लोकेऽस्मिन्द्विजसत्तम ।
बहु संचिंत्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ ३३ ॥
अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वंत्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ॥ ३४ ॥
आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जंति वै न च ॥ ३५ ॥

मछलियाँ को मछलियां खा जाती है । बहुधा देखा जाता है कि प्राणयों को खाकर प्राणी जीते हैं । जगत् के सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को खाने के लिए तैयार रहते हैं । इस बारे में आपको क्या जान पड़ता है ? हे ब्राह्मण! मनुष्य जब चलते-फिरते हैं तब उनके पावों के नीचे दबकर भी करोड़ों जीव मर जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता विज्ञ पुरुष भी सोते और जागते में बहुत से जीवों की हत्या कर डालते हैं ॥२१।३०॥

पृथ्वी और आकाश में असंख्य जीव भरे पड़े है। ऐसी दशा में अज्ञान से भी असंख्य प्राणियों के नाश की सम्भावना है । इस बारे में आप क्या समझते हैं ? हिंसा से ऊबकर प्राचीन लोग अहिंसा की प्रशंसा कर गये हैं । किन्तु आप ही बताइए, इस संसार में हिंसा से कौन बचा हुआ है ? विशेष रूप से विचार करने पर देख पड़ता है कि हिंसा न करनेवाला मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ है । अहिंसा व्रत धारण करनेवाले योगी यति भी हिंसा करते हैं । परन्तु हाँ, वे सदा सावधान रहते हैं इस कारण अधिक हिंसा-दोष के भागी नहीं होते । अच्छे कुल

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ।
सम्यक्प्रवृत्तान्पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः ॥ ३६ ॥
समृद्धैश्च न नन्दन्ति बांधवा बांधवैरपि ।
गुरूंश्चैव विनिंदंति मूढाः पंडितमानिनः ॥ ३७ ॥
बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥
वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु ।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेअष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः२०८

में उत्पन्न महागुणी पुरुष बुरे से बुरे काम करके भी लज्जित नहीं होते। जैसे मित्र का मित्र और वैरी का वैरी अभिनन्दन करते नहीं देखे जाते, अपने समृद्धिशाली भाई बन्धु से दरिद्र जाति-भाई कुढ़ते रहते हैं, वैसे ही अच्छी तरह अपने काम में लगे हुए लोग उसी तरह अपने कामों में अच्छी तरह लगे हुए लोगों को अच्छी दृष्टि से देखते नहीं देखे जाते। अपने को पण्डित मानकर अभिमान करनेवाले लोग बड़े-बूढ़े गुरुजन की भी निन्दा करते देखे जाते हैं। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! जगत् में इस प्रकार अनेक उलटी बातें होने के कारण धर्म और अधर्म के बारे में भी गड़बड़ देख पड़ती है। इसके बारे में आपकी क्या राय है? धर्म और अधर्म के कामों के बारे में और भी कई तरह की बातें कही जा सकती हैं। किन्तु मेरा मत यह है कि जो अपने कुलोचित काम के करने में लगा हुआ है वह श्रेष्ठ यश का भागी होता है ३१।३९॥

—०—

वनपर्व का दो सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०८॥

अथ नवधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०९॥

मार्कंडेय उवाच—धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥
व्याध उवाच—श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम् ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनंतिका ॥ २ ॥

दो सौ नौ अध्याय ॥ २०९ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! धर्मात्मा पुरुषों में श्रेष्ठ धर्मव्याध फिर उस ब्राह्मण से कहने लगा—हे कौशिक! बड़े-बूढ़ों ने धर्म के बारे में श्रुति को प्रमाण माना है। धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है

प्राणांतिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवाऽनृतं भवेत् ॥ ३ ॥
यद्भूतहितमत्यंतं तत्सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतो धर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥
यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम ।
अवश्यं तत्समाप्नोति पुरुषो नाऽत्र संशयः ॥ ५ ॥
विषमां च दशां प्राप्तो देवान्गर्हति वै भृशम् ।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपंडितः ॥ ६ ॥
मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम ।
सुखदुःखविपर्यासान्सदा समुपपद्यते ॥ ७ ॥
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम् ।
यो यमिच्छेद्यथाकामं तं तं कामं स आप्नुयात् ॥ ८ ॥
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम् ।
संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमंतश्च मानवाः ॥ ९ ॥
दृश्यंते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ।
भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥ १० ॥

और उसकी अनन्त शाखाएं हैं। प्राण-सङ्कट और विवाह के समय असत्य बोलने से पाप नहीं होता। ऐसी जगह पर सत्य बोलने से असत्य का पाप लगता और असत्य बोलने से सत्य का पुण्य होता है। तात्पर्य यह है कि जिससे सर्वसाधारण का भला और उपकार हो वही सत्य है। देखिए, धर्म की कैसी सूक्ष्म गति है! अधर्म भी कहीं पर धर्म गिना जाता है। हे द्विज! मनुष्य शुभ या अशुभ, चाहे जो काम करे उसका फल उसे अवश्य मिलता है। किन्तु मूर्ख लोग किसी अनिष्ट फल के आ पड़ने पर देवताओं की निन्दा करने लगते हैं; यह नहीं सोचते कि उन्हीं के कर्मों का दोष है। मूढ़, कपटी और चञ्चल पुरुष अपने को दोष न देकर देवताओं को ही दोषी ठहराते हैं। मनुष्य जब सुख-दुःख के फेर में पड़ जाता है तब समझदारी, गुरु की दी हुई शिक्षा या पौरुष, कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता; सब निष्काम हो जाता है। यदि पौरुष का कर्म-फल स्वाधीन होता तो प्रत्येक पुरुष अपने पौरुष से जैसा चाहता वैसा ही कर लेता। यही कारण है कि पूर्वकृत कर्म के अनुसार इस जन्म में संयमी, निपुण, बुद्धिमान् और विकारहीन पुरुषों को भी विपरीत फल प्राप्त होता है; उनके इस जन्म के शुभ कर्म निष्फल से प्रतीत

वंचनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा ।
अचेष्टमपि चाऽऽसीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ॥ ११ ॥
कश्चित्कर्माणि कुर्वन्हि न प्राप्यमधिगच्छति ।
देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥ १२ ॥
दशमासधृता गर्भे जायंते कुलपांसनाः ।
अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ॥ १३ ॥
विपुलैरभिजायंते लब्धास्तैरेव मंगलैः ।
कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ १४ ॥
व्याधयो विनिवार्यंते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ।
ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः संभृतौषधैः ॥ १५ ॥
व्याधयो विनिवार्यंते मृगा व्याधैरिव द्विज ।
येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ॥ १६ ॥
न शक्नुवंति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर ।
अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यंति बहवो जनाः ॥ १७ ॥
दुःखेन चाधिगच्छंति भोजनं द्विजसत्तम ।
इति लोकमनाक्रंदं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥ १८ ॥

होते हैं । ऐसे ही जो लोग सदा हिंसा करते हैं, लोगों को ठगते हैं, वे सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं ॥१।१०॥

कोई पुरुष किसी प्रकार की चेष्टा न करने पर भी बैठे-बैठे लक्ष्मी पा जाता है, और कोई मनुष्य बड़े-बड़े कष्ट उठाकर भी जिसके लिए यत्न करता है उसे नहीं पाता । कितने ही मनुष्य पुत्र की इच्छा से देवताओं की आराधना और तपस्या करते हैं, माता दस महीने तक गर्भ धारण का कष्ट उठाती है, पर पुत्र जो होता है वह कुल के लिए कलङ्कस्वरूप होता है । और कितने ही पुत्र वैसे ही माङ्गलिक अनुष्ठानों के करने से उत्पन्न होकर पिता के एकत्र किये हुए धन को सहज ही पाते हैं और अनेक सुख भोगते हैं । मनुष्यों के शरीर में जो रोग होते हैं उनका भी कारण कर्म ही है । अजगर जैसे छोटे मृगों को लील लेता है, वैसे ही मनुष्यों को रोग सताते हैं । किन्तु व्याध जैसे मृगों को मारता है, वैसे ही चतुर और श्रेष्ठ औषधियों के जाननेवाले अनुभवी वैद्य रोगों को नष्ट कर देते हैं । कोई अच्छा हो जाता है और कोई मर जाता है । देखिए, बहुतों के पास तरह-तरह के भोजन करने का ठिकाना है, पर उन्हें संग्रहणी का रोग सताये हुए है । पूर्वकर्म के कारण वे खा-पी

स्रोतसाऽसकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ।
न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सर्वकामिकाः ॥ १९ ॥
नाऽप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् ।
उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गंतुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्तते तथा ॥ २० ॥
बहवः संप्रदृश्यंते तुल्यनक्षत्रमंगलाः ।
महत्तु फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ॥ २१ ॥
न केचिदीशते ब्रह्मन्स्वयंग्राह्यस्य सत्तम ।
कर्मणा प्राकृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥ २२ ॥
यथा श्रुतिरियं ब्रह्मञ्जीवः किल सनातनः ।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ २३ ॥
वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत ।
जीवः संक्रमतेऽन्यत्र कर्मबंधनिबंधनः ॥ २४ ॥
ब्राह्मण उवाच—कथं कर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः ।

नहीं सकते। बहुत से लोग ऐसे हैं कि उनमें बाहुबल तो यथेष्ट है, पर वे क्लेश पाते हैं;बड़ी कठिनता से उन्हें पेट भर खाने को मिलता है। हे ब्राह्मण! इस प्रकार शरीर की शङ्का से व्याकुल मनुष्य असहाय और विवश होकर प्रबल कर्म-प्रवाह में बहे-बहे फिरते हैं। वह कभी सुख की ओर पहुँचा देता है और कभी घसीटकर दुःख में डाल देता है। यदि मनुष्य स्वाधीन होता, दैव अर्थात् पहले के किये कर्मों के अधीन न होता, तो कोई मरता ही नहीं; किसी को बुढ़ापा आकर जीर्ण ही न करता, किसी को कुछ अप्रिय देखना ही न पड़ता; सब लोग अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण कर लेते। सभी लोग सबसे बढ़ जाने की इच्छा करते हैं और उसके लिए यथाशक्ति उपाय भी करते हैं, किन्तु प्रायः उसका फल वैसा होते नहीं देखा जाता ॥१९।२०॥

एक ही नक्षत्र में बहुतों का जन्म होता है; बहुत लोग अपने इष्ट की सिद्धि के लिए एक ही मङ्गलकार्य का अनुष्ठान करते हैं, किन्तु उनके कार्य की सिद्धि में बड़ा अन्तर देख पड़ता है; किसी का कार्य सिद्ध होता है और किसी का नहीं। जिसे हम अपने हाथ की बात समझते हैं उसे भी प्रायः नहीं कर सकते; इसका कारण पूर्वकृत कर्मों के सिवा और क्या हो सकता है? बिना यत्न के भी अनेक कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते देखे जाते हैं। ब्रह्मन्! श्रुति में कहा गया है कि सब प्राणियों का शरीर अनित्य है, जीव ही नित्य है। इसी कारण शरीर का वध करने पर वह नष्ट हो जाता है; किन्तु जीव कर्म-बन्धन में बँधकर कर्मफल भोगने के लिए दूसरे शरीर

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ॥ २५ ॥

व्याध उवाच—न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतीति मूढाः ।
जीवस्तु देहांतरितः प्रयाति दशार्धतैवाऽस्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥
अन्यो हि नाऽश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् ।
यत्तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥
सुपुण्यशीला हि भवंति पुण्या नराधमाः पापकृतो भवंति ।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वैस्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच—कथं संभवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः ।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥

व्याध उवाच—गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं संप्रदृश्यते ।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥
यथासंभृतसंभारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत्पापयोनिषु ॥ ३१ ॥

में जाता है ॥२१।२४॥

कौशिक ने कहा—हे धर्मज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ ! मैं जानना चाहता हूँ कि जीव क्यों नित्य है । विस्तार के साथ मुझे समझाओ । व्याध ने कहा—हे ब्रह्मन् ! देह का नाश होने पर जीव का नाश नहीं होता । मूढ़ लोग 'मर गया' यह मिथ्या वचन कहते हैं । जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जाता है, यही उसका मरना है । किये हुए कर्म के फल को मनुष्य-लोक में कर्ता के सिवा और कोई नहीं भोगता । कर्म का नाश नहीं होता । इसलिए एक देह से जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे शरीर से अवश्य भोगना पड़ता है । जीव के कर्म उसके साथ-साथ रहते हैं । उन्हीं के कारण उसे फिर जन्म लेना पड़ता है । पुण्य कर्म करनेवाले यशस्वी और श्रेष्ठ होते हैं, पाप कर्म करनेवाले नीच नराधम होते हैं ॥२५।२८॥

ब्राह्मण ने पूछा—हे श्रेष्ठ पुरुष ! यह जीव पुण्ययोनि और पापयोनि में कैसे जाता है ? अच्छी और बुरी जातियों में कैसे उत्पन्न होता है ? व्याध ने कहा—द्विजवर ! पिण्डोत्पत्ति प्रकरण के ग्रन्थों में जन्म के सम्बन्ध की सब बातें विशेष रूप से कही गई हैं । मैं संक्षेप में गर्भाधान के सम्बन्ध की बातें तुमसे कहता हूँ । [यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि] संस्कार-रूपी पूर्वजन्म के कर्म-फल ही जन्म का कारण हैं । जीव उन कर्म-बीजों को साथ लेकर जन्म लेता है । पुण्य कर्म करनेवाला अच्छी योनि में और पाप कर्म करनेवाला ओछी योनि में उत्पन्न होता है । शुभ कर्म करने से देवयोनि प्राप्त होती है । शुभ और अशुभ दोनों कर्म करने से मनुष्ययोनि प्राप्त होती है । केवल तमोगुणी कर्म करने से पशु-

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ॥ ३२ ॥
जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संचरे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः संपरिवर्तंते कर्मबंधनिबंधनाः ॥ ३४ ॥
जंतुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ ३५ ॥
ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वाऽपथ्यमिवाऽऽतुरः ॥ ३६ ॥
अजस्रमेव दुःखार्तो दुःखितः सुखसंज्ञकः ।
ततो निवृत्तबंधत्वात्कर्मणामुदयादपि ॥ ३७ ॥
परिक्रामति संसारे चक्रवद्बहुवेदनः ।
स चेन्निवृत्तबंधस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥ ३८ ॥
तपोयोगसमारंभं कुरुते द्विजसत्तम ।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ॥ ३९ ॥

पक्षी आदि की निकृष्ट योनि मिलती है। घोर पाप करने से कीड़े आदि की नारकी योनि प्राप्त होती है। मनुष्य अपने किये कर्मों के प्रभाव से ही जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे आदि के दुःखों से पीड़ित होता हुआ बारम्बार संसार में आने-जाने का शोक सन्ताप भोगता है। कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीव हज़ारों तिर्यक योनियों में जाते हैं, नरकों की यातना सहते हैं, और इसी तरह संसार-चक्र में चक्कर लगाते रहते हैं ॥२९।३४॥

जीव एक देह छूटने पर अपने कर्मों के कारण यातनाएँ सहता है, और कर्मफलरूपी दुःख भोगने के लिए निकृष्ट योनि में जन्म लेता है। फिर जन्म पाकर और बहुत से नये कर्म करता है। रोगी कुपथ्य खाकर जैसे अपनी पीड़ा को और भी बढ़ा लेता है वैसे ही वह उन कर्मों के कारण अपनी यातनाओं का सिलसिला बढ़ाता जाता है। [संसार में दुःख से पीड़ित लोगों की ही संख्या अधिक है। [जो लोग सुखी समझे जाते हैं वे भी वास्तव में दुःखी ही हैं। [इस प्रकार कर्मों का सिलसिला जारी रहने के कारण जीव अनेक क्लेशों को भोगता रहता है।] कर्मों का उदय बराबर होता है और उनकी निवृत्ति नहीं होती [क्योंकि वासनाओं का

स चेन्निवृत्तबंधस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान्यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४० ॥
पापं कुर्वन्पापवृत्तः पापस्यांऽतं न गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं यतेत्कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ॥ ४१ ॥
अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ॥ ४२ ॥
संस्कृतस्य च दांतस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्याऽनंतरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४३ ॥
सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४४ ॥
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ।
संति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ॥ ४५ ॥
प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।

नाश नहीं होता]। रथ का पहिया जैसे बराबर नीचे-ऊपर फिरा करता है, वैसे ही जीव भी ऊंच- और नीच अनेक योनियों में घूमता और आवागमन के कष्ट भोगता रहता है । हे द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्य यदि विषय-वासना छोड़कर सत्कर्मों की पवित्रता प्राप्त करता है, तप और योग-साधन करने लगता है, तो उन विविध शुभ कर्मों के द्वारा पवित्र लोकों में जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य विषय-वासना छोड़कर विशुद्ध कर्मों के द्वारा संसार-बन्धन (जन्म-मरण के फेर) से अपने को छुड़ा लेता है तो फिर उन पवित्र लोकों को जाता है जहां उसे शोक नहीं करना पड़ता ॥३५।४०॥

हे ब्राह्मण ! पापी पुरुष बराबर पाप करता रहता है, इसी से उसके पापों का अन्त नहीं होता। इस कारण मनुष्य को सदा पाप कर्म से बचकर पुण्य कर्म करने की चेष्टा करनी चाहिए। जो मनुष्य ईर्ष्या छोड़कर शुभ कर्म करता है, कृतज्ञ बना रहता है, वह धर्म-अर्थ-स्वर्ग और सुख पाता है । वह विशुद्ध-हृदय, जितेन्द्रिय, नियमों का पालन करने-वाला और ज्ञानी है ; वह इस लोक और परलोक, दोनों जगह सुख भोगता है । मनुष्य को चाहिए कि साधु जनों के धर्म का आचरण करे, शिष्ट पुरुषों के से काम करे और इस प्रकार की जीविका से अपना निर्वाह करे जिसमें किसी दूसरे को क्लेश न पहुंचे । संसार में आगम-विज्ञानवान्, शास्त्र-विशारद, निर्लिप्त, शिष्ट पुरुष अनेक हैं जो अपने धर्म के अनुसार कर्म करते हैं ॥४१।४४॥

अपने धर्म के अनुसार कार्य करने से लोक में कर्मसंकर नहीं होता । बुद्धिमान् पुरुष धर्म से ही रमते हैं । धर्म ही उनकी जीविका होती है । वे धर्म

तस्माद्धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
तस्यैव सिंचते मूलं गुणान्पश्यति यत्र वै ।
धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चाऽस्य प्रसीदति ॥ ४७ ॥
समित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नंदति ।
शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गंधानिष्टांश्च सत्तम ॥ ४८ ॥
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत्फलं विदुः ।
धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तुष्यति महाद्विज ॥ ४९ ॥
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।
प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवाऽनुरुध्यते ॥ ५० ॥
विरज्यते यथाकामं न च धर्मं विमुंचति ।
सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ॥ ५१ ॥
ततो मोक्षे प्रयतते नाऽनुपायादुपायतः ।
एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ॥ ५२ ॥
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ।
तपो निःश्रेयसं जंतोस्तस्य मूलं शमो दमः ॥ ५३ ॥
तेन सर्वानवाप्नोति कामान्यान्मनसेच्छति ।
इंद्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ॥

के द्वारा ही प्राप्त धन से उसी धर्म की जड़ को सींचते हैं; क्योंकि धर्मपालन में ही उन्हें सब गुण देख पड़ते हैं। मनुष्य इसी तरह धर्मात्मा होता है। उसका चित्त प्रसन्न होता है। वह इस लोक में मित्र-समागम से सन्तुष्ट रहकर परलोक में परमानन्द पाता है। उसे शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध आदि इष्ट पदार्थ और प्रभुत्व (सङ्कल्प-सिद्धि) प्राप्त होता है। यह सब धर्म का फल कहा गया है। ज्ञान-दृष्टिवाला पुरुष इन धर्म-फलों को पाकर भी उनसे सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि उन शब्द आदि विषयों में प्रीति न रखकर वैराग्य का ही आश्रय लेता है। वह कभी राग और द्वेष आदि के वश में नहीं होता। वह अपनी इच्छा से विषय-सुखों को छोड़ देता है; परन्तु धर्म को नहीं छोड़ता ॥४५।५०॥

वह इस संसार को नश्वर जानकर कर्म-फल की वासना को छोड़ने का यत्न करता है। वह केवल दैव के भरोसे न रहकर शास्त्रोक्त उपाय से मोक्ष पाने का यत्न करता है। प्रज्ञासम्पन्न पुरुष इस प्रकार वैराग्य का सहारा लेकर, पाप कर्मों को छोड़ देता है, और धर्मनिष्ठ होकर अन्त को कर्मबन्धन से 'मुक्ति' पा

ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत्परं द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥
ब्राह्मण उवाच—इंद्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५५ ॥
कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ॥ ५६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः२०९

जाता है। हे द्विजसत्तम ! मेरे इस कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञान ही एक ऐसा साधन है कि जिससे जीव को मुक्ति मिल सकती है। उस ज्ञान की जड़ शम और दम है। मनुष्य मन में जो इच्छाएँ करता है, वे सब उसे उस ज्ञान के प्रभाव से मिल जाती हैं। ब्रह्मन् ! इन्द्रिय-निरोध, सत्य और दम, इन तीन उपायों से परमपद, जिसे ब्रह्मपद कहते हैं, मिलता है। कौशिक ने पूछा—हे धर्मव्याध ! इन्द्रिय क्या हैं ? उनका निग्रह क्यों और कैसे करना चाहिए ? इंन्द्रिय-निग्रह का फल क्या है ? इन बातों का तत्त्व मैं जानना चाहता हूँ ॥५१।५६॥

—०—

वनपर्व का दो सौ नौ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०९॥

अथ दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१०॥

मार्कंडेय उवाच—एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥
व्याध उवाच—विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ २ ॥
ततस्तदर्थं यतते कर्म चाऽऽरभते महत् ।
इष्टानां रूपगंधानामभ्यासं च निषेवते ॥ ३ ॥
ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनंतरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनंतरम् ॥ ४ ॥

दो सौ दस अध्याय ॥२१०॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर ! कौशिक के यों पूछने पर धर्मव्याध ने जो उत्तर दिया, सो सुनो। व्याध ने कहा—हे ब्राह्मण ! मनुष्य का मन पहले रूप-रस आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है। फिर यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह काम या क्रोध को भजता है। इसके पश्चात् उन विषयों को पाने के लिए यत्न करता है, बड़े-बड़े कार्यों का आरम्भ कर देता है और अपने

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥ ५ ॥
व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ६ ॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पंडितैश्च द्विजोत्तम ॥ ७ ॥
उत्तरं श्रुतिसंबद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।
अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ॥ ८ ॥
पापं चिंतयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याऽधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यंति साधवः ॥ ९ ॥
एकशीलैश्च मित्रत्वं भजंते पापकर्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ १० ॥
पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान्प्रज्ञया दोषान्पूर्वमेवाऽनुपश्यति ॥ ११ ॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाऽप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारंभाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ १२ ॥

इष्ट रूप-गन्ध आदि विषयों का बारम्बार सेवन करता है। फिर क्रम से राग, द्वेष, लोभ और मोह की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार लोभ से अभिभूत और राग-द्वेष से प्रभावित होने पर मनुष्य की धर्मबुद्धि का लोप हो जाता और वह पाखण्ड करने लगता है ॥१-५॥

तब वह पाखण्ड (कपटधर्म) करता हुआ कपट-कृत्य-पूर्वक धन प्राप्त करने की इच्छा करता है। इस तरह कपट-व्यवहार के द्वारा धन प्राप्त हो जाने पर बुद्धि उसी में लग जाती है और उसकी पाप-प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। उस समय मित्रों और पण्डितों के मना करने पर भी वह वेदानुकूल सदृश जान पड़नेवाले, किन्तु वास्तव में वेद-विरुद्ध, उत्तर देता है। तब राग-द्वेष से तीन प्रकार का अधर्म उत्पन्न होता है; अर्थात् वह मन से पाप का विचार करता है, वाणी से पाप-भाषण करता है और शरीर से पाप-कर्म करता है। इस कारण उसके सब अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं। वह पापात्मा अपने समान चरित्रवाले लोगों के साथ मित्रता करके इस लोक में दुःख पाता है और परलोक के लिए विपत्ति कमाता है। हे ब्राह्मण ! लोग इस प्रकार के आचरण से ही पापी होते हैं। अब जिस तरह लोग धर्म प्राप्त करते हैं, सो सुनो। जो व्यक्ति सुख

ब्राह्मण उवाच—ब्रवीषि सूनृतं धर्म्मं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १३ ॥
व्याध उवाच—ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १४ ॥
यत्तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ॥ १५ ॥
इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नाऽतः परतरं भवेत् ॥ १६ ॥
महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च तद्गुणाः ॥ १७ ॥
तेषामपि गुणाः सर्वे गुणावृत्तिः परस्परम् ।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ॥ १८ ॥
षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते ।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥ १९ ॥
इंद्रियाणि च पंचात्मा रजः सत्वं तमस्तथा ।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ २० ॥

और दुःख के यथार्थ निर्णय में निपुण होकर अपनी प्रज्ञाबुद्धि के प्रभाव से पहले से ही ऊपर कहे हुए दोषों को देखकर साधुसेवा करता है, उसी की बुद्धि सत्कार्यों के अनुष्ठान से धर्म में लगी रहती है ॥६।१२॥

ब्राह्मण ने कहा—इस संसार में सत्यधर्म के वक्ता कहीं नहीं देख पड़ते। तुम उसी का वर्णन कर रहे हो, इसलिए मुझे तुम दिव्य-प्रभाव-सम्पन्न कोई महर्षि जान पड़ते हो। व्याध ने कहा—इस लोक में ब्राह्मण ही महाभाग्यवान् और अग्रभोजी (सबसे पहले भोजन और आदर-सत्कार पाने के अधिकारी) पितर हैं; बुद्धिमान् पुरुष को सदा सब तरह उनका प्रिय करना चाहिए। हे द्विजश्रेष्ठ! अब मैं बतलाता हूँ कि किस तरह ब्राह्मण का प्रिय करना चाहिए। आप ब्राह्मणों को प्रणाम करके मुझसे वह ब्रह्मविद्या सुनिए। यह विश्व और सब चराचर जगत् पञ्चमहाभूतमय है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो पञ्चमहाभूतों से न बना हो। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पञ्चमहाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पांच उनके गुण हैं। इन सबके भी अलग-अलग गुण और परस्पर गुणों की वृत्तियां हैं। पूर्व-पूर्व गुण-परम्परा क्रमानुसार ईश्वर,

सर्वैरिहेंद्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः २१०

विराट् और हिरण्यगर्भ, इन तीन गुणियों अर्थात् गुण-धारियों में संक्रामित होती है। इनमें छठा गुण जो चेतना है उसे मन कहते हैं। सातवें गुण को बुद्धि कहते हैं। आठवां अहङ्कार है। ये, और पांच इन्द्रिय आत्मा, सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन सत्रह के समूह को अव्यक्त अर्थात् माया कहते हैं। ये सत्रह, और इन्द्रियों से ग्रहण किये जानेवाले शब्द आदि पांच विषय, भोग्य और भोक्ता, सब मिलाकर चौबीस गुण हैं। इनमें कुछ तो इन्द्रियग्राह्य होने से प्रकट हैं और कुछ तक इन्द्रियों की पहुँच न होने से वे अप्रकट हैं। ब्रह्मन्! यह मैंने तुमसे कह दिया; अब और क्या सुनना चाहते हो ॥१३।२१॥

वनपर्व का दो सौ दश अध्याय समाप्त हुआ ॥२१०॥

अथ एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२११॥

मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत ।
कथामकथयद्भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ॥ १ ॥
ब्राह्मण उवाच—महाभूतानि यान्याहुः पंच धर्मभृतां वर ।
एकैकस्य गुणान्सम्यक्पंचानामपि मे वद ॥ २ ॥
व्याध उवाच—भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च ।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥
भूमिः पंचगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम् ।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाऽऽकाशवातयोः ॥ ४ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः ।

दो सौ ग्यारह अध्याय ॥ २११ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर! धर्मव्याध के यों पूछने पर ब्राह्मण ने फिर हृदय को आनन्द देनेवाला प्रश्न किया। ब्राह्मण ने कहा—हे धार्मिकश्रेष्ठ! जो पांच महाभूत कहलाते हैं, उनमें से प्रत्येक के गुण मुझे अलग-अलग समझाइए॥१।२॥ व्याध ने कहा—पृथ्वी, जल, तेज, आकाश और वायु, ये सब तत्त्व उत्तरोत्तर महागुणयुक्त हैं। इनके गुणों का वर्णन सुनो। पृथ्वी में पाँचों गुण, जल में चार गुण, तेज में तीन गुण, और वायु में दो गुण हैं। आकाश में एक गुण है। पृथ्वी में

एते गुणाः पंच भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥ ५ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम ।
अपामेते गुणा ब्रह्मन्कीर्तितास्तव सुव्रत ॥ ६ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।
शब्द स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाऽऽकाश एव तु ॥ ७ ॥
एते पंचदश ब्रह्मन्गुणा भूतेषु पंचसु ।
वर्तंते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥
अन्योन्यं नाऽतिवर्तंते सम्यक्च भवति द्विज ।
यदा तु विषमं भावमाचरंति चराचराः ॥ ९ ॥
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ।
आनुपूर्व्या विनश्यंति जायंते चाऽनुपूर्वशः ॥ १० ॥
तत्र तत्र हि दृश्यंते धातवः पांचभौतिकाः ।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥ ११ ॥
इंद्रियैः सृज्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिंगग्राह्यमतींद्रियम् ॥ १२ ॥
यथास्वं ग्राहकान्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इंद्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ॥ १३ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार ही गुण हैं। तेज में शब्द, स्पर्श, और रूप, ये तीन ही गुण हैं। वायु में शब्द और स्पर्श, ये दो ही गुण हैं। आकाश में केवल शब्द गुण है ॥३।७॥

हे द्विजवर! पञ्चमहाभूतों के ये पन्द्रह गुण सभी भूतों में वर्तमान हैं। इन्हीं में सब लोक स्थित हैं। ये (भूत) परस्पर अविच्छिन्न अर्थात् मिले हुए हैं। ये जब परस्पर विषम भाव को प्राप्त होते हैं तब काल-प्रेरित जीव एक शरीर छोड़कर अन्य शरीर को प्राप्त होता है। ये गुण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं उसी के उलटे क्रम से नष्ट होते हैं अर्थात् जो जिससे प्रकट हुआ है वह उसी में लीन हो जाता है। यह चराचर जगत् जिन पदार्थों से आवृत है उन सबमें पान्चभौतिक धातुएँ देख पड़ती हैं ॥८।११॥

हे ब्राह्मण! इन्द्रियां जिसको ग्रहण कर सकती हैं वह व्यक्त है; और, जो अनुमान और इन्द्रियों से परे है वही अव्यक्त है। देहधारी पुरुष जब इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर, अर्थात् विषय-वासना

लोके विततमात्मानं लोकं चाऽऽत्मनि पश्यति ।
परापरज्ञः सक्तः सन्स तु भूतानि पश्यति ॥ १४ ॥
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाऽशुभेनोपपद्यते ॥ १५ ॥
ज्ञानमूलात्मकं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् ।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ॥ १६ ॥
अनादिनिधनं जंतुमात्मयोनिं सदाऽव्ययम् ।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान् ॥ १७ ॥
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्राऽनुपृच्छसि ।
इंद्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नाऽन्यथा ॥ १८ ॥
इंद्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १९ ॥
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिंद्रियधारणम् ।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ २० ॥
इंद्रियाणां प्रसंगेन दोषमार्च्छेत्यसंशयम् ।

को प्रबल न होने देकर, आत्मतत्त्व की छानबीन करने लगता है तब वह सबमें अपने को व्याप्त और अपने में सबको स्थित देख पाता है। परापरज्ञ जीव प्रारब्ध कर्मों से बंधा रहने पर जीवन भर आत्मा की सोपाधि अवस्था का ही [समाधि में] अनुभव करता है। और, उपाधिशून्य होने पर, सब अवस्थाओं में सब प्राणियों में सदा अपने को व्याप्त देखनेवाला पुरुष, ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करके, कभी अनिष्ट संयोग से क्लेश नहीं पाता। बुद्धिमार्ग प्रकाशक आत्मज्ञान के प्रभाव से उन क्लेशों का, जो पूर्वोक्त माया से उत्पन्न हैं, मिटा सकने पर पुरुष परमपुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति पा सकता है। विशुद्ध बुद्धि युक्त होकर जो पुरुष ऐसी मुक्ति पा चुका है वही, भगवान् प्रजापति के कथनानुसार, आत्मयोनि है। वह फिर आदि और अन्त से हीन, निराकार, सुख दुःख आदि विकारों से रहित अनुपम अद्वितीय हो जाता है ॥१२।१७॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! आप जो कुछ मुझसे पूछ रहे हैं उसका मूल तप अर्थात् आत्मतत्त्व की आलोचना है। वह आत्मतत्त्व की आलोचना इन्द्रियों को वश में किये बिना हो ही नहीं सकती। इन्द्रियों के ही कारण मनुष्य स्वर्ग का भी अधिकारी होता है और नरक को भी जाता है। इन्द्रियों को वश में रखना ही स्वर्ग की सीढ़ी है और इन्द्रियों के वश हो जाना ही नरक का कारण है। इन्द्रियों का दमन ही आत्म

सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ॥ २१ ॥
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेंद्रियः ॥ २२ ॥
रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमात्मा नियंतेंद्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २३ ॥
षण्णामात्मनि युक्तानामिंद्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
यो धीरो धारयेद्रश्मीन्स स्यात्परमसारथिः ॥ २४ ॥
इंद्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥
इंद्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवांऽभसि ॥ २६ ॥
येषु विप्रतिपद्यंते षट्सु मोहात्फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विंदते ध्यानजं फलम् ॥ २७ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेएकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञान और स्वर्ग का साधन है, इसलिए वही यथार्थ योगविधि है। इन्द्रियों की चञ्चलता नरक की जड़ है ॥१८।२०॥

इन्द्रियों की अत्यन्त विषयासक्ति से ही मनुष्य रागद्वेष के वश हो जाता है। इन्द्रियों को वश में रखने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पांच इन्द्रियां और छठा मन, इस षड्-वर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करके उसे जो आत्मतत्त्व के विचार में लगाता है वह जितेन्द्रिय पुरुष पापों और उनके अनर्थों से दूर रहता है। पण्डितों का कहना है कि पुरुष का शरीर एक रथ है और इन्द्रियां घोड़े हैं। मन या आत्मा सारथी है। धीर और निपुण पुरुष ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में रखकर, रथी की तरह सावधान रहकर, परम-सुख से संसार में विचरते हैं ॥२१।२३॥

इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को आत्मज्ञान की ओर लगाकर जो धीर पुरुष उनकी 'रास' को अपने हाथ में रखता है वही श्रेष्ठ सारथी है। हे कौशिक! राह में छूटे हुए घोड़ों के समान इन्द्रियों को रोकना चाहिए। 'धैर्य' की सहायता से इन्द्रियां रोकी जा सकती हैं; धैर्य ही इन्द्रिय-निग्रह का प्रधान साधन है। इन्द्रियां यदि मनमाने ढङ्ग से विषय-मार्ग में विचरने पाती हैं तो मन भी उधर ही दौड़ा जाता है। तब बुद्धि विचलित हो उठती है और उसकी वही दशा होती है जो नदी के भीतर आंधी आने से डगमगाती हुई नाव की होती है। मन और पांचों ज्ञानेन्द्रियां जिनकी ओर स्वभावतः झुकती हैं वे विषय-सुख मोक्ष-प्राप्ति में विकट बाधक हैं।

विषय-सुख में भूले हुए पुरुषों का चित्त उधर ही खींचता है। जो लोग तत्त्वज्ञान के प्रभाव से—यथार्थ दृष्टि की शक्ति से—उन विषय-सुखों को अत्यन्त तुच्छ समझते हैं वे ही उनके दोषों को देखकर, उनसे बचकर, तत्त्वज्ञान (विवेकबुद्धि) का फल (मोक्ष) पाते हैं ॥२४।२७॥

वनपर्व का दो सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ ॥ २११॥

अथ द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१२॥

मार्कण्डेय उवाच—एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥
ब्राह्मण उवाच—सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥ २ ॥
व्याध उवाच—हंत ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान्पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥ ३ ॥
मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥
अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥ ५ ॥
प्रवृत्तवाक्यो मंत्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥ ६ ॥
प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।

दो सौ बारह अध्याय ॥ २१२ ॥

मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर! धर्मव्याध जब यों सब सूक्ष्म विषयों का वर्णन कर चुका तब कौशिक ने फिर पूछा—हे धार्मिकश्रेष्ठ! तुम सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का तत्त्व भी मुझसे कहो। व्याध ने कहा—हे भगवन्! आपने जो पूछा उसे मैं कहता हूँ। सत्वगुण आदि का अलग अलग वर्णन सुनो। इन तीनों गुणों में तमोगुण का स्वरूप मोह है, रजोगुण का रूप प्रवृत्ति है और सबमें श्रेष्ठ सत्वगुण का रूप प्रकाश (ज्ञान) है। जो लोग इन्द्रियासक्त, आलसी, अधिक सोनेवाले, और क्रोध, मोह, अविद्या तथा अज्ञान से परिपूर्ण हैं वे तमोगुणी हैं ॥१।५॥

जिनकी विषय-वासना और मन्त्रणाशक्ति अत्यन्त प्रबल है, जो ईर्ष्या-रहित, मानी, अच्छे चरित्रवाले, अच्छे वचन बोलनेवाले, और अपने को श्रेष्ठ समझनेवाले हैं, उन्हें रजोगुणी समझना चाहिए। जो अधिक जागनेवाले, धीर, जितेन्द्रिय,

अक्रोधनो नरो धीमान्दांतश्चैव स सात्विकः ॥ ७ ॥
सात्विकस्त्वथ संबुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति वोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥ ८ ॥
विरागस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहंकारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥ ९ ॥
ततोऽस्य सर्वद्वंद्वानि प्रशाम्यंति परस्परम् ।
न चाऽस्य संशयो नाम कश्चिद्भवति कश्चन ॥ १० ॥
शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन्क्षत्रियत्वं तथैव च ॥ ११ ॥
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेद्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बुद्धिमान्, सर्वत्र प्रसिद्ध, ईर्ष्या और क्रोध से रहित तथा विषयवासना की अधिकता से बचे हुए हैं, वे सत्वगुणी पुरुष है। सत्वगुणी पुरुष ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होने पर भी लोक-व्यवहार में लिप्त नहीं होता; उसे उस पर आस्था ही नहीं होती। जब वह ज्ञेय विषय को जान लेता है तब तमोगुण और रजोगुणवाले लोकव्यवहार की निन्दा करता है। उसमें विषयों से वैराग्य का लक्षण पहले से ही देख पड़ता है। वैराग्य के आरम्भ की अवस्था में ही अहङ्कार का प्रभाव धीमा पड़ जाता है और उसके साथ ही सरलता और शान्ति का आविर्भाव होता है। वह सर्वत्र संयम का उपयोग करता है। मान-अपमान का ज्ञान आदि सब द्वन्द्व भाव शान्त हो जाते हैं और संशय बुद्धि दूर हो जाती है ॥६।१०॥

हे भगवन्! शूद्र भी इन सद्गुणों से युक्त होने पर वैश्य और क्षत्रिय के भाव को प्राप्त हो सकता है। यहां तक कि सरलता की मात्रा अधिक बढ़ने पर सत्वगुणी स्वभाव का शूद्र ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है। हे कौशिक! आपने जो गुणों के बारे में पूछा था सो सब मैंने कह दिया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ॥११।१२॥

—०—

वनपर्व का दो सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१२॥

अथ त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

ब्राह्मण उवाच—पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच—प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥ २ ॥
व्याध उवाच—मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाऽग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ॥ ४ ॥
स जंतुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
महान्बुद्धिरहंकारो भूतानां विषयश्च सः ॥ ५ ॥
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ६ ॥
वस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं वाऽप्यपानः परिवर्तते ॥ ७ ॥
प्रयत्ने कर्मणि वले स एष त्रिषु वर्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ८ ॥

दो सौ तेरह अध्याय ॥ २१३ ॥

कौशिक ने पूछा—हे श्रेष्ठ पुरुष ! शरीर में रहनेवाला अग्नि पार्थिव धातुओं को पाकर कैसे देहाभिमानी होता है ? प्राण आदि वायु किन-किन विशेष स्थानों में रहते हैं ? मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर ! ब्राह्मण के यों पूछने पर उन महात्मा से व्याध ने कहा—अग्नि सिर में रहकर सारे शरीर का पालन करता है; अर्थात् नित्य प्रकाशमान विज्ञानमय आत्मा चैतन्यमय आत्मा का आश्रय लेकर शरीर में चेतना का संचार करता है । प्राण उसी चिदात्मा और विज्ञानात्मा में वर्तमान रहकर अनेक प्रकार की चेष्टा करता है । भूत, भविष्य और वर्तमान, सब उसी प्राण में स्थित है । हम लोग सब तत्त्वों में श्रेष्ठ उसी ब्रह्मज्योति-रूप प्राण की उपासना करते हैं । चैतन्य और ज्ञान से युक्त प्राण ही सब प्राणियों को चेतन बनाता है । जीवात्मा सनातन पुरुष है । वही मन, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चभूतों के शब्दादि विषय, प्रकृति और पुरुष है ॥१।५॥

जीवात्मा 'प्राण'-वायु के रूप के प्रभाव से भीतर और बाहर सर्वत्र अपनी शक्ति फैलाता है । वह प्राण 'समान'-वायु के रूप से भिन्न-भिन्न गतियों को ग्रहण करता है । वही प्राणवायु 'अपान' नाम धारण करके जठरानल का आश्रय लेकर, वस्तिमूल और मलाशय में मूत्र और मल को पहुँचा देता है । वह प्राणवायु ही प्रयत्न (काम करने की चेष्टा), कर्म (चलना-फिरना) और बल (बोझ उठाने की शक्ति); इन तीन विषयों में प्रवृत्त होता है । तब उसका नाम 'उदान' हो

संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथाऽनिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ९ ॥
धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुः समीरितः ।
रसान्धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्परिधावति ॥ १० ॥
प्राणानां संनिपातात्तु सन्निपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाऽग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ ११ ॥
समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १२ ॥
अस्यापि पायुपर्यंतस्तथा स्याद्गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायंते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥
अग्निवेगवहः प्राणो गुदांते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १४ ॥
पक्काशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
प्रवृत्ता हृदयात्सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

जाता है। वही प्राणवायु मनुष्य शरीर के प्रत्येक सन्धिस्थल में रहकर 'व्यान' नाम धारण करता है। अध्यात्म विद्या के पण्डितों ने इस प्रकार एक ही प्राण वायु को, स्थान-विशेष के अनुसार, पाच नामों से प्रसिद्ध किया है। जठरानल त्वचा आदि सब धातुओं में व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओं से सञ्चालित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं और पित्त आदि दोषों को परिवर्त्तित करता हुआ शरीर भर में दौरा किया करता है ॥९।१०॥

प्राण आदि वायुओं के एक जगह मिलने से सङ्घर्षण उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होनेवाला उत्ताप ही जठरानल कहलाता है। यही अग्नि प्राणियों की खाई हुई अन्न आदि वस्तुओं को पकाने और पचाने का काम करता है। समान और उदान वायुओं के बीच में प्राणवायु और अपानवायु की स्थिति है। इन्हीं के सङ्घर्षण से उत्पन्न होकर जठरानल शरीर को पुष्ट करता है। पायु (गुदा) तक अग्नि का स्थान अपान कहलाता है। उसी अपान से शरीर धारियों के प्राण आदि वायुओं का प्रवाह प्रकट होता है। प्राण, अग्नि के वेग को लेकर, मलद्वार के सिरे पर टकराकर फिर ऊपर को जाता है और इस प्रकार अग्नि को भड़काता रहता है। नाभि के नीचे पक्काशय (पके हुए भोजन का स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजन का स्थान)

वहंत्यन्नरसान्नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १६ ॥
योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छंति तत्परम् ।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः ।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ १७ ॥
एकादशविकारात्मा कलासंभारसंभृतः ।
मूर्तिमंतं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥
तस्मिन्यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाऽऽहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १९ ॥
देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिंदुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ २० ॥
जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ॥ २१ ॥
सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदंति प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त ॥ २२ ॥

है। शरीर में स्थित सब प्राणवायुओं का स्थान अर्थात् केन्द्र नाभि है ॥११।१५॥

नाड़ियाँ हृदय से नीचे, ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दसों प्रकार के प्राणवायु के प्रभाव से शरीर के सब भागों में अन्नरस को पहुँचाती हैं। धीर और क्लान्ति-रहित समदर्शी योगी लोग जिधर से ब्रह्म का साक्षात्कार पाते हैं और आत्मा को सहस्रार चक्र में धारण करते हैं, वह यही मार्ग है। हे ब्राह्मण! इस प्रकार प्राणवायु (ऊपर का वायु) और अपानवायु (नीचे का वायु) सब शरीरधारियों के शरीरों में व्याप्त है। आत्मा के स्थूल और सूक्ष्म दो शरीर हैं। एक शरीर प्राण आदि ग्यारह विकारों से युक्त है और दूसरा शरीर महाभूत आदि सोलह कलाओं से बना है। वह आत्मा नित्य होने पर भी कर्मों के अधीन है। थाली में अग्नि की तरह वह आत्मा उन्हीं दोनों शरीरों में स्थित है। योगबल से ही उसकी उपलब्धि होती है। हे ब्राह्मण! कमल के पत्ते पर जलबिन्दु के समान जो परमात्मा सोलह कलावाले अन्तःकरण में विराजमान हैं, वह क्षेत्रज्ञ, नित्य और योगाभ्यास से प्राप्य है ॥१६।२०॥

जीव जैसे सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का मूल और आत्मा के वश है वैसे परमात्मा आत्मा का आश्रय है। पण्डित लोग शरीरादि अचेतन पदार्थों को जीव के उपभोग का स्थान बताते हैं। उनका कहना है कि आत्मा जीव रूप में स्वयं चेष्टाएँ करता है, और वही ईश्वर रूप में सब जीवों की

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा संप्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥ २३ ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ २४ ॥
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत्कुशलदीपितः ॥ २५ ॥
पूर्वरात्रे परे चैव युंजानः सततं मनः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत्पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ २८ ॥
नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेद्धर्मं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ २९ ॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥ ३० ॥

चेष्टाओं का नियामक है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष कहते हैं कि आत्मा से ही जीव और सातों भुवनों की प्रवृत्ति (सृष्टि) होती है; वह ईश्वर से भी उन्नत है। सब प्राणियों का आत्मा, अर्थात् परमात्मा, सब प्राणियों में गूढ़ रूप से स्थित होने के कारण यद्यपि अच्छी तरह प्रकाशमान नहीं है तो भी ज्ञानी लोग सूक्ष्म विचार से उसे देख लेते हैं। जिनका आत्मा पवित्र है, वे चित्तशुद्धि के बल से सब शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करके अन्त को आत्मनिष्ठा के प्रभाव से अनायास ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२१।२४॥

जैसे तृप्त मनुष्य निश्चिन्त होकर नींद के सुख का अनुभव करता है और जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति प्रबल रूप से प्रकाशमान होती है, वैसे ही चित्तशुद्धि से सम्पन्न पुरुष प्रसन्न देख पड़ता है। जिसका चित्त विशुद्ध है और जो स्वल्प आहार करता है वह मन को सबेरे-शाम आत्माचिन्तन में लगाकर, अर्थात् समाधिस्थ होकर, अपने हृदय में ही आत्मा को देखता है। प्रज्वलित दीपक के समान मन के दीपक से निर्गुण आत्मा के दर्शन पाकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। [यही जीवन्मुक्ति है।] सब उपायों से क्रोध और लोभ को जीत लेना ही पवित्र तपस्या है। विद्वानों ने इसे संसार के पार जाने का

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत् ।
यद्भूतहितमत्यंतं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥ ३१ ॥
यस्य सर्वे समारंभा निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥
यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् ।
तं विद्याद्ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥
न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥
आकिंचन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम् ।
एतदेव परं ज्ञानं सदाऽऽत्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्धया यतव्रतः ।
अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥ ३६ ॥
तपोनित्येन दांतेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं संगेष्वसंगिना ॥ ३७ ॥
गुणागुणमनासंगमेककार्यमनंतरम् ।
एतत्तद्ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ३८ ॥

सेतु माना है। क्रोध से तप को, ईर्ष्या से धर्म को, मानापमान के अध्यवसाय से विद्या (ज्ञान) को और प्रमाद (मोह) से आत्मा को सदा बचाना चाहिए। अहिंसा ही परम धर्म है; क्षमा ही परम बल है; आत्मज्ञान ही परम ज्ञान है, सत्य ही परम पवित्र व्रत है ॥२५।३०॥

सत्य वही है जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित हो। सत्य बोलना श्रेयस्कर है। ज्ञान और कल्याण प्राप्त करने का सबसे अच्छा उपाय सत्य ही है। जो पुरुष फल की इच्छा के बन्धन से छूटकर निष्काम कर्म करता है और सब वासनाओं को त्याग देता है वही सच्चा संन्यासी और बुद्धिमान् है। वासना के वियोग को ही योग और ब्रह्मयोग कहते हैं। गुरु भी वचनों से इसे सुनाने में असमर्थ होते हैं, वे संकेतमात्र से इसका उपदेश देते हैं। हे कौशिक! इस जीवन में किसी के साथ शत्रुता न करनी चाहिए; किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए। सबसे मित्रता का भाव रखना चाहिए। सन्तोष, निष्काम भाव, अकिंचन भाव, धैर्य और आत्मज्ञान में रुचि ये श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं। दान न लेकर यतव्रत (सच्चरित्र) बनना चाहिए। वैराग्य से ही इस लोक और परलोक में शोकहीन निश्चल पद प्राप्त होता है। जिसे दुर्लभ मोक्ष-पद की इच्छा हो उसे चाहिए कि

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाऽप्युभयं नरः ।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यंतमसंगेन च गच्छति ॥ ३९ ॥
यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेत्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सदा तप के अनुष्ठान में निरत, दम-गुणावलम्बी, विशुद्ध-हृदय, ऋषि होकर सब विषयों की इच्छा छोड़ दे। जिसके निकट लौकिक गुण गुण-रूप से नहीं प्रतीत होते, जिसका प्रतिपादक जीवात्मा ही है, जिसके मिलने का उपाय आत्मज्ञान ही है, जो सङ्गरहित और अक्षय सुख का आधार है, वही ब्रह्म है। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों का त्याग कर देता है उसी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता और मुक्ति मिलती है। हे द्विजश्रेष्ठ! मैंने जिस तरह सुना था उसी के अनुसार संक्षेप में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो ॥३१।४०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१३॥

अथ चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१४॥

मार्कण्डेय उवाच—एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥
न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥
व्याध उवाच—प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुंगव ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठ भगवन्क्षिप्रं प्रविश्याऽभ्यंतरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥
मार्कण्डेय उवाच—इत्युक्तः स प्रविश्याऽथ ददर्श परमार्चितम् ।

दो सौ चौदह अध्याय ॥ २१४ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर! धर्मव्याध के मुँह से इस तरह मोक्ष-धर्म का वर्णन सुनकर कौशिक बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा-हे निष्पाप! तुमने जो कुछ कहा, वह सब ठीक है। धर्म के सम्बन्ध की ऐसी कोई बात नहीं जो तुमको न मालूम हो। व्याध ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! जिस धर्म के प्रभाव से मुझे यह सिद्धि मिली है उसे चलकर प्रत्यक्ष देख लीजिए। उठिए, घर के भीतर

सौधं हर्म्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ॥ ५ ॥
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम् ।
शयनासनसंबाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥
तत्र शुक्लांबरधरौ पितरावस्य पूजितौ ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने ॥ ७ ॥
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसाऽपतत् ।
वृद्धावूचतु —उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ८ ॥
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ।
गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः ॥ ९ ॥
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ।
न तेऽन्यद्दैवतं किंचिद्दैवतेष्वपि वर्तते ॥ १० ॥
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ।
पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ॥ ११ ॥
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनाऽऽवां च पूजया ।
मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ।
न चाऽन्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते सांप्रतं तव ॥ १२ ॥

चलकर मेरे माता-पिता को देखिए ॥१४॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—व्याध के कहने पर कौशिक उस व्याध के घर के भीतर गये। वह घर देवभवनसदृश मनोहर, स्वच्छ और सजा हुआ था। उसमें चार दालानें थीं। वहां अनेक पलँग और आसन पड़े हुए थे। चारों ओर मनोहर सुगन्ध फैली हुई थी। व्याध के पिता-माता स्वच्छ वस्त्र पहने हुए भोजन करके प्रसन्नतापूर्वक अच्छे आसन पर बैठे थे। धर्मव्याध ने उन्हें देखते ही उनके पाँवों पर सिर रख दिया ॥५।७॥

उन्होंने कहा—हे धर्मज्ञ! उठो। धर्म तुम्हारी रक्षा करे। हम तुम्हारे विशुद्ध व्यवहार से बहुत ही प्रसन्न हैं। तुम्हारी बड़ी आयु हो। तुमने इष्टगति, ज्ञान, तप और बुद्धि पाई है। हे पुत्र! तुम बड़े सपूत हो। तुम नित्य विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ हमारी पूजा और देवताओं से भी बढ़कर सम्मान करते हो। तुम्हारा अन्त करण अत्यन्त पवित्र है। तुम ब्राह्मणों के समान जितेन्द्रिय हो। तुम्हारे पितामह और प्रपितामह तुम्हें इस प्रकार श्रद्धा से माता-पिता की पूजा करते देखकर तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुम मन, वाणी और काया से हमारी सेवा करते हो; तुम्हारा यह भक्तिभाव कभी कम नहीं

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाऽप्युभयं नरः ।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यंतमसंगेन च गच्छति ॥ ३९ ॥
यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेत्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सदा तप के अनुष्ठान में निरत, दम-गुणावलम्बी, विशुद्ध-हृदय, ऋषि होकर सब विषयों की इच्छा छोड़ दे। जिसके निकट लौकिक गुण गुण-रूप से नहीं प्रतीत होते, जिसका प्रतिपादक जीवात्मा ही है, जिसके मिलने का उपाय आत्मज्ञान ही है, जो सङ्गरहित और अक्षय सुख का आधार है, वही ब्रह्म है। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों का त्याग कर देता है उसी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता और मुक्ति मिलती है। हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने जिस तरह सुना था उसी के अनुसार संक्षेप में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो ॥३९।४०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१३॥

अथ चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१४॥

मार्कण्डेय उवाच—एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥
न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥
व्याध उवाच—प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुंगव ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठ भगवन्क्षिप्रं प्रविश्याऽभ्यंतरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥
मार्कण्डेय उवाच—इत्युक्तः स प्रविश्याऽथ ददर्श परमार्चितम् ।

दो सौ चौदह अध्याय ॥ २१४ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर ! धर्मव्याध के मुँह से इस तरह मोक्ष-धर्म का वर्णन सुनकर कौशिक बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा-हे निष्पाप ! तुमने जो कुछ कहा, वह सब ठीक है। धर्म के सम्बन्ध की ऐसी कोई बात नहीं जो तुमको न मालूम हो। व्याध ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! जिस धर्म के प्रभाव से मुझे यह सिद्धि मिली है उसे चलकर प्रत्यक्ष देख लीजिए। उठिए, घर के भीतर